

रग-रग हिन्दू मेरा परिचय



सुखराम गुप्ता

रग रग हिन्दू मेरा परिचय

हिन्दू जीवन मूल्य संस्थापक, धर्म ध्वज-वाहक, हिन्दू-साम्राज्य के संस्थापक, मुगल साम्राज्य को चुनौती देने वाले वीर, धर्म के हेतु बलि चढ़े किशोर, हिन्दू वाङ्मय के स्रष्टा तथा २०वीं शताब्दी के हिन्दू-नक्षत्रों की अमर कथा है 'रग रग हिन्दू मेरा परिचय'।

तनसुखराम गुप्त

सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-११०-००६

ISBN —81-87182-63-6

प्रकाशन : सूर्य भारती प्रकाशन
२५९६, नई सड़क, दिल्ली-११०-००६

दूरभाष : ३२६६४१२

टाइपसैटिंग : डिलाइट एंटरप्राइजेज
३८०७/६, कन्हैया नगर, त्रिनगर, दिल्ली।

मुद्रक : एस. एन. प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रथम संस्करण : २५. ८. २००२

© : आत्मज श्री अरुणकुमार गुप्त

मूल्य : ७५.००

बीसवीं शताब्दी के देदीप्यमान नक्षत्र
बीसवीं शताब्दी में इस धरा पर
हिन्दू वाङ्मय की गंगोत्री का अवतरण कराने वाले
प्रातःस्मरणीय श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार के श्री चरणों में
सादर समर्पित ।

‘कल्याण’ और ‘गीता-प्रेस’ जिनके दो मानस-पुत्र १९२२ से निरन्तर
सनातन धर्म का डंका बजा रहे हैं और धर्म-ध्वजा गगन में फहरा रहे हैं ।

—तनसुखराम गुप्त

विषय-सूची

जीवन-मूल्य संस्थापक	९
(१) मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम	१८
(२) योगेश्वर श्री कृष्ण	
 धर्म-ध्वज-वाहक	 २५
(३) जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य	४५
(४) कुमारिल भट्ट	५०
(५) महर्षि दयानन्द सरस्वती	६१
(६) स्वामी विवेकानन्द	
 हिन्दू साम्राज्य के संस्थापक	 ७३
(७) सम्राट् विक्रमादित्य	७८
(८) छत्रपति शिवाजी	८७
(९) हिन्दू केसरी वीर छत्रसाल	
 मुगल साम्राज्य को चुनौती देने वाले वीर	 ९६
(१०) वीर-शिरोमणि महाराणा प्रताप	१०५
(११) शक्ति और भक्ति के उपासक गुरु गोविन्दसिंह	
 बलि चढ़े किशोर : धर्म के हेतु	 ११२
(१२) धर्मवीर हकीकतराय	
(१३) धर्म निष्ठ दो वीर बालक :	
जोरावर सिंह और फतेह सिंह	११६
 हिन्दू वाङ्मय के स्रष्टा	
(१४) आदर्श भारतीय चरित्र के प्रस्तोता महर्षि वाल्मीकि	११८
(१५) ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि महर्षि वेदव्यास	१२३
(१६) हिन्दू धर्म के व्याख्याता और पथ-प्रदर्शक	
सन्त तुलसीदास	१२७

बीसवीं शताब्दी के हिन्दू नक्षत्र

(१७) स्वातंत्र्य वीर सावरकर	:	१३२
(१८) महामना पं. मदनमोहन मालवीय	:	१४४
(१९) संघ-मंत्र के द्रष्टा :		
डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार	:	१५०
(२०) पू. माधव सदाशिव गोलवलकर 'श्री गुरु जी'	:	१६६
(२१) परिवर्तन के अग्रदूत बाला साहब देवरस	:	१८४

पुस्तक के विषय में

हिन्दू-धर्म सृष्टि का आदि धर्म है, यही सनातन धर्म है। जिस प्रकार वेद अपौरुषेय हैं, उसी प्रकार हिन्दू-धर्म अपौरुषेय है, अतः यह ईश्वरीय धर्म है। यह सर्वाधिक उदार और समन्वयशील धर्म है। यह वर्तमान जीवी धर्म है और इसमें सत्य तथा ऋत का गठबंधन है। यह प्रकृति और मनुष्य की एकात्मकता का धर्म है। बाहर जो सूर्य का प्रकाश है, वही भीतर बुद्धि का प्रकाश है। बाहर जो अन्धकार है, वही इसके भीतर का भय है। बाहर जो तृण, वीरुध और वृक्ष से ऊपर उठने की प्रक्रिया है, वही इसके भीतर की उमंग है।

हिन्दू-धर्म के आदि व्याख्याता वेद हैं। पदार्थ पहले निर्मित होगा, तभी उसकी व्याख्या होगी। जब हम वेदों को अपौरुषेय मानते हैं तो हिन्दू-धर्म स्वतः प्रकृत-धर्म हो गया। प्रकृति के साथ उत्पन्न धर्म बन गया।

प्रकृति सतत परिवर्तनशील है। इसलिए जीवन भी सतत परिवर्तनशील है, अतः हिन्दू-धर्म भी सतत-विकासमान धर्म रहा। जड़ता उसे अवरुद्ध न कर सकी; उसके प्रवाह को विचलित न कर सकी। एक ग्रन्थ प्रत्येक युग और भूमंडल के लिए सर्वदा उपयुक्त नहीं रह सकता। इसीलिए हिन्दू-धर्म में युगानुरूप स्पष्टीकरण हुए, मान्यताएँ मिलीं, सिद्धान्त स्थापित हुए। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण, उपपुराण, रामायण, महाभारत, रामचरितमानस इसी तथ्य के प्रमाण हैं।

हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर प्रारम्भ से ही आक्षेप और आघातों के प्रहार होते रहे हैं। वह चाहे राक्षस संस्कृति के हों या अधर्म प्रवृत्ति नरेशों के हों या विदेशी मतावलम्बियों के। हिन्दू धर्म ने इन आघातों को सहा, किन्तु टूटा नहीं। यह 'न दैन्यम्, न पलायनम्' पर अटल रहा। फलतः अग्नि में तपकर कुन्दन सदृश उज्ज्वलतम रूप में दीप्त होता रहा।

इसका श्रेय है हमारे महान् तपस्वियों को जिन्होंने जीवन-पर्यन्त संघर्ष करके अथवा अपना जीवन उत्सर्ग करके 'रग-रग हिन्दू मेरा परिचय' प्रमाणित किया।

एक ऐसा अवसर भी आया जब स्वयं भगवान् विष्णु को 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' के निज वचनों के निर्वाह और हिन्दू जीवन-मूल्यों के स्थापनार्थ नर रूप में राम और कृष्ण बनकर जन्म लेना पड़ा।

अनेक ऋषि-मुनि तथा मनीषियों ने हिन्दू धर्म की मान्यताओं, सिद्धांतों तथा मूल्यों को वाङ्मय रूप प्रदान कर भावी पीढ़ी के लिए धर्म का मार्ग प्रशस्त किया।

ऐसे तपस्वियों पर लगभग बीस वर्ष पूर्व 'हिन्दुत्व के प्रेरक' पुस्तक लिखने का सौभाग्य मुझे मिला था। इस पुस्तक के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। अनेक संस्करणों का प्रकाशन इस बात का प्रमाण है कि सहस्रों पाठकों ने उसे पसन्द किया था।

इस पाठक-प्रियता से प्रभावित होकर तथा हिन्दुत्व के प्रति अपना कुछ कर्तव्य मान कर 'हिन्दुत्व के प्रेरक' का संशोधित तथा परिवर्धित रूप 'रग-रग हिन्दू मेरा परिचय' नाम से प्रस्तुत कर रहा हूँ। इसमें एक ओर जहाँ अनेक अन्य तपस्वियों के व्यक्तित्व और कृतित्व

को शामिल किया है, वहाँ पुराने लेखों में यथासम्भव संशोधन और परिवर्तन भी किया है।

सम्पूर्ण पुस्तक को सात खण्डों में विभक्त किया है—(१) जीवन मूल्य संस्थापक (२) धर्म-ध्वज-वाहक (३) हिन्दू साम्राज्य के संस्थापक (४) मुगल साम्राज्य को चुनौती देने वाले वीर (५) धर्म के हेतु बलि चढ़े किशोर (६) हिन्दू वाङ्मय के स्रष्टा तथा (७) बीसवीं शताब्दी के हिन्दू नक्षत्र।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध तथा इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में बीसवीं सदी तथा सहस्राब्दि का मूल्यांकन करते हुए भारत के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध समाचार-पत्रों तथा पत्र-पत्रिकाओं ने बीसवीं सदी तथा सहस्राब्दि के नक्षत्रों पर लेख प्रकाशित किए। जहाँ तक मेरी जानकारी है किसी ने भी सर्वश्री स्वातंत्र्यवीर सावरकर, महामना मालवीय, डॉ. हेडगेवार, श्री गुरु जी तथा बालासाहब देवरस पर इस दृष्टि से एक शब्द भी नहीं लिखा। मानों बीसवीं सदी या सहस्राब्दि में इन पूज्य महापुरुषों का कोई स्थान ही नहीं है। जबकि संघ परिवार का एक सदस्य विशाल भारत का प्रधानमंत्री भी है और भारत-शासन में संघ-परिवार का वर्चस्व भी है।

दुःख तब होता है जब संघ समर्थित 'भारतीय साहित्यकार संघ' के किसी भी हिन्दी लेखक ने इस विषय पर कलम नहीं चलाई। इधर, दो वर्षों में भाजपा समर्थित सरकारों के वार्षिक हिन्दी पुरस्कारों से सम्मानित हिन्दी लेखकों तथा केन्द्र द्वारा 'पद्मश्री' तथा 'पद्मभूषण' से सम्मानित हिन्दी लेखकों ने इन हिन्दू नक्षत्रों को शताब्दी का नक्षत्र मानने की कल्पना तक नहीं की।

इससे भी अधिक पीड़ा तब होती है जब एक तपस्वी, दूसरे महान् तपस्वी के त्याग और बलिदान को इतिहास के पृष्ठों से मिटाने की चेष्टा करता है। प्रमाण रूप में प्रस्तुत है भाई परमानन्द लिखित 'काले पानी की कारावास कहानी आप बीती' पुस्तक। इस पुस्तक में स्वातंत्र्य वीर सावरकर का नाम अन्य कैदियों के साथ 'सावरकर बंधु' (पृष्ठ ९५) गिनवाया गया है। सावरकर जी के अंडमान में रहते हिन्दू तथा हिन्दी संघर्ष को न केवल नकारा गया है, अपितु इन दोनों भाइयों का पूरा नाम लिखना भी उचित नहीं समझा।

जीवनी लेखन को प्रामाणिक रूप देने के लिए मैंने अनेक ग्रंथों से उद्धरण लिए हैं। मैं इन सबका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। मेरी चेष्टा रही है कि उद्धरणों के लेख, लेखक तथा पुस्तक का नाम तथा पृष्ठ संख्या दे दूँ। यदि प्रमादवश, भूलवश या निज अज्ञानवश किसी उद्धरण का संक्षिप्त परिचय रह गया हो तो उनके लेखकों से क्षमा चाहूँगा।

७५वाँ जन्म-दिवस (२५.८.२००२)

—तनसुखराम गुप्ता

३१-ए, न्यू गुप्ता कॉलोनी

दिल्ली-१००-००९

(१) मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम

‘रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतम्,
श्यामांगं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम्।
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैश्चात्रादिभिर्भावितम्,
वन्दे विष्णुशिवादिव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम्॥’^१

भगवान् विष्णु के अवतारों में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम का स्थान अत्यन्त उच्च है। भारत का प्रत्येक नर-नारी, चाहे वह किसी भी मत का अनुयायी हो, आस्तिक हो अथवा नास्तिक, निर्गुणवादी हो या सगुणवादी, किसी न किसी रूप में राम को पूज्य पुरुष मानता है, उनका आदर करता है एवं उनके पद-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करता है।

सत्यवादी महाराजा हरिश्चन्द्र के बहुत काल पश्चात् त्रेता युग में इक्ष्वाकुवंश में राजा दशरथ हुए थे। वे अयोध्या के पराक्रमी नरेश थे। उनका यश उत्तरी भारत की सीमा को लाँघकर समस्त भारत में फैल चुका था। उन्होंने रघु की सन्तति-परम्परा को स्थिर रखने के लिए तीन विवाह किए, फिर भी अयोध्या का सिंहासन सूना ही रहा। उस चक्रवर्ती साम्राज्य का उत्तराधिकारी किसी रानी की गोद में न आया। उनकी रानियों के नाम थे—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी।

कौशल्या कौशल देश के राजा भानुमान् की सुपुत्री थी। कैकेयी कैकेय देश के राजा अश्वपति की पुत्री थी। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। युद्ध-कला में निपुण थी। राजा दशरथ जब कभी युद्ध में जाते तो कैकेयी उनका साथ देती। सबसे छोटी, अनिन्द्य सुन्दरी एवं युद्ध-साथी होने के कारण वह राजा दशरथ को अत्यधिक प्रिय भी थी।

कुलगुरु वरिष्ठ की आज्ञा से शृङ्गी ऋषि को पुत्रेष्टि यज्ञ के अनुष्ठान के लिए आमंत्रित किया गया। यज्ञ सम्पन्न हुआ। अनुष्ठान पूर्ण हुआ। तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं। चैत्र शुक्ल नवमी के शुभ दिन रानी कौशल्या के गर्भ से ‘दिव्य लक्षणों से युक्त सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर, श्रीराम का जन्म हुआ। सुमित्रा से लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न का तथा कैकेयी से ‘भावमूर्ति नवजलधर-रूप-राशि’ भरत का जन्म हुआ।

१. जो भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करने वाले हैं; ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि निरन्तर जिसकी सेवा किया करते हैं; हनुमान्, सुग्रीव एवं भरत आदि भाई बड़े प्रेम से जिनकी आराधना में लगे रहते हैं; जो अहेतुक और अनन्त करुणारूपी अमृत के सागर हैं, जिनके साथ श्री सीताजी शोभायमान हो रही हैं, उन श्याम-सुन्दर, द्विभुज, पीताम्बरधारी, प्रसन्नमुख, लाल कमल-दल के समान सुन्दर नेत्र वाले भगवान् श्री राम की मैं वन्दना करता हूँ।

बालक राम के सभी अवयव सुन्दर हैं। 'सुभग' श्रवण, 'मनोहर' नासिका, 'कल' कपोल, 'सुहाई' चिबुक, 'अरुण' अधर, 'विकट' भृकुटि, 'विशाल' भाल, 'कंबु-कल' ग्रीवा, 'बलनिधि' बाहु, 'मेचक कुंचित' केश, 'रतनारे नेत्रों' की 'मार-मद-हरनी' चितवन से 'सरद-चंद-निंदक' मुखमंडल की शोभा अवर्णनीय है।

भगवान् राम के जन्म-काल से पूर्व ऋषि, ब्राह्मण एवं देवगण राक्षसगण से संत्रस्त थे। धार्मिक अनुष्ठान राक्षसीय भय से आच्छादित थे। राक्षसों द्वारा बलपूर्वक यज्ञ रोक दिए जाते थे, पूजन-स्थलों को अपवित्र एवं ध्वस्त किया जाता था तथा तपोवन जला दिए जाते थे। इतना ही नहीं, राक्षसगण ऋषि-मुनियों को अपना भक्ष्य बना लेते थे।

इन राक्षसों के उपद्रवों से दुःखी होकर एवं अपने ध्यान में बाधा पड़ने के कारण एक दिन महर्षि विश्वामित्र अकस्मात् राजा दशरथ के दरबार में पहुँच गए। उस समय तक चारों बालक किशोर अवस्था में प्रवेश कर चुके थे। कुल-गुरु वशिष्ठ से शास्त्र एवं शस्त्र की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। महर्षि विश्वामित्र ने महाराजा दशरथ से राक्षसों के उपद्रव शान्त करने हेतु राम-लक्ष्मण की याचना की। 'कहाँ ये छोटे-छोटे बालक और कहाँ महाबली राक्षस', इस बात की कल्पना करके महाराजा दशरथ उदास हो गए, किन्तु 'नवीन सृष्टि निर्माण-समर्थ विश्वामित्र' की इच्छा तो पूर्ण करनी ही थी। इसलिए उन्होंने राम-लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र के साथ भेजा दिया।

राम-लक्ष्मण जब महर्षि विश्वामित्र के साथ उनके आश्रम की ओर जा रहे थे, तब मार्ग में नर-भक्षिणी राक्षसी ताड़का ने उन पर आक्रमण कर दिया। श्रीराम ने एक ही बाण से उसका संहार कर दिया।

'एकहिं बान प्राण हरि लीन्हा।'

आश्रम में पहुँचने पर इधर राम-लक्ष्मण के संरक्षण में यज्ञ आरम्भ हुआ, उधर ताड़का का वध सुनकर उसके पुत्र मारीच और सुबाहु नामक राक्षस सेना सहित यज्ञ में विघ्न डालने के लिए तपोवन में पहुँचे। राम-लक्ष्मण ने बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। सुबाहु सैन्य सहित मारा गया और 'उसका भाई मारीच राम के फल-हीन बाण के आघात से सौ योजन दूर समुद्र-तट पर जा गिरा।' इस प्रकार मुनिवर के यज्ञ की रक्षा हुई।

उस समय मिथिला नगरी के राजा जनक थे। वे परम तपस्वी तथा ज्ञानी थे। संसार में रहते हुए एवं एक प्रदेश के महाराजा होते हुए भी वे विदेह थे। उनकी सुपुत्री सीता विवाह योग्य हो गई थी। विवाह के लिए स्वयंवर-आयोजन का दिन निश्चित हुआ। स्वयंवर के लिए जहाँ भूमंडल के अनेक राजा-महाराजाओं को आमंत्रित किया गया, वहाँ महर्षि विश्वामित्र को भी सादर निमंत्रण भेजा गया।

'विश्वामित्र दोनों अवध-कुमारों (राम और लक्ष्मण) सहित मिथिला में पहुँचे। उन दोनों बालकों को देखकर मिथिला-निवासी अपने को धन्य समझने लगे। श्री राम को देखकर महाराजा जनक की विदेह संज्ञा सार्थक हो गई। 'मूरति मधुर मनोहर देखी, भयेउ विदेह विदेह विसेखी।' सीता भी पहली बार देखकर ही राम पर मोहित हो गई।

थके नयन रघुपति छवि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।

अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

सीता-स्वयंवर की एक शर्त थी। 'जनक-पुत्री भूमि-सुता उसे वरण करेगी, जो शंकर के महाधनुष पिनाक को तोड़ेगा।' स्वयंवर में उपस्थित एक-एक बलशाली, पराक्रमी, शूरवीर राजा उठता और सीता जी से विवाह की कामना मन में लिए धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने का प्रयत्न करता। प्रत्यंचा चढ़ाना तो दूर, किसी से धनुष उठ भी न सका। जब रावण और वाणासुर जैसे उपस्थित नरेश भी बलहीन सिद्ध हुए तो राजा जनक अकुला उठे और क्रोधित हो बोले, सीता से विवाह हेतु, द्वीप-द्वीप के अनेक राजा ही नहीं, देवता और दैत्य भी मनुष्य का शरीर धारण कर आए, परन्तु धनुष को तोड़कर मनोहर कन्या, बड़ी विजय और अत्यन्त सुन्दर कीर्ति को पाने वाला मानो ब्रह्मा ने किसी को रचा ही नहीं। अब कोई वीरता का अभिमानी नाराज न हो। 'वीर विहीन मही मैं जाना' और 'जौ जनतेऊँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेऊँ न हँसाई।'।

इस पर विश्वामित्र जी के इंगित पर श्रीराम उठे।

जिस धनुष को 'भूप सहस्र दस एकहि बारा, लगे उठावन टरन न टारा', उसे श्रीराम ने 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा' और धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते समय ही उसे भंग कर मिथिला नरेश की प्रतिज्ञा पूर्ण की।

इधर, परशुराम जो शिव-धनुर्भंग की बात सुन क्रोध में भरे स्वयंवर-स्थल पर पहुँचे और सबको बुरा-भला कहने लगे। लक्ष्मण ने परशुराम की बातों का उत्तर देकर अग्नि में घी डाल दिया। अन्ततः श्रीराम ने परशुराम को शान्त किया।

'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के, उघरे पटल परसुधर मति के।'।

उनका क्रोध हवा हो गया और वे टकटकी लगा कर श्रीराम को देखते रह गए... 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन।' वे गर्व रहित होकर लौट गए।

तत्पश्चात् विवाह-मंडप में श्रीराम अपने तीनों भाइयों सहित पहुँचे। धर्मात्मा मिथिलेश ने न केवल सीता का हाथ श्रीराम के हाथ में दिया, अपितु अपनी अन्य कन्या उर्मिला तथा अपने अनुज की पुत्री माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति के हाथ क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के हाथों में देकर हर्ष मग्न हुए।

प्रजा और गुरुजनों की इच्छानुसार वयोवृद्ध राजा दशरथ श्रीराम का राज्याभिषेक कर विश्राम चाहते थे।

इधर, दशरथ को रानी कैकेयी प्रियतमा थी, तो उधर पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम। दशरथ राज्य का उत्तराधिकारी राम को बनाना चाहते थे। उन्होंने एक उपाय खोज निकाला। भरत और शत्रुघ्न को ननिहाल भेजकर राम के राज्यारोहण के प्रस्ताव को जन-प्रतिनिधियों से स्वीकार करा लिया। जहाँ सभी नरेशों को निमन्त्रण भेजा गया, वहाँ विघ्न-भय से राजा जनक और कैकेय-नरेश अश्वपति को नहीं बुलाया गया। कैकेयी की उपस्थिति में राज्यारोहण का अर्थ उसकी स्वीकृति समझा जाएगा। कैकेयी राज-सुख में राजा द्वारा प्रदत्त वचन विस्मृत कर बैठी थी, किन्तु मातृगृह से साथ आई दासी मन्थरा इस बात को समझ रही थी। उसने अपनी स्वामिनी को यथा-समय सचेत कर दिया। रनिवास में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गया, जिसे शांत करने का प्रयास किया गया, किन्तु दशरथ अपने प्रयत्न में असफल रहे।

कैकेयी ने बुद्धिमत्ता से काम लिया। देवासुर-संग्राम में पति की रक्षा करने पर प्राप्त दो वर उसके सम्बल बने। प्रजा-प्रिय राम के राज्यारोहण के स्थान पर भरत का राज्याभिषेक जनता स्वीकार न कर उल्टा विद्रोह न कर बैठे, अतः उसने राम को १४ वर्ष के लिए बनवास की व्यवस्था भी की, क्योंकि वह समझती थी कि १४ वर्ष की लम्बी अवधि में भरत अपने राज्य को सुव्यवस्थित कर लेगा।

कैकेयी के वचन सुनकर राजा दशरथ को बड़ा आघात पहुँचा। फिर भी, दोनों वर देना स्वीकार कर लिया। 'रघुकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जाहिं पर वचन न जाई।' पिता के वचन की पूर्ति हेतु रघुवंश विभूषण श्रीराम वल्कलधारी होकर वन को विदा हुए। लक्ष्मण और सीता जी ने भी साग्रह उनके साथ प्रस्थान किया। भागीरथी गंगा को पार कर वे चित्रकूट पहुँचे। वहाँ एक कुटिया बनाकर रहने लगे।

भूमि सयन बलकल वसन असन कंद फल मूल।

ते कि सदा सब दिन मिलहि समय-समय अनुकूल॥

राजा दशरथ ने राम के वियोग में प्राण त्याग दिए। अन्त्येष्टि हेतु भरत को ननिहाल से बुलवाया गया। हृदय में दुःख और वेदना लिए भरत अयोध्या लौटे। वहाँ राम-वन-गमन का कारण जानकर उन्हें अत्यन्त पीड़ा हुई। उन्होंने श्रीराम की अनुपस्थिति में माता द्वारा प्राप्त अयोध्या-नरेश बनने के अधिकार को ठुकरा दिया। इतना ही नहीं, बल्कि अयोध्या-नगरवासियों, कुल-गुरु एवं माताओं को लेकर वे श्रीराम को लौटाने चित्रकूट पहुँचे, किन्तु श्रीराम ने चौदह वर्ष की अवधि पूर्ण होने से पूर्व अयोध्या लौटने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा—

राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

तासु-बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥

'पितु-वचन' और 'बन्धु-संकोच' का अन्तर्द्वन्द्व हृदय विदारक है। भरत बड़े भाई की चरण-पादुका लेकर लौटे। अयोध्या का चक्रवर्ती सिंहासन उन पादुकाओं से भूषित हुआ। राम-हीन अयोध्या में नगर से बाहर नन्दिग्राम में भरत उनके प्रतिनिधि रूप में साधुवेश में 'महि खनि कुस साँधरी सँवारी' रहने लगे।

अयोध्यावासियों के पुनः आगमन के भय से श्रीराम चित्रकूट से आगे चले। मार्ग में महर्षि अत्रि से उनकी भेंट हुई। महामुनि अत्रि श्रीराम के रूप को देखकर कृत-कृत्य हो गये—'देखि राम छवि नयन जुड़ाने।'

आगे बढ़ते हुए उन्होंने शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि ऋषियों के दर्शन करते हुए दण्डकारण्य को पवित्र किया। दण्डकारण्य में पहुँचने पर दुष्ट राक्षसों द्वारा मारे गए ऋषि-मुनियों के 'अस्थि समूह देखि' श्रीराम के नेत्रों में जल छा गया। आर्य सभ्यता के ऋषि-मुनियों पर राक्षसों के इन अत्याचारों को देखकर वहीं उन्होंने प्रण किया, 'निसिचर हीन करऊँ महि' और उन्होंने अपना वनवास-जीवन-कार्य निर्धारित कर लिया। अब वे राक्षस-वध के लिए सन्नद्ध हो गए। मार्ग में जो भी राक्षस आता उससे ही वे युद्ध करते। आगे चलकर श्रीराम ने पंचवटी में अपनी पर्णकुटी बनाई और कुछ वर्ष इसी स्थान पर सुखपूर्वक व्यतीत किए।

एक दिन 'मतवाले नेत्रों वाली' एवं 'इच्छानुसार रूप-परिवर्तन करने वाली' रावण की बहिन शूर्पणखा कहीं से घूमती-घामती पंचवटी में पहुँच गई। वहाँ उसने राम के सौन्दर्य को देखा तो हृदय को लुटा बैठी। उसने राम से विवाह का आग्रह किया। राम के इन्कार करने पर वह लक्ष्मण से आग्रह करने लगी। 'वासना एवं दुष्टों के निग्रह करने हेतु' श्रीराम के इंगित पर लक्ष्मण ने उसको नाक-कान विहीन कर दिया। वह रोती-चिल्लाती खर-दूषण के पास गई। खर-दूषण एक विशाल सेना लेकर शूर्पणखा के अपमान का बदला लेने पंचवटी पहुँचे। वे भी श्रीराम के सौंदर्य को देखकर कह उठे—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते-हते हम केते।

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखि नहीं असि सुन्दरताई॥

युद्ध हुआ। राम और लक्ष्मण ने उनकी चौदह सहस्र सेना का ध्वंस कर दिया। तत्पश्चात् शूर्पणखा अपने भाई रावण के पास गई। लंकाधिपति रावण ऋषि पुलस्त्य का पौत्र था। कुबेर का छोटा भाई एवं वेदज्ञ होने पर भी ऐश्वर्य में मत्त होने के कारण वह राक्षस हो गया। 'संसार को पीड़ा देने वाले नवग्रह, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, वीर पुरुष, यहाँ तक कि देवतागण भी उससे डरते थे। सारी भौतिक और संहारक शक्तियाँ उसके पास थीं।' दानवेन्द्र मय ने अपनी पुत्री मन्दोदरी का विवाह उससे कर दिया था।

रावण ने बहिन का बदला लेने के लिए मारीच को बुलाया और उसे स्वर्णमय हिरण का रूप देकर राम-लक्ष्मण को पर्णकुटी से दूर ले जाने की योजना बनाई। मारीच स्वर्णमय मृग का रूप धारण कर कुटिया के पास पहुँचा। जब सीता जी ने इस स्वर्णमय मृग को देखा तो उसे प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। राम ने उसका पीछा किया। शराघात से पीड़ित होकर मारीच राम की-सी वाणी में चिल्लाया, 'हा लक्ष्मण! हा सीते!' इन शब्दों को सुनकर सीता जी ने समझा कि श्रीराम विपत्ति में हैं। उन्होंने साग्रह लक्ष्मण को श्री राम की कुशल-क्षेम जानने हेतु भेज दिया। मारीच का छल सफल हुआ। रावण साधु का वेश बनाकर एकाकिनी जानकी को 'भिक्षां देहि' के बहाने हरण करने में सफल हो गया। 'लंका के अशोक वन में वह विश्वधात्री बन्दिनी बनी।'

श्री राम और लक्ष्मण जब पर्णकुटी में पहुँचे तो जानकी को न पाकर अत्यन्त दुःखी हुए। सीता जी की खोज में सारा जंगल छान मारा। वहाँ उनकी आहत जटायु से भेंट हुई। जटायु श्री जानकी को रावण से छुड़ाते समय आहत हो गया था। उसने श्रीराम-लक्ष्मण को जानकी जी के अपहरणकर्ता की बात कह सुनाई और अपना शरीर श्रीराम के चरणों में त्याग दिया। श्रीराम ने अपने हाथों से उसकी अन्त्येष्टि की।

वन में चलते हुए उनकी एक भीलनी शबरी से भेंट हुई। श्रद्धापूर्वक समर्पित किए हुए उसके बेरों का आस्वादन करते हुए और कबन्ध असुर का वध करके वे पम्पापुर पहुँचे। आगे उनकी भेंट सुग्रीव के मन्त्री हनुमान् से हुई। हनुमान् ने सुग्रीव से उनको मिलाया। सुग्रीव ने अग्रज बालि द्वारा पत्नी छीने जाने और अपने निर्वासन की कथा कह सुनाई। श्रीराम ने उन्हें बालि-वध का आश्वासन दिया।

इसी अवसर पर सुग्रीव ने उन्हें सीता द्वारा फेंके गए आभूषण दिखाये। उन्होंने लक्ष्मण से पूछा—'तुम इन आभूषणों को पहचानते हो?' लक्ष्मण जी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'मैं

सीता जी के चरण-आभूषणों को ही पहचान सकता हूँ, उससे ऊपर उनके शरीर को मैंने देखा ही नहीं।'।

पराक्रमी बाली एक महान् युद्ध-वीर था। बड़े-बड़े शिखरों को बलपूर्वक उठाकर उछाल देना उसके लिए अत्यन्त सरल था। अनेक बलशाली राक्षसों का वह नाश कर चुका था। राम ने सुग्रीव को उससे द्वन्द्व करने का परामर्श दिया। जब द्वन्द्व युद्ध में सुग्रीव पराजित होने लगा तो श्रीराम ने वृक्ष की ओट से वाण मारकर बालि का वध कर दिया।

सुग्रीव ने सीता जी की खोज का कठिन दायित्व लिया। वानर-भालू भी सीता जी की खोज में निकले। श्री पवनसुत हनुमान् सौ योजन सागर पार कर लंका में पहुँचे। विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त कर वे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ विदेह-नन्दिनी श्रीराम के चिन्तन में बैठी थीं। हनुमान् ने श्री राम की मुद्रिका देकर अपना परिचय दिया और आश्वासन दिया कि श्रीराम शीघ्र ही रावण को मार कर उन्हें मुक्त कराएँगे।

सीता से मिलने के बाद लंकापति के सैन्य बल की चाह लेने के लिए उन्होंने अशोक वन का विध्वंस किया। तब हनुमान् जी को राक्षसगण ने घेर लिया और रावण के सामने उपस्थित किया। रावण की आज्ञा से उनकी पूँछ में आग लगा दी गई। हनुमान् ने जलती पूँछ से रावण की स्वर्णमयी लंका को ही जला दिया और सकुशल लौटकर श्रीराम को सारी घटना कह सुनाई।

राम किष्किन्धा से चलकर समुद्र-तट पर आए। वहाँ सुग्रीव के कुशल शिल्पी नल-नील के नेतृत्व में सेतु-बंधन का कार्य सम्पन्न हुआ। ससैन्य श्रीराम ने पुल पार किया और 'वह सुरासुर-अगम्य पुरी बानर-भालुओं से धर्षित होने लगी।' मदान्ध रावण से पाद-ताड़ित हो विभीषण श्रीराम की शरण में आ गया।

श्रीराम की ओर से सर्वप्रथम अंगद को लंकाधिपति के पास दूत रूप में भेजा गया। रावण पर उसकी बातों का कोई प्रभाव न हुआ। अन्ततः रावण के हठ के कारण सीता जी को मुक्ति न देने पर युद्ध आरम्भ हो गया।

दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ। दोनों ओर के सहस्रों योद्धा मारे गए। राम के भाई लक्ष्मण मेघनाद से युद्ध करते हुए मूर्छित हुए, किन्तु वे शीघ्र ही सुषेण वैद्य के परामर्श से पवनसुत हनुमान् द्वारा लाई गई संजीवनी बूटी से स्वस्थ हो गए।

रावण-पक्ष राम के प्रभुत्व से प्रभावित था। अतः इन्द्रजित् (मेघनाद) ने राम को 'धन्वी सकल लोक विख्यात' कहकर युद्ध के लिए ललकारा।

कुम्भकर्ण से युद्ध में श्रीराम ने रण-नीति का आलम्बन लिया। 'प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टंकोरा, रिपु दल बधिर भयो सुनि सोरा।' अन्त में भीषण-युद्ध के पश्चात् मेघनाद और कुम्भकर्ण का वध हुआ।

राजनीति और युद्धनीति में पारंगत श्रीराम ने शरणागत विभीषण को लंकाधिपति बनाने का आश्वासन देकर उससे लंकाध्वंस और रावण-मृत्यु के सभी भेद प्राप्त कर लिए।

'नाभिकूंड पियूष बस याकें, नाथ जिअत रावनु बल ताके' का भेद ज्ञात होने पर श्री राम ने—

‘सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर कटि रोषा॥
लै सिर बाहे चले नाराचा। सिर भुज हीन रुंड महि नाचा॥

× × ×
‘धरनि धसइ धर घाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु कृत दुई खंडा।’

× × ×
‘धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥’

और इस प्रकार वह महापराक्रमी, महाबलशाली राक्षसराज रावण श्रीराम के हाथों मारा गया। श्रीराम की इसी अनुपम शूरवीरता, अतुलित रणकुशलता और अलौकिक निर्भीकता को देखकर ही ‘राम-वाण’ अमोघत्व का पर्यायवाची हो गया है। श्रीराम के समान दूसरा शस्त्रधारी फिर नहीं हुआ। कदाचित् गीताकार ने इसीलिए कहा है, ‘रामः शस्त्रभूतामहम्।’ उदारमना एवं नीतिनिपुण श्रीराम ने लंका का राज्य विभीषण को सौंप दिया।

अब जनता-जनार्दन की शंका निवारणार्थ सीता जी की अग्नि-परीक्षा शेष थी। पति-प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए उन्होंने त्रिजटा से जो ‘अग्नि काठ रचु चिता बनाई। मातु अग्नि पुनि देहि लगाई’ कहा था, उसकी पूर्ति उस राक्षसी के द्वारा न होकर लक्ष्मण के द्वारा हुई ‘लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी।’ सीता जी ने अग्नि-प्रवेश किया। अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो जब गौरांगी सीता श्यामल राम के पास आई, तो यथार्थ में ही वे तप्त कांचन-सी दीखीं।

इधर, चौदह वर्ष की अवधि समाप्त हो चुकी थी। श्रीराम भाई लक्ष्मण, पत्नी सीता, मित्रवर सुग्रीव, विभीषण एवं परम सेवक हनुमान्, अंगद आदि के साथ पुष्पक विमान से अयोध्या लौटे। पुरवासियों और माताओं ने आनन्द मनाया। घर-घर में दीपावली मनाई गई। श्रीराम वैदेही-सहित अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में सिंहासन पर विराजमान हुए।

श्रीराम के सुव्यवस्थित राज्य एवं सम्पन्न जीवन में एक दुर्घटना घटी। पुरवासी और जनपद के लोग सीता के चरित्र पर लंका-निवास के कारण गम्भीर आरोप लगा रहे थे। श्रीराम को जब पता लगा तो उन्होंने पूर्णगर्भा धर्मपरायणा सीता का त्याग कर दिया। वाल्मीकि आश्रम में सीता जी ने शेष जीवन व्यतीत किया। यहीं कालानुसार उन्होंने सुत-युगल (लव और कुश) को जन्म दिया।

चक्रवर्ती साम्राज्य की इच्छा से श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया। सम्पूर्ण पृथ्वी पर श्रीराम की विजय-पताका फहराता हुआ जब अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा वाल्मीकि आश्रम में पहुँचा, तो लव ने उसे पकड़ लिया। यहाँ श्रीराम का सीता जी से पुनः और अन्तिम मिलन हुआ। लव और कुश को श्रीराम के चरणों में समर्पित कर भूसुता सीता अपने सतीत्व का प्रमाण देती हुई पृथ्वी माता की गोद में समा गई।

संसार के इतिहास में श्रीराम ही एकमात्र जन-नायक हैं, जिन्होंने सांसारिक साधनों से (न कोष, न सेना) विहीन होते हुए भी अपने बुद्धि और बाहुबल के सहारे वानर जाति से अपना सैन्य बल सुशोभित कर राक्षस जाति सदृश प्रबल, संगठित, मायावी एवं समस्त अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित जाति को नष्ट कर आर्य-संस्कृति और सभ्यता की दुंदुभि बजाई।

संसार के इतिहास में ऐसे भी उदाहरण दुर्लभ होंगे, जैसे श्रीराम ने बालि का वध कर किष्किन्धा का राज्य उसके ही अनुज सुग्रीव को देकर तथा रावण का वध कर उसके ही अनुज विभीषण को लंकापति घोषित कर उपस्थित किए हैं।

वाल्मीकि रामायण में श्रीराम के चरित्र का वर्णन इस प्रकार है—

‘वे ही मन को वश में रखने वाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं। वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रु-संहारक हैं। उनके कन्धे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। ग्रीवा शंख के समान, ठोड़ी मांसल (पुष्ट) है। उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है। गले के नीचे की हड्डी (हँसली) माँस में छिपी हुई है। भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं। मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है। उनका शरीर (अधिक ऊँचा या नाटा न होकर) मध्यम ओर सुडौल है, देह का रंग चिकना है। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है और आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे धर्म के ज्ञाता और सत्यप्रतिज्ञ हैं। प्रजापति के समान पालक, श्री-सम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्म के रक्षक हैं। स्वधर्म और स्वजनों के पालक, वेद-वेदांगों के तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेद में प्रवीण हैं। वे क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा में पृथ्वी सदृश हैं, त्याग में कुबेर और सत्य में द्वितीय धर्मराज के समान हैं।’

श्रीराम के राज्य के कुछ आदर्श थे। ‘जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी,’ जहाँ राज्य का मूलमन्त्र हो, वहाँ क्यों न ‘त्रेताँ भई कृतयुग कै करनी’ की स्थिति होगी।

तुलसीदास के अनुसार रामराज्य समत्व का राज्य था। गुणों और सुलक्षणों के विकास का समय था। वह सम्पन्नता का युग था, परन्तु उस सम्पन्नता को व्यक्ति संयम और विवेक से भोगता था। सभी साधन और वैभव उपलब्ध थे, परन्तु लोगों में त्यागपूर्ण परोपकार की सामाजिक भावना प्रधान थी।

राम राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं।

काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

आदिकवि वाल्मीकि ने राम-राज्य की सुन्दर कल्पना इस प्रकार की है—

नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः।

कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः॥

स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।

आसन्नजाः धर्मपराः रामे शासति नानृताः॥

महाकवि भवभूति ने रामराज्य का उद्देश्य स्वयं भगवान् राम के मुँह से कहलवाया है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥

वस्तुतः श्रीराम में उन सामाजिक नियमों का एक अपूर्व सम्मिश्रण था, जो हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धांत हैं। पितृ-भक्ति, मातृ-स्नेह, भ्रातृप्रेम, एक-पत्नी-व्रत, पत्नी-प्रेम, सरलता की भावना, प्रजावत्सलता, समाज के तथाकथित अपावनजनों का आदर तथा दुष्टों का दमन रामचरित के ऐसे आधार हैं, जिनमें हिन्दू-संस्कृति का स्वरूप पूर्णतः प्रतिबिम्बित होता है। ‘भारत का वह आदर्श आज विश्व-मानव का गेय-ध्येय बने, तभी मानव सुसंस्कृत बन सकेगा।’

श्री राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। अपने हित, अपने सम्मान, अपने यश का दाँव खेलकर भी उन्होंने मर्यादा की रक्षा की। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रत्येक संकट का समाधान मर्यादा-पालन में ढूँढा और स्वयं को मर्यादा की रक्षा का माध्यम मात्र बना डाला, जिसने उन्हें पुरुषोत्तम बना दिया।

‘राज्याभिषेक के वक्त मिली वनगमन की आज्ञा को वे अन्यायपूर्ण कहकर ठुकरा सकते थे। भरत द्वारा वापस लौटने का आग्रह बदली परिस्थितियों में समय की आवश्यकता कहकर मान सकते थे। हिरण सोने का हो नहीं सकता, यह कहकर वे सीता का अनुरोध टाल सकते थे। सुग्रीव के बजाए बाली से मैत्री कर वे न केवल बाली-वध की तोहमत से बच सकते थे, बल्कि रावण के विरुद्ध एक अधिक शक्तिशाली सन्धि वे किष्किन्धा नरेश से कर सकते थे। लक्ष्मण मूर्छा का इलाज दूसरों के जिम्मे डाल खुद सीधे मेघनाद को मारने निकल सकते थे। समुद्र पर सेतु कौन बाँधे, इस बहाने रावण के साथ युद्ध को टाल सकते थे। सीता की अग्निपरीक्षा का मुद्दा सिरे से नकार सकते थे। सीता को फिर से निर्वासित करने के बजाय वे राज्यत्याग कर सकते थे। सीता के पृथ्वी प्रवेश पर पृथ्वी विदीर्ण कर सकते थे। लक्ष्मण की विवशता में हुई अनुशासन हीनता को वे उनके पिछले रिकार्ड की दुहाई देकर माफ कर सकते थे। पर अगर वे यह सब करते तो फिर मर्यादा पुरुषोत्तम कैसे कहलाते?’ —डॉ. सूर्यकांत बाली : भारत गाथा, पृष्ठ ११५-११६

व्यक्ति रूप में श्री राम की अन्तरात्मा जानती है कि सीता शुद्ध है, ‘*अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्*’ (बाल्मीकि रामायण : उत्तरकाण्ड, सर्ग ४५, श्लोक १०), किन्तु राम एक व्यक्ति ही नहीं, राजा भी हैं। वे जानते हैं, ‘*यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते*’ (बाल्मीकि रामायण : उत्तरकाण्ड, सर्ग ४३, श्लोक १९)। राजा कहीं गड़बड़ करता है तो उसे आदर्श मानकर प्रजा उसका अनुसरण करेगी। अतः उन्होंने सार्वजनिक आदर्शों के पालन को चुना। व्यक्ति राम हृदय पर पत्थर रखकर राजा राम लोकावाद के शमन हेतु पवित्रात्मा सीता को परीक्षा की अग्नि में धकेल देते हैं। और व्यक्ति राम नितान्त अकेले रह गए। टूट गए। करुणा ने जीवन को प्लावित कर दिया, पर मर्यादा को आँच न आने दी।

‘रामराज्य सुशासन, सुव्यवस्था, धर्म, शांति, सदाचार आदि की पूर्णता के द्योतन के लिए आज भी मनुष्य के पास इससे सुन्दर शब्द नहीं हैं। अनेक वर्षों तक वह दिव्य शासन धरा को कृतार्थ करता रहा।’ और एक दिन रघुकुल-नन्दन भगवान् श्रीराम ने ‘अयोध्या से डेढ़ योजन दूर’ पुण्य सलिला सरयू में प्रवेश कर अपना शरीर उसकी उठती हुई लहरों को अर्पण कर दिया।



यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे-युगे ॥१॥

भारतीय जन-जीवन पर जिन महापुरुषों के जीवन और व्यक्तित्व का सबसे व्यापक प्रभाव पड़ा है, उनमें गोपीजन-वल्लभ, नन्द-यशोदा के दुलारे, अर्जुन को गीता का उपदेश देने वाले, कर्मयोगी एवं युग-प्रवर्तक क्रांतिकारी जन-नेता योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रमुख हैं। चाहे वह यवन काल हो, चाहे आधुनिक काल; चाहे स्वामी रामकृष्ण परमहंस हों, स्वामी विवेकानन्द हों अथवा विश्व-वंद्य महात्मा गाँधी, सभी अपने जीवन में सत्-पथ के लिए, कर्म के प्रति प्रेरणा के लिए भगवान् कृष्ण के आभारी हैं। वस्तुतः 'असंख्य मनुष्यों का जीवन आज कृष्ण के आदर्श से प्रभावित होता है। कृष्ण के जीवन की घटनाएँ केवल अतीत इतिहास के जिज्ञासुओं के कुतूहल का ही विषय नहीं हैं, वरन् वे धार्मिक जीवन की गतिविधि को नियंत्रित करने के लिए भी भारतीय आकाश में चमकते हुए आकाश-दीप की तरह सुशोभित और जीवित हैं।'

कृष्ण के समान बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति विश्व के इतिहास में दूसरा कोई नहीं मिलेगा। वे एक साथ महान् योद्धा, महान् राजनीतिज्ञ, महाज्ञानी एवं महायोगी थे। उनके 'शौर्य और रणकौशल' की सम्पूर्ण सार्थकता 'सर्व परित्राण' में, 'राजसत्ता और नीति-कौशल' की इतिकर्तव्यता श्रेय पर आधारित 'राजधर्म की प्रतिष्ठा' में, 'ज्ञान और बहुज्ञता' की पूर्णता 'जन-जीवन को सरल तथा श्रेयोन्मुख स्वधर्म सिखाने' में तथा 'योगबल और सिद्धि' की सार्थकता 'लोकधर्म के परिमार्जन एवं संवर्धन' में थी।

कृष्ण ने विश्व को एक सिद्धि-मंत्र दिया, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।' मनुष्य का अधिकार कर्म में है, कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं। कर्म भी ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ 'मन्मना भव भद्रभक्तः'।

विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण मुख्य हैं। हिन्दू आज भी रामनवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी को पर्व के रूप में मनाते हैं। रामनवमी से भी अधिक कृष्ण-जन्माष्टमी का उल्लास-उत्साह देखने योग्य होता है। इस दिन हिन्दू-मात्र का घर-घर, आँगन-आँगन ऐसा

१. केवल एक जन्म अथवा एक अवतार में ही नहीं, युग-युगान्तर में जब भी धर्म की हानि होगी और अधर्म बढ़ेगा, तब-तब मैं अवतार लेकर साधु अर्थात् धर्म-मार्ग पर दृढ़ पुरुषों की रक्षा और पापियों अर्थात् धर्म के विरुद्ध चलने वालों का विनाश करूँगा।

उल्लसित दिखाई पड़ता है, मानों उन्हीं के घर कृष्ण का जन्म होने वाला है। मन्दिरों में जनता झूम-झूमकर कृष्ण की जय-जयकार करती हुई 'नन्द के आनन्द भए, जय कन्हैयालाल की' गाते हुए आत्म-विभोर हो जाती है।

द्वापर युग में मथुरा के राजा उग्रसेन हुए। उनके बड़े पुत्र का नाम कंस था। वह स्वभाव से निर्दय एवं क्रूर था। देश के अन्य अत्याचारी राजाओं एवं राक्षसों से उसकी मित्रता थी। उग्रसेन के भाई का नाम देवक था। देवक की छोटी पुत्री का नाम देवकी था, जिससे कंस को बहुत प्यार था। बड़ी होने पर देवकी का विवाह वसुदेव से हुआ। विवाहोपरान्त वसुदेव देवकी सहित जिस रथ में बैठे, प्रेम के वशीभूत कंस उसका सारथी बना। मार्ग में एक आकाशवाणी से कंस चौंका, 'तू जिसे इतने उत्साह से पहुँचाने जा रहा है, उसी का आठवाँ पुत्र तुझे मारेगा।' मृत्यु का भय शरीरासक्त व्यक्ति को कायर बना देता है। कंस अपनी बहिन का वध करने को उद्यत हो गया— 'काढ़ि खरग मारन को भयौ।' (नन्ददास)

वसुदेव ने समझाया— 'इससे उत्पन्न पुत्र ही तुम्हारा काल होगा न? तुम इसे मत मारो। हम इसके सभी सद्योजात शिशु तुम्हें दे देंगे। बहन की हत्या का पाप क्यों सिर पर चढ़ाते हो?' बात कंस की समझ में आ गई। इतने पर भी कंस ने वसुदेव और देवकी को बन्दी बनाकर कारागार में रखा। इस कृत्य के लिए जब उसके पिता उग्रसेन ने विरोध किया, तो उन्हें भी बन्दी बनाकर कंस स्वयं मथुरा का नरेश बन गया।

सत्यव्रत एवं धर्मभीरु वसुदेव अपनी प्रत्येक सन्तान कंस को लाकर दे देता और निर्दय-कंस उसे उठाकर शिला पर पटककर उनका अन्त कर देता। इस प्रकार छह शिशुओं का अन्त हुआ। पाप का घड़ा भरता गया। सातवाँ शिशु 'योगमाया ने उन्हें आकर्षित करके गोकुल में रोहिणी' से उत्पन्न कराया। आठवाँ बालक-भाद्रपद की अष्टमी की अर्धरात्रि में, जब आकाश मेघाच्छन्न था, उत्पन्न हुआ। यही हमारे चरित-नायक, पूज्य पुरुष अखिलेश भगवान् श्रीकृष्ण थे।

श्रीकृष्ण के जन्म पर देवकी और वसुदेव ने अपने को धन्य समझा। इसको बचाने की चिन्ता हुई। उन्होंने इसे गोकुल में मित्र नन्द के घर पहुँचाने का निश्चय किया। ईश्वर की लीला भी विचित्र है। वसुदेव की बेड़ियाँ स्वतः ढीली पड़ गई, कारा के द्वार खुल गए। प्रहरी प्रगाढ़ निद्रा में अचेत हो गए। अर्धरात्रि एवं घनघोर वर्षा में ही वसुदेव शिशु को लेकर मित्र नन्द के घर पहुँचे और उनकी पत्नी यशोदा की शय्या पर श्री कृष्ण को लिटा उनकी नवजात कन्या को उठा लाए।

पहुँचे जाइ महर मंदिर में, मनहि न संका कीनी।

देखी परी जोग माया, वसुदेव गोद करि लीनी॥

(सूरदास)

प्रातः कंस ने जब उस लड़की को शिला पर पटकना चाहा तो वह कंस के हाथ से फिसलकर 'गगन में सायुधाभरण अष्ट भुजा हो गई।'।

इधर, गोकुल की गलियों में एवं नन्द के द्वार पर बधाई बजने लगीं। घर-घर खुशियाँ मनाई जा रही थीं, उधर उस अष्टभुजा कन्या द्वारा भाषित शब्द से 'तुझे मारने वाला गोकुल में जीवित है,' कंस चिन्तित हो उठा।

कंस ने कृष्ण को मारने के अनेक प्रयास किए। पूतना नामक राक्षसी ने सुन्दर युवती

का रूप धारण कर अपने विषयुक्त कुचों से कृष्ण को दुग्ध-पान कराकर मारने का प्रयास किया। परिणाम उल्टा निकला। कृष्ण दुग्ध के साथ उसके प्राण भी चूस गए।

‘पय पियत प्राण हर लिए लाल।’

(कृष्ण-चन्द्रिका)

शकटासुर राक्षस ने अदृश्य रूप धारण कर कृष्ण को उस छकड़े से दबाकर मारने का प्रयास किया, जिसके नीचे वे सोने का ब्याज कर रहे थे। कृष्ण ने पैरों को चला-चलाकर उस छकड़े को उल्ट कर चूर-चूर कर दिया, जिससे उसमें छिपा शकटासुर भी मर गया।

सूर प्रभु नन्दलाल, मार्यौ दनुज कराल।

मेटि जंजाल ब्रज-जन उवार्यौ॥

(सूरदास)

कंस द्वारा प्रेषित तृणावृत्त राक्षस दिन में ववंडर मचाकर कृष्ण को आकाश में उठा तो ले गया, किन्तु उसी बाल-कृष्ण ने राक्षस का गला दबाकर उसको परलोक का वासी बना दिया।

कृष्ण घुटनों के बल चलने लगे। घर में उल्लास छा गया। अब कभी घर में नवनीत सुशोभित है, तो कभी ‘मुख दधि लेप किए’ की स्थिति। गोकुलवासी उनको घुटनों चलते देख बड़े खुश होते हैं और सूरदास जी कहते हैं— **‘घुटरुनि चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।’**

मोहन अब चलने लगे हैं। अग्रज बलराम के साथ उन्होंने घर-घर धूम मचा रखी है। जहाँ वे अन्य गोप-गोपियों के घर जा-जाकर मक्खन चुरा लेते हैं, छाछ की हाँडी तोड़ देते हैं, वहाँ बाल-हठ से यशोदा को भी कम तंग नहीं करते।

ऊँचे छींकन गोरस राखे, ग्वालनि करि चतुराई।

लकुठि मारि भाजन सब फोरे, मोहन लूट मचाई॥

कभी ‘मैया हों चन्द खिलौना लैहों’ की रट लगाते हैं, तो कभी ‘आज मैं गाय चरावन जैहों’ की जिद कर रहे हैं। कभी दही मथती हुई यशोदा को तंग करते हुए छाछ पीने की जिद करते हैं और न मिलने पर ‘पाहन मारि फोरि दियो मटुआ’ की करतूत करते हैं। कभी—

‘मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।

मोसों कहत मोल को लीन्हों, तू जसुमति कब जायौ॥’

कहकर बलराम की शिकायत करते हैं और कभी ‘किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी’, कहकर अपनी चोटी न बढ़ने का उपालम्भ देते हैं।

बाल कृष्ण की इन चेष्टाओं एवं गोप-गोपियों के उपालम्भों से तंग आकर नन्द-यशोदा गोकुल छोड़कर वृन्दावन जा बसे। ‘वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना-पुलिन सबने ब्रज युवराज की मधुरिम क्रीडा के चलने में और सहायता दी। श्रीकृष्ण धेनु चारक बने। उधर, कृष्ण-वध के लिए कंस का प्रयत्न भी चलता रहा।’

वत्सासुर राक्षस बछड़े का वेश बनाकर कृष्ण को मारने आया, किन्तु श्रीकृष्ण ने—

पुच्छ सहित लै पिछलै पाई, दियौ फिराड़-फिराड़ बगाई।

ऊपर ही मर्यौ, बहुत कपिथने लै धर पर्यौ॥

(नन्ददास)

पूतना का भाई बकासुर भी बगुला बनकर कृष्ण को मारने आया। जब कृष्ण बछड़ों को जल पिलाने आए तो उसने उन्हें मुँह में उठा लिया। कृष्ण ने अपना शरीर इतना गर्म

किया कि उसका मुँह जलने लगा। उसने कृष्ण को मुँह से निकाल दिया। कृष्ण ने उसकी चोंच पकड़कर चीर दी।

इसी प्रकार अजगर बने अघासुर, गर्धभ बने धेनुक, गोप-बालक का रूप धरे पुलम्ब और व्योमासुर आदि अनेक राक्षस आए, किन्तु सभी का कृष्ण ने वध कर दिया। 'कालिय के फणों पर उस ब्रज बिहारी ने रास का पूर्वाभ्यास कर लिया। ब्रह्मा जी भी बछड़े चुराकर उस नटखट की स्तुति ही अंत में कर गए। इन्द्र के स्थान पर गोवर्धन पूजन की—गोपों ने और गोपाल ने। गिरिराज को सात दिन उँगली पर उठाकर ब्रज को इन्द्र-कोप की महावर्षा से बचा लिया। देवेन्द्र उस गिरिधारी को गोविन्द स्वीकार कर गए। कंस के प्रेषित वृषासुर, केशी आदि जब गोपाल के करों से मृत्यु प्राप्त कर कर्म-बन्धन मुक्त हो गए, तब उसने अक्रूर को भेजकर उन्हें मथुरा बुलाया, एक बड़े उत्सव के बहाने।'

बलराम, श्री कृष्ण, नन्दबाबा तथा दूसरे गोप कंस द्वारा आयोजित उत्सव देखने मथुरा पहुँचे। कृष्ण ने मथुरा में घूमते हुए कंस के धोबी को मारकर लोगों में कपड़े वितरित कर दिए। कंस की दासी कुब्जा द्वारा प्रदत्त चन्दन स्वीकार करके उसका कूबड़ दूर कर दिया। कंस द्वारा पूजित शिव धनुष तोड़कर मानो उसका गर्व तोड़ डाला।

दूसरे दिन, कंस कूटनीति का महोत्सव था। द्वार पर महागज कुबलयापीड़ को, जिसे कृष्ण-बलराम को मारने के लिए खड़ा किया गया था, मारकर दोनों भाइयों ने रंग-मंडप में प्रवेश किया। सर्वप्रथम चाणूर की कृष्ण से और मुष्टिक की बलराम से कुश्ती हुई। दोनों राक्षस धराशायी हुए। उनके मरते ही कूट, शल और तोमल नामक पहलवान दोनों भाइयों पर टूट पड़े। कृष्ण और बलराम ने उन्हें भी यमलोक पहुँचा दिया।

अपने पहलवानों को मरा देखकर कंस को बहुत क्रोध आया। उसने नन्द, उग्रसेन एवं वसुदेव को मार डालने की आज्ञा दी। आज्ञा सुनते ही कृष्ण कूदकर कंस के ऊँचे सिंहासन पर चढ़ गए और उसका प्राणांत कर दिया। माता-पिता देवकी और वसुदेव को कारागार से मुक्त करने के साथ-साथ महाराज उग्रसेन को बन्दीगृह से मुक्त कर पुनः राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया। यहाँ नन्द-यशोदा को पता लगा कि कृष्ण देवकी-वसुदेव का पुत्र है।

किशोर कृष्ण और बलराम की वय शिक्षा-प्राप्ति योग्य हो गई थी। अतः दोनों का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। ब्रह्मचारी के वेश में, कमर में मूँज की रस्सी में कौपीन बाँधकर, बगल में मृगछाला और हाथ में पलाश का दण्ड लेकर दोनों भाई अवन्तिकापुरी के समीप जिसे आजकल उज्जैन कहते हैं, सांदीपनि मुनि के आश्रम में पढ़ने गए। चौंसठ दिन में वेद-वेदांग, शास्त्र, उपनिषद् एवं चौंसठ कलाओं का अध्ययन कर गुरु दक्षिणा के रूप में गुरु के मृत पुत्र को यमराज से लौटा गुरुजी को अर्पित कर मथुरा आ गए।

मथुरा लौटने पर कृष्ण को 'कंस के श्वसुर जरासंध की चढ़ाइयों में उलझना पड़ा। वह सत्रह बार ससैन्य आया और पराजित होकर लौटा। अठारहवीं बार उसके आने की सूचना के साथ कालयवन भी आ धमका।' कृष्ण ने सोचा कि यदि मैं इस अजेय कालयवन से युद्धरत हो गया तो जरासंध आकर लोगों को तंग करेगा। उन्होंने देव-शिल्पी विश्वकर्मा को बुलाकर समुद्र के भीतर एक सुन्दर नगर बनाने की आज्ञा दी। यही कृष्ण की द्वारका नगरी थी। नगर-निर्माण होने पर कृष्ण ने यादवकुल को वहाँ पहुँचा दिया और उधर स्वयं

अकेले पैदल मथुरा से निकल पड़े। कालयवन भी रथ छोड़कर पैदल उनका पीछा करने लगा। कृष्ण दौड़ पड़े। कालयवन भी पीछे दौड़ा। कृष्ण आगे चलकर एक गुफा में घुस गए। यहाँ चिरसुप्त राजा मुचुकन्द को कृष्ण समझकर जब कालयवन जगाने लगा, तो उसकी नेत्राग्नि से वह भस्म हो गया।

मथुरा में जरासंध युद्ध के लिए तत्पर था ही, श्रीकृष्ण बलराम को लेकर पुनः दौड़ पड़े। जरासंध ने सेना के साथ उनका पीछा किया। दोनों भाई प्रवर्षण पर्वत पर चढ़ गए। जरासंध ने पर्वत के चारों ओर आग लगा दी। यह समझकर कि दोनों भाई मर जाएंगे, वह मगध लौट गया। इधर, कृष्ण और बलराम के लिए रथ लिए दारुक पहले से तैयार था। वे दोनों उस रथ में कूद पड़े और द्वारका पहुँच गए। इसलिए कृष्ण का नाम 'रणछोड़' पड़ा।

श्रीकृष्ण के विवाह के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उनकी आठ पटरानियाँ थीं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, भद्रा, मित्रविन्दा, कालिन्दी और लक्ष्मणा। इनमें रुक्मिणी तथा सत्यभामा का विशिष्ट स्थान था।

एक बार सहस्रभुजधारी वाणासुर ने श्री कृष्णचन्द्र के पौत्र अनिरुद्ध को बन्दी बना लिया। वाणासुर की पुत्री अनिरुद्ध से प्रेम करती थी। विवश हो कृष्ण को युद्ध करना पड़ा। भगवान् शंकर का भक्त होने के कारण भोले बाबा ने भी वाणासुर का पक्ष ग्रहण किया। कृष्ण ने वाणासुर को सहस्रबाहु से चतुर्भुज बना दिया और शंकर को नींद के वशीभूत कर दिया। अन्त में शंकर ने क्षमा-याचना करते हुए वाणासुर का जीवन-दान माँगा। उषा का विवाह अनिरुद्ध से हो गया।

इसी प्रकार अपने आपको वासुदेव कहने वाला राजा पौण्ड्रक, शिशुपाल का मित्र एवं शंकर का भक्त शाल्व, जो मयदानव निर्मित विमान से द्वारका नष्ट करने आया था एवं शाल्व का मित्र दन्तवक्त्र, जिसने कृष्ण पर आक्रमण किया, सभी नष्ट हो गए। शिशुपाल भरी सभा में उन्हें गालियाँ देने लगा। कृष्ण ने वचनबद्ध होने के कारण उसकी सौ गालियाँ क्षमा कर दीं, किन्तु इससे आगे जब वह गालियाँ देने लगा, तो कृष्ण ने चक्र से उसका सिर काट दिया।

श्रीकृष्ण की आज्ञा से मयदानव ने पाण्डवों के लिए एक विचित्र सभा-भवन बनाया। इसमें जल-कुण्ड भी भूमि से लगते थे। राजसूय यज्ञ के समय बन्धुओं सहित दुर्योधन सभा-भवन में पधारे। यज्ञोपरान्त एक दिन दुर्योधन उस जल-कुण्ड में गिर पड़ा। उसको जल में गिरते देख भीम और द्रौपदी हँस पड़े। दुर्योधन इससे बहुत क्रोधित हुआ। यही प्रसंग महाभारत-युद्ध का कारण बना।

द्यूत में हारे पाण्डवों की पत्नी एवं राजसूय-यज्ञ की साम्राज्ञी द्रौपदी जब भरी सभा में दुःशासन द्वारा नग्न की जाने लगी, तब श्रीकृष्ण ने उसके वस्त्र को अनन्त करके उसके सतीत्व की रक्षा की।

जब दुर्योधन ने पाण्डवों के विनाश के लिए दुर्वासा ऋषि को वन में भेजा, तो कृष्ण ने साग का एक पत्ता खिलाकर दुर्वासा और उनके शिष्यों का पेट फुला दिया और वे 'हम लोगों का पेट तो भर गया है', कहकर भाग गए।

भगवान् कृष्ण पाण्डवों के लिए दूत बनकर हस्तिनापुर गए। वहाँ उन्होंने कौरवों से पाण्डवों को मात्र पाँच गाँव देने का प्रस्ताव रखकर सन्धि कराने का प्रयास किया, किन्तु दुर्योधन अपनी हठ पर अड़ा रहा और उसने घोषणा कर दी—

‘सूच्यग्रं नैव दास्यामि, बिना युद्धेन केशव!’

‘अब शुरू होती है महाभारत की स्पर्धा। जब अर्जुन और दुर्योधन, दोनों कृष्ण से युद्ध में सहायता लेने के लिए आए तो कृष्ण ने अपनी पूरी नाटकीयता के साथ अर्जुन को चुनने का पहला मौका इसलिए दिया कि वह उनके पैरों की ओर बैठा था और नींद खुलते ही कृष्ण ने पहले उसे देखा था। पर इससे पहले जरासन्ध वध, शिशुपाल वध, चीरहरण के समय के प्रसंग घट चुके थे। जब लगा कि युद्ध लगभग अनिवार्य है तो कृष्ण ने एक आखिरी कोशिश दुर्योधन को समझाने की की। पर दुर्योधन ने कृष्ण को गिरफ्तार कर लेना चाहा तो कृष्ण ने उसे अपनी शक्ति दिखा दी और साफ बच निकले। युद्ध में कृष्ण ने हथियार न उठाने और सिर्फ अर्जुन का सारथिकर्म करने की प्रतिज्ञा की थी। पर जब लगा कि अर्जुन भीष्म को मारने में हिचकिचा रहा है तो फिर वे खुद टूटे रथ का पहिया उठाकर भीष्म को मारने दौड़े। अर्जुन उनके पाँव पड़, उन्हें लौटा लाए। फिर, कृष्ण ने ही पाण्डवों को सलाह दी कि खुद भीष्म से उनके मरने का तरीका पूछा जाए। वैसा हुआ और शिखण्डी की मदद से भीष्म को मार दिया गया। द्रोण को मारने के लिए कृष्ण ने ही युधिष्ठिर जैसे गौछाप आदमी से ‘अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा’ कहलवाया। जयद्रथ को अर्जुन के हाथों मरवाने के लिए कृष्ण ने ही सूर्यास्त का नाटक करवाया। रथ के धँसे पहिये को निकालने में व्यस्त कर्ण को मारने ने अर्जुन कुछ संकोच कर रहा था। उसे कृष्ण ने ही निस्संकोच किया और कर्ण का सिर धड़ से अलग करवाया। इससे पहले घटोत्कच पर कर्ण की शक्ति चलवा कर कर्ण को कमजोर कर अर्जुन को बचाने की नीति कृष्ण ने ही रची। दुर्योधन की जांघ पर गदा मार कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कृष्ण ने ही भीम को उकसाया।’

डॉ. सूर्यकांत बाली : भारतगाथा, पृष्ठ १८१, १८२ ।

भारतामृसर्वस्वं गीतायाः मथितस्य च।

सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्॥

‘पाण्डवों का एकमात्र वंशधर उत्तरा-पुत्र परीक्षित मृत उत्पन्न हुआ। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र ने उसे प्राणहीन कर दिया था। श्री कृष्ण ने उसे पुनर्जीवन दिया।

श्री कृष्ण ने सोचा कि ‘यदुवंश के लोग बहुत बलवान् हो गए हैं। मेरे चले जाने पर ये लोग प्रजा को कष्ट देने लगेंगे, क्योंकि इन्हें अपने बल का घमंड हो गया है। इसलिए यदि ये लोग आपस में लड़कर मारे जाएँ तो पृथ्वी का पूरा भार दूर हो जाएगा।’ यदुकुल के लड़कों द्वारा ऋषियों की हँसी उड़ाने पर उन्होंने यदुवंश के नाश का शाप दे दिया। फलतः समस्त यादव परस्पर कलह से कट मरे।

एक दिन जंगल में पेड़ की छाया में शांत भाव से वे विचार मग्न थे कि एक शिकारी के बाण ने उनके प्राण हर लिए। कितना एकांतिक अंत था उस योगेश्वर का जो जीवनभर दूसरों के लिए समर्पित रहे, कर्मपरायण रहे। उनका कोई कर्म अपने स्वार्थ परिपूर्ण प्रयोजन से अनुप्राणित या उसका पोषक नहीं रहा।

श्री कृष्ण की सबसे बड़ी देन गीता का उपदेश है। गीता का उद्देश्य है 'अनादि काल से अज्ञान में पड़े हुए जीव को परमेश्वर की प्राप्ति कराना।' परमेश्वर-प्राप्ति के दो साधन गीताकार ने बताए हैं—(१) ज्ञान-निष्ठा, (२) योगनिष्ठा।

'अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने आपको, अभिमान रहित होकर, उस परमेश्वर से मिला देना अर्थात् उस ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही ज्ञाननिष्ठा है।' इसको सांख्य-निष्ठा अथवा कर्म-संन्यास भी कहते हैं।

'यह जो दृश्यमान है उसके प्रति अनासक्ति, अनिच्छा, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और मन, वचन, कर्म से उसी प्रभु के अधीन हो जाना योगनिष्ठा है। यह योग-निष्ठा ही कर्मयोग है।'

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—'कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद् यदि गौएँ हैं, तो गीता उनका दूध है। संसार में जन्म लेकर हममें से हर एक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है।'

कर्मयोग का सम्पूर्ण महत्त्व बताते हुए श्री कृष्ण ने कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

मा कर्म फलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(२/४७)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः संगवर्जितः।

निर्वैरः सर्वभूतेषु, यः स मामेति पाण्डव॥

स्वार्थ को दृष्टि से किए कर्म 'गीता' को स्वीकार नहीं। गीता निष्काम कर्म की श्रेष्ठता ही स्वीकार करती है। 'शास्त्रकारों ने केवल ज्ञान (बुद्धि), केवल कर्म और केवल भक्ति (प्रेम) का निर्देश दिया था, किन्तु गीता में तीनों का समन्वय करके ज्ञान-कर्मयुक्त कृष्णभक्ति का उपदेश दिया गया है।' यही मोक्ष का सरलतम साधन है।

श्री तिलक ने गीता को अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा तथा संसार के साहित्य का बाल-बोध ग्रन्थ माना है। श्री अरविन्द ने कहा है—'गीता लोक-परलोक में, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता में सामंजस्य और सहयोग स्थापित करती है।' महात्मा गाँधी ने लिखा है—'आत्मार्थी को आत्मदर्शन का अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है।'

श्री कृष्ण भारतवर्ष की एक अमूल्य निधि हैं। वे सोलहकला पूर्ण महापुरुष माने गए हैं। उनका प्रत्येक रूप भारतीय जन-जीवन को अनुप्राणित करता है। उनकी 'बाल-लीलाओं के मनोरम आख्यान, गीता के रूप में महान् उपदेश और महाभारत के युद्ध में उनके विविध आयोजित कर्मों की कथाएँ आज घर-घर में प्रचलित हैं।' अतः आज घर-घर में कृष्ण को भगवान् मानकर उनकी उपासना की जाती है।

कृष्ण कृष्णोति यो मां स्मरति नित्यशः।

जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धारम्यहम्॥



हिन्दू राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने और संगठित करने वाले, देश के चारों कोनों पर स्थित चारों धामों के प्रति श्रद्धा केन्द्रित करने वाले, समाज में फैली विभिन्न पूजा-पद्धतियों में 'पंचायतन का पूजन' प्रारम्भ करवाकर समन्वय करने वाले, चार शंकराचार्यों की अध्यक्षता में भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित करने वाले महान् तपस्वी आद्य शंकराचार्य वस्तुतः आधुनिक हिन्दू धर्म के जनक थे।

केरल में परियार नदी के तट पर कालडी गाँव में धर्मनिष्ठ ब्राह्मण दम्पती शिवगुरु और आर्यम्बा साधन-सम्पन्न होते हुए भी संतान के अभाव के कारण दुःखी रहते थे। अपना यह दुःख दूर करने के लिए उन्होंने भगवान् शंकर की आराधना करने का निश्चय किया। ब्राह्मण दम्पती ने भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए त्रिचूर के चन्द्रमौलीश्वर मंदिर में घोर तपस्या की। आत्मा की पुकार परमात्मा की वाणी होती है। उन्हें पुत्र-प्राप्ति का आभास हुआ। तपस्या का उद्देश्य पूर्ण होने पर वे घर लौट आए। बैसाख शुक्ल दशमी को आर्यम्बा की कोख से जिस पुत्र-रत्न का जन्म हुआ, उसे भगवान् शंकर का वरदान जानकर शिवगुरु ने उसका नाम शंकर रखा।

सच्चाई तो यह है कि जिस प्रकार राजा भगीरथ की तपश्चर्या से गंगा ने स्वर्गलोक से अवतरित होकर न केवल भगीरथ के समस्त पूर्वजों का उद्धार किया था, अपितु वह भारत के जन-जन की सुख-सम्पत्ति का माध्यम बनी, उसी प्रकार ब्राह्मण-दम्पती की तपश्चर्या से ५०९ ई. पू. जिस शंकर रूपी गंगा का उद्भव हुआ, उसने माता-पिता की सन्तुष्टि के साथ ही हिन्दू धर्म का उद्धार करके भारतीय संस्कृति, सभ्यता और राष्ट्रीयता को शक्ति-सम्पन्न किया।

तीन वर्ष की अल्पायु में बालक शंकर का अक्षराभ्यास प्रारम्भ करा दिया गया। शंकर के गुरु यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गए कि यह बालक जिस बात को एक बार सुनता है उसको स्मृति-पटल पर अंकित कर लेता है। अद्वितीय प्रतिभाशाली शंकर ने पाँच वर्ष की आयु में ही समस्त लौकिक-साहित्य का अध्ययन कर वेद-पाठन के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर दिया। उनकी असाधारण योग्यता देखकर गुरुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए।

पाँच वर्ष की आयु में शंकर का उपनयन संस्कार हुआ तथा उन्हें वेदाध्ययन के निमित्त गुरुकुल भेजा गया। तीव्र बुद्धि शंकर ने वेद-वेदांगों का अध्ययन आरम्भ किया। वेद-मंत्रों का अर्थ उनके मस्तिष्क में आप ही आप स्फुरित होता जाता, मानों माता के दूध के साथ ही वे समस्त विद्या भी पी चुके हों अथवा समस्त ज्ञान पहले से ही उनके मस्तिष्क में संचित हो और अज्ञान का आवरण स्वयमेव हटता जाता हो। शंकर अध्ययन के साथ-साथ सहपाठियों को पढ़ाने भी लगे, अध्ययन में उनकी कमी पूरी करने लगे।'

इस अल्पायु में उन्होंने 'बालबोध-संग्रह' नामक एक ग्रन्थ की रचना कर डाली, जो आज भी विद्वद्वर्ग के सम्मुख बालक शंकर की बुद्धि की विलक्षणता का परिचायक है।

गुरुकुल में रहने वाले ब्रह्मचारी भिक्षा-पात्र लेकर गृहस्थी घरों में जाकर 'भगवति भिक्षां देहि' की आवाज लगाकर भिक्षा माँगते। इन ब्रह्मचारियों को अन्न देकर तत्कालीन समाज अपने को धन्य समझता। एक बार शंकर ने एक घर के सम्मुख जब 'भिक्षां देहि' की आवाज लगाई, तो गृहिणी ने अन्न के अभाव के कारण अत्यन्त व्याकुल होकर एक आँवला शंकर को भेंट किया। शंकर गृहिणी की मनोदशा समझ गए। गृहिणी दरिद्र ब्राह्मणी थी। ब्राह्मणी ने अपनी निर्धनता प्रकट कर दी। शंकर ने दरिद्र ब्राह्मणी को आशीर्वाद दिया, 'जगदम्बा तुम पर कृपा करेंगी।' कहते हैं कि तभी आकाश से सोने के आँवलों की वर्षा गरीब ब्राह्मणी के आँगन में हुई और उसकी निर्धनता समाप्त हो गई।

आठ वर्ष की आयु तक शंकर वेद-शास्त्रों में पारंगत हुए। वे 'आचार्य' की उपाधि से विभूषित हुए। शंकर 'शंकराचार्य' बन घर लौट आए।

घर आकर पितृ-देहावसान का समाचार सुनकर शंकर को हार्दिक दुःख हुआ। पिता का दाहकर्म और पैत्रिमेधिक कर्म पूर्ण किया। वे माता के स्नेह-बन्धन और पिता के वार्षिक श्राद्ध की दृष्टि से एक वर्ष तक घर में रहे। इधर, पति शोक में विह्वल माता आर्यम्बा दुर्बल हो गई थी। नदी स्नान के लिए जाना उनके लिए कठिन हो रहा था। एक दिन माता मार्ग में ही बेहोश होकर गिर पड़ीं। शंकर को जब यह ज्ञात हुआ, तो वे अपने मित्रों सहित पहुँचे और माता को घर उठा लाए।

इधर, माता यह अनुभव कर दुःखित रहने लगीं कि अब नदी-स्नान असंभव हो जाएगा। माता की वेदना शंकर के लिए असह्य हो उठी। अपने संगी-साथियों को इकट्ठा किया। नदी तट पर पहुँचे। मिट्टी खोद-खोद कर नदी के प्रवाह को बदल दिया। अब नदी उनके घर के पास बहने लगी। दृढ़ संकल्प की परिणति कार्य-सफलता की परिचायक है। आत्मविश्वास की सूचक है। कार्यक्षमता की द्योतक है।

शंकर घर में रहते हुए देश की दुरवस्था और धार्मिक हास से चिन्तित रहते। उन्होंने अनुभव किया कि धर्म के नाम पर अनाचार फैल रहा है। बौद्धमत को राज्याश्रय देने वाली केन्द्रीय सत्ता निर्बल हो रही है। वेद तथा सनातन धर्म का नाम लेना अपराध हो गया है। युद्ध में लीन राजा और असहिष्णु पुरोहित देश का सर्वनाश कर रहे हैं। इस समय राष्ट्रीय और आध्यात्मिक एकता की देश में आवश्यकता है। शंकर के हृदय ने कहा 'तुम्हारा कर्तव्य तुम्हें पुकार रहा है।'

इधर, केरल के नरेश राजशेखर ने शंकर की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें दरबार में आमंत्रित कर राजकवि बनने का निमंत्रण दिया। इतने बड़े पद का मोह भी शंकर को राष्ट्रहित की भावना से विमुख न कर सका।

एक दिन शंकर ने माता के सम्मुख संन्यासी बनने की इच्छा व्यक्त कर दी। एकमात्र पुत्र माता से अलग हो जाए, यह वियोग माता कैसे सहन कर सकती थी? माता ने शंकर को स्पष्ट इन्कार कर दिया। शंकर निराश न हुआ। माँ की अनुमति बिना वह संन्यास नहीं लेगा। शंकर को विश्वास था कि एक दिन उसे अनुमति मिल ही जाएगी।

एक दिन माता और पुत्र नदी-स्नान के लिए नदी तट पर पहुँचे। शंकर जल में उतरे। थोड़ी देर में शंकर चिल्लाया, 'अरी मैया री! मगर ने मेरा पाँव पकड़ लिया। अब तो मैं गया। तुम्हारे लिए तो मैं मर चुका। माँ, अब यदि तुम मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो शायद यह मगर मुझे छोड़ दे।'।

माता आर्यम्बा स्तब्ध रह गई। इकलौते पुत्र को मगर ले जा रहा है। उधर, शंकर चिल्लाए—'माँ, जल्दी निर्णय करो।'। माता ने पुत्र के जीवन के लिए संन्यास की आज्ञा दे दी, किन्तु एक प्रतिज्ञा करवा ली। 'मेरी मृत्यु के समय तू मेरे पास आ जाएगा।'। ग्राह ने पैर छोड़ दिया। शंकर नदी से संन्यासी बनकर निकले।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक 'जगद्गुरु श्री शंकराचार्य' में लिखा है, 'यह कथा कहाँ तक सत्य है, कहना कठिन है। ग्राह का पाँव पकड़ने पर भी शंकराचार्य को न ग्रसना तथा संन्यास की आज्ञा मिलते ही पाँव छोड़ देना आश्चर्य की ही घटना है। हाँ, एक महान् ध्येय की पूर्ति के लिए शंकराचार्य जैसे राष्ट्रनिर्माता तथा दार्शनिक का यह नाटक खेलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कुछ भी हो, पारिवारिक स्नेह की नदी में व्यक्तिगत स्वार्थ का जो ग्राह शंकराचार्य को डसना ही चाहता था, उससे वे अवश्य ही मुक्त हो गए तथा इस घटना ने, चाहे सत्य हो या असत्य, हिन्दू-समाज का इतिहास ही बदल दिया।'।

शंकर माता की चरण-वन्दना कर गुरु की खोज के लिए चल पड़े। वे अन्तःकरण की धनाढ्यता, आत्म-विश्वास की प्रबलता, प्रगल्भ बुद्धि का पथ-प्रदर्शन, कार्य के प्रति असीम श्रद्धा एवं ईश पर पूर्ण विश्वास लेकर गोकर्ण तीर्थ की ओर अग्रसर हुए। गोकर्ण तीर्थ में उनकी भेंट सहपाठी विष्णु शर्मा से हुई। वार्त्तालाप में शंकर ने अपने संन्यास की व्याख्या इन शब्दों में की, 'इस संन्यास में अलगाव नहीं, अपनाव है। विरक्ति नहीं, प्रेम है। हाँ, इस प्रेम में आसक्ति नहीं, बंधन नहीं, मोह नहीं, इसमें सुकुचितता नहीं, विशालता है। दुर्बलता नहीं, शक्ति है। व्यक्ति के लिए समाज का त्याग नहीं, समाज के लिए व्यक्ति का राग है।'। विष्णु शर्मा सहपाठी शंकर की बातचीत से इतना प्रभावित हुआ कि वह भी गुरु की खोज में शंकर के साथ चल पड़ा।

नर्मदा के तट पर अमर कंटक में उन्हें योगी भगवत् गोविन्द पाद के दर्शन हुए। शिष्य गुरु से मिला। प्रथम वार्त्तालाप में ही गुरु गोविन्दपाद बहुत प्रभावित हुए। वे अन्तर्मन से शंकर को पहचानने लगे। ठीक भी है, 'शिष्य तो गुरु की आत्मा की अभिव्यक्ति ही रहता है, उसके अन्तःकरण की प्रवृत्ति का पूरक रहता है। फिर, क्यों न एक-दूसरे को पहचानें?'।

गोविन्द भगवद्पाद ने जब शंकर के विचार जानने चाहे तो शंकर ने दस छन्दों में विस्तारपूर्वक उत्तर दिया। भगवद्पाद शंकर से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने शंकर को संन्यास की दीक्षा देना स्वीकार कर लिया।

संन्यासियों में सर्वोच्च 'परमहंस संन्यास' की दीक्षा शंकर को दी गई। कर्म-संन्यास ग्रहण करके शंकर गुरु के आश्रम में रहने लगे। शंकर जैसे प्रखर बुद्धि के शिष्य को पढ़ाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था, परन्तु गोविन्दपाद ने समस्त वेदान्त-सूत्र बड़ी योग्यता से उन्हें पढ़ाए।

प्रथम वर्ष में उन्होंने शंकर को हठयोग की शिक्षा दी। दूसरे वर्ष में राजयोग सिद्ध हुए। हठयोग और राजयोग की सिद्धि-प्राप्ति के फलस्वरूप शंकर बहुत बड़ी अलौकिक शक्ति के अधिकारी हो गए। दूरश्रवण, दूरदर्शन, सूक्ष्म देह से व्योम-मार्ग-गमन, अणिमा, लघिमा, देहान्तर में प्रवेश एवं सर्वोपरि इच्छा-मृत्यु रूप शक्ति के वे अधिकारी हो गए।

तृतीय वर्ष में उन्होंने ज्ञानयोग की शिक्षा प्राप्त की। श्रवण-मनन, ध्यान-धारणा, समाधि का प्रकृत रहस्य सिखा देने के बाद उन्होंने अपने शिष्य को साधनाक्रमानुसार अपरोक्षानुभूति के उच्च स्तर में दृढ़ प्रतिष्ठित कर दिया। ध्यानबल से समाधिस्थ होकर नित्य नव दिव्यानुभूति से शंकर का मन अब सदैव एक अतीन्द्रिय राज्य में विचरण करने लगा। उनकी देह में ब्रह्मज्योति प्रस्फुटित हो उठी। उनके मुखमंडल पर अनुपम लावण्य और स्वर्गीय हास झलकने लगा।

वर्षा-ऋतु के आगमन पर एक बार नर्मदा ओछे नर की भाँति उबल पड़ी। उसने कुलाचें मारकर भागना शुरू किया। शान्तिकाल में जीवन देने वाली नर्मदा भी भगवान् रुद्र के समान ताण्डव कर उठी। पृथ्वी पर जल-प्लावन हो गया। ग्रामवासी निरापद उच्च स्थानों पर चले गए। गुरु गोविन्दपाद कन्दरा में समाधिस्थ थे। जल की धार जब कन्दरा की ओर बढ़ने लगी तो संन्यासीगण गुरु के जीवन के लिए विह्वल हो उठे। प्रश्न था कि गुरु जी की समाधि भंग करवा कर सुरक्षित स्थान पर कैसे ले जाया जाये? शंकर तत्काल कहीं से एक मिट्टी का कुंभ ले आए और उसे गुफा के द्वार पर रख दिया। वे अन्य संन्यासियों को आश्वस्त करते हुए बोले, 'बाढ़ का जल इस कुम्भ में प्रविष्ट होते ही प्रतिहत हो जाएगा। गुफा में प्रविष्ट नहीं हो सकेगा।'

ऐसा ही हुआ। गुफा में नर्मदा का क्रोधित जल प्रविष्ट नहीं हो पाया, नर्मदा का स्रोत स्तम्भित हो गया। गुरु गोविन्दपाद समझ गए। शंकर की शिक्षा पूर्ण हुई। उन्होंने शंकर से पूछा, 'तुम्हारे मन में किसी प्रकार का सन्देह है क्या? कोई जिज्ञासा शेष है क्या?'

शंकर ने आनन्दित हो चरणस्पर्श कर कहा, 'भगवन्! आपकी कृपा से अब मुझे ज्ञातव्य अथवा प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है। आपने मुझे पूर्ण मनोरथ कर दिया है। अब अनुमति दें कि मैं समाहित होकर चिर निर्वाण लाभ करूँ।'

गोविन्दपाद ने शांत भाव से कहा, 'वैदिक धर्म के प्रचारार्थ अब तुम अविमुक्त क्षेत्र काशी धाम जाओ। वहाँ भवानीपति शंकर के दर्शन प्राप्त कर उनके आदेशों का पालन करो।'

गोविन्दपाद का कार्य समाप्त हुआ। उन्होंने सभी संन्यासी-शिष्यों को आशीर्वाद प्रदान कर समाधियोग से देह त्याग दिया। ग्यारह वर्ष की अल्पायु में योगसिद्ध तथा विकसित अतीन्द्रिय शक्ति सम्पन्न शंकर गुरु आज्ञा का स्मरण कर कुछ समय पश्चात् अन्य संन्यासियों सहित कर्मक्षेत्र वाराणसी की ओर चल पड़े।

उपनिषद्, वेदान्त-सूत्र तथा गीता हिन्दू धर्म की प्रस्थान-त्रयी के नाम से विख्यात हैं। धर्म के प्रत्येक आचार्य ने इनका सहारा लेकर ही अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया है। उपनिषद् श्रुति प्रस्थान, श्रीमद्भगवद्गीता स्मृति प्रस्थान तथा वेदान्त सूत्र न्याय प्रस्थान कहलाते हैं।

'महर्षि बादरायण व्यास ने समस्त वेद, उपनिषद्, संहिता, ब्राह्मण तथा स्मृतियों का

अध्ययन कर वेदों के कर्मकाण्ड-प्रधान एवं ज्ञानकाण्ड-प्रधान भागों का विभाजन करके ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन किया। कर्मकाण्ड के अति प्रबल हो जाने के कारण उसके वास्तविक रहस्य को न समझते हुए केवल यज्ञ-यागादि कर्मों में ही सन्तुष्ट रहने वाले तथा जीवन में दया, प्रेम और सहानुभूति से शून्य व्यवहार को प्रकट करने वाले दम्भी व्यवहार को देखकर ही तो भगवान् बुद्ध को वैदिक धर्म से घृणा हो गई थी और फलतः उन्होंने अपने अहिंसा प्रधान धर्म का उपदेश दिया, परन्तु भगवान् बुद्ध के अनुयायी वेदों का पूर्ण बहिष्कार करने के कारण शून्यवाद जैसे असत्य एवं अकल्याणकारी तत्त्व पर पहुँचे। महर्षि बादरायण ने जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया वह इन दोषों से परे था। कोरे कर्मकाण्ड की व्यर्थता बताते हुए उन्होंने परमज्ञान से उत्पन्न अद्वैत का ही प्रतिपादन किया।'

वाराणसी पहुँचकर मणिकर्णिका के निकट शंकर ने अवस्थान किया। नित्य गंगा स्नान, श्री विश्वनाथ एवं अन्नपूर्णा के दर्शन तथा ब्रह्मध्यान में वे निमग्न रहते। उपदेश-प्रार्थियों को वे अद्वैत-ब्रह्म तत्त्व का उपदेश देते। कुछ ही दोनों में उस सौम्य दर्शन बालक संन्यासी का अगाध पांडित्य, असाधारण शास्त्र-व्याख्यान-कौशल, अद्भुत मेधा और मधुर व्यक्तित्व सर्वत्र चर्चा के विषय बन गए। अनेक विद्वान् शंकर से वाद-विवाद में प्रवृत्त होने लगे। अपनी शंकाओं का अकाट्य उत्तर मिलने पर उन्हें आध्यात्मिक जीवन का नव-आलोक प्राप्त होता।

चोल देशीय सनन्दन नामक ब्राह्मण आचार्य शंकर का प्रथम संन्यासी शिष्य बना। सनन्दन में भगवान् नृसिंहदेव सिद्ध थे, जिनकी कृपा से उसे 'अभय' वर प्राप्त था। यही कारण है कि सनन्दन ने अनेक बार अपना जीवन विपत्ति में डालकर भी गुरु की प्राण-रक्षा की थी। वस्तुतः हनुमान् जी की भाँति वे शंकर के ऐकान्तिक अनुरक्त भक्त थे।

आचार्य शंकर के ज्ञान-चिन्तन और व्यवहार-परिवर्तन के लिए दो घटनाएँ घटीं, जिनके सम्मुख शंकर निरुत्तर थे।

ब्राह्म मुहूर्त में आचार्य शंकर शिष्यों सहित मणिकर्णिका घाट की ओर जा रहे थे। एक स्त्री मणिकर्णिका के संकीर्ण पथ को रोककर अपने मृत पति के सिर को गोदी में लिए विलाप कर रही थी। शंकर को स्नान में विलम्ब हो रहा था। मणिकर्णिका को जाने का अन्य कोई मार्ग था नहीं। उन्होंने स्त्री से कहा, 'माँ, शव को यदि तुम एक ओर हटा लो तो दूसरी ओर से हम निकल जाएँ।'

स्त्री ने कोई उत्तर नहीं दिया। आचार्य शंकर जब बार-बार अनुरोध करने लगे तो स्त्री ने कहा, 'महात्मन्, आप शव को ही हटाने को क्यों नहीं कह देते!'

यह सुनकर शंकर ने करुणापूर्ण कण्ठ से कहा, 'माँ, शोक में आप अप्रकृतिस्थ क्यों हो रही हैं? शव क्या कहीं हट सकता है? उसमें हट सकने की शक्ति ही कहाँ है?

'क्यों यतिवर! आपके मत में तो शक्ति-निरपेक्ष ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है। फिर शक्ति के बिना शव क्यों नहीं हट सकता?' स्त्री ने शान्त भाव से उत्तर दिया।

स्त्री का यह ज्ञानपूर्ण वाक्य सुनकर स्तम्भित हो आचार्य सोच में पड़ गए। उधर, शव और स्त्री अन्तर्धान हो गए।

शंकर ने अनुभव किया कि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। निर्विशेष ब्रह्म केवल द्रष्टा मात्र है।

एक बार पुनः गंगा स्नान के लिए जाते हुए एक और घटना घटी। सामने से एक चांडाल शृंखलाबद्ध चार कुत्तों को लेकर आ रहा था। शंकर ने चांडाल को कहा, 'अरे चांडाल, कुत्तों के साथ तुम एक ओर खड़े हो जाओ। हमें निकल जाने दो।'।

चाण्डाल ने शंकर की बात अनसुनी कर दी, तो शंकर ने उत्तेजित होकर कहा, 'अरे, रुको। रोको अपने कुत्तों को। हमारे लिए मार्ग छोड़ दो।'।

चाण्डाल ने अट्टहास करते हुए श्लोकबद्ध भाषा में कहा, 'तुम किसे हट जाने को कह रहे हो? आत्मा को या देह को? आत्मा तो सर्वव्यापी निष्क्रिय और सतत शुद्ध-स्वभाव है। यदि देह को एक ओर हटने को कह रहे हो तो देह तो जड़ है—वह कैसे हट सकता है? और तुम्हारी देह किस अंश में भिन्न है। तुम 'एकमेवाद्वितीयम्' इस ब्रह्म-तत्त्व में प्रतिष्ठित होने का मिथ्या अभिमान करते हो। तत्त्व-दृष्टि से क्या ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई भेद है?'

चाण्डाल के ज्ञान-गर्भित वचनों को सुनकर शंकर हतप्रभ रह गए। वे महादेव की स्तुति करने लगे—

पशूनां पतिं पापनाशं परेशं, गजेन्द्रस्य कृत्तिं वसानं वरेण्यम्।

जटाजूटमध्ये स्फुरद् गांग्यवारि महादेवमेकं स्मरामि स्मरामि॥

उधर, चाण्डाल और कुत्ते सहसा अन्तर्धान हो गए।

कहते हैं, भगवान् महादेव ने प्रत्यक्ष उपस्थित होकर शंकर के मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, 'तुम वेदान्त की निर्दोष व्याख्या द्वारा भ्रमसंकुल मतवादों का खंडन करके व्यासकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना करो एवं वेदान्त का मुख्य तात्पर्य जो ब्रह्मज्ञान है, उसकी प्रतिष्ठा करके वैदिक धर्म का सर्वसाधारण में प्रचार करो।'।

एक शुभ दिन आचार्य शंकर ने विश्वेश्वर एवं अन्नपूर्णा को प्रणाम कर शिष्यों सहित ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने के लिए बदरिकाश्रम की ओर प्रस्थान किया।

बारह वर्षीय बालक शंकर, अपनी शिष्य मण्डली सहित बदरिकाश्रम की ओर अग्रसर होते हुए सर्वप्रथम हरिद्वार पहुँचे। हरिद्वार हिमालय का प्रवेश द्वार है। वहाँ से वे प्राचीनकाल की यज्ञ-भूमि ऋषिकेश गए। विदुर जी की तपस्या-स्थली 'लक्ष्मण-झूला' से होते हुए व्यासाश्रम आए, जहाँ से मार्ग देव-प्रयाग की ओर जाता है। अलकनन्दा और भागीरथी का मिलन-स्थल देवप्रयाग हिमालय के पाँच प्रयागों में श्रेष्ठ तीर्थ है। देवप्रयाग से वे श्रीनगर पहुँचे। वहाँ से रुद्रप्रयाग होकर नन्दप्रयाग पहुँचे। नन्दप्रयाग के बाद ही बदरीक्षेत्र आरम्भ होता है, जो मन्दाकिनी और अलकनन्दा का मधुर-मिलन स्थल है। यहाँ पर ही महर्षि वशिष्ठ ने शिव से वर-प्राप्ति के लिए कठोर तप किया था। इसके आगे गरुड़-गंगा है, जहाँ परम भागवत गरुड़ ने भगवान् विष्णु के दर्शन के लिए अत्युग्र तपस्या की थी। वहाँ से वे ज्योतिर्धाम पहुँचे। वहाँ से उन्होंने पाण्डुकेश्वर की यात्रा की। वे चले जा रहे थे, पथकष्ट एवं प्राकृतिक दुर्योगों के साथ संग्राम करते हुए, कितने ही नद-नदी, हिंस्र जन्तुयुक्त निबिड़ वन, दुर्गम गिरिकन्दर, गिरिशृंग एवं सैकड़ों अन्य बाधाओं का अतिक्रमण

करते हुए। अन्ततः वे १०,२४४ फुट ऊँचे हिमश्रृंग बदरी क्षेत्र में प्रवेश कर गए।

हिमालय के सभी स्थान तपःपूत हैं, अतः वह 'देवतात्मा' कहलाता है। शंकर भी स्थान-स्थान पर मन्दिरों के दर्शन करते, धर्मोपदेश देते, प्रवचन और शास्त्रार्थ करते चलते थे। परिणामतः शंकर का अनुपम देह-लावण्य, ब्रह्मोपलब्धि की आनन्दोज्ज्वल मुखकान्ति, अन्तर्दृष्टि सम्पन्न प्रदीप्त नयन-युगल, सौम्यमूर्ति और सर्वोपरि उनके सुमधुर व्यक्तित्व ने सबके हृदय में आनन्द और विस्मय का युगपत् संचार कर दिया। श्रोता और शिष्य सभी अवस्था एवं सांसारिक ज्ञान में आचार्य की अपेक्षा बहुत बड़े-चढ़े थे, किन्तु शंकर शास्त्र-व्याख्या और अपने ब्रह्मानुभूति पुष्ट व्यक्तित्व से सभी को परितृप्त एवं संशयमुक्त कर रहे थे।

शंकर ने देखा कि बदरी विशाल के मन्दिर में सत्ययुग में ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठित चतुर्भुज नारायण के विग्रह के अभाव में शालग्राम शिला की पूजा होती थी। शंकर को दुःख हुआ। पंडितों ने बताया कि विग्रह की अनुपस्थिति का कारण चीनी दस्युओं के अत्याचार के कारण निकटवर्ती किसी कुण्ड में श्री विग्रह को छिपाकर रखा जाता है। विग्रह अब अप्राप्य है, यह जानकर आचार्य शंकर कुंड-जल में उत्तर गए। पुजारीगण विचलित हो हाहाकार कर उठे, 'यतिवर, इस कुण्ड में मत उतरिए। कुण्ड के साथ अलकनन्दा का संयोग है। अतः स्रोत आपको नदी गर्भ में खींच ले जाएगा।' आचार्य शंकर ने एक न सुनी और वे भग्न प्रतिमा लेकर निकल आए। उसे मन्दिर में प्रतिष्ठापित कर व्यासाश्रम की ओर चल पड़े।

व्यासाश्रम वह पवित्र स्थान है, जहाँ भगवान् बादरायण ने लक्षश्लोकी महाभारत की रचना की थी। यहाँ पहुँचने पर आचार्य शंकर ने कुछ दिन ध्यान में बिताकर ब्रह्मसूत्र के भाष्य की रचना आरम्भ कर दी। भाष्य-रचना और तदनन्तर शिष्यों को उसका अध्यापन उनका दैनिक कर्म बन गया।

आचार्य शंकर ने परम श्रद्धावान् शिष्य सनन्दन की परीक्षा ली, ताकि शिष्यों में उसके प्रति ईर्ष्या को शान्त किया जा सके। सनन्दन अलकनन्दा के पार स्वल्प दूरस्थ सेतु का अतिक्रमण करने लगे थे कि आर्त स्वर में शंकर ने पुकारा। सनन्दन ने गुरु पर कष्ट आया जाना और शीघ्रतम गुरु चरणों में पहुँचने के लिए प्राणों का मोह छोड़कर अलकनन्दा में कूद पड़े। देखते क्या हैं कि अलकनन्दा में कमल प्रस्फुटित हो उठे और सनन्दन उन्हीं कमलों पर पैर रखते हुए नदी तट पर पहुँचे। ईर्ष्यालु शिष्यगण विस्मित हो उठे और उन्होंने क्षमा माँगी। आचार्य शंकर ने उनका नाम 'पद्मपाद' रख दिया।

चार वर्ष तक व्यासाश्रम में आचार्य शंकर ने ब्रह्म-सूत्र, द्वादश उपनिषद्, भगवद् गीता, विष्णु सहस्रनाम और सनत्सुजातीय, इन १६ प्रसिद्ध ग्रन्थों की भाष्य-रचना पूरी की।

कार्य-सम्पन्न होने पर आचार्य शंकर हिमालय के अन्य तीर्थों—ज्योतिर्धाम, केदारनाथ होते हुए गंगा के उत्पत्तिस्थान गोमुखी के दर्शन करते हुए उत्तरकाशी की ओर चल दिए। आचार्य शंकर ने समस्त तीर्थों पर गृहस्थाश्रमियों को पंच-देवता की पूजा तथा पंचमहायज्ञ के अनुष्ठान के लिए उत्साहित किया। इस प्रकार समस्त पार्वत्य प्रदेश में थोड़े ही दिनों में एक महान् धर्म प्लावन के द्वारा वैदिक धर्म का पुनः प्रतिष्ठापन हुआ।

उत्तरकाशी पहुँचने पर आचार्य शंकर को भान हुआ कि उनका कार्य समाप्त हुआ

और उन्हें देवलोक के लिए प्रस्थान करना है। अतः वे अधिकांश समय समाधिमग्न रहने लगे। फिर भी, पद्मपाद आदि शिष्यों की प्रार्थना पर उन्होंने भाष्यादि का अध्यापन स्वीकार कर लिया। एक दिन आचार्य शंकर 'शारीरिक सूत्र भाष्य' पढ़ा रहे थे, तो एक वृद्ध ब्राह्मण उपस्थित हुए। उन्होंने शंकर से एक सप्ताह तक शास्त्रार्थ किया। शंकर गम्भीरता से प्रश्नों का उत्तर देते। पद्मपाद को लगा ब्राह्मण महर्षि वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं। उन्होंने आचार्य शंकर से अपना मत व्यक्त किया। शंकर सहमत थे। अगले दिन वृद्ध ब्राह्मण जब प्रश्न आरम्भ करने लगे, तो आचार्य शंकर ने कहा, 'महात्मन्, प्रश्न का उत्तर देने से पहले आपके श्री चरणों में मेरा एक निवेदन है। अपना परिचय प्रदान कीजिए। हमारी यह धारणा है कि आप स्वयं वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन हैं। किसी देवकार्य के साधन के लिए दूसरी मूर्ति में हमें छलने आए हैं। यदि यह सत्य है तो अपना स्वरूप हमें दिखाइए। मैं आदि-गुरु की वन्दना कर कृतार्थ को जाऊँ।'

शंकर के वचन सुन वृद्ध ब्राह्मण प्रसन्न हो उठे। 'तुम्हारा अनुमान सत्य है।' इतना कहकर उन्होंने तुरन्त विद्युत्-कान्ति जटाकिरीट शोभित यज्ञोपवीतधारी कृष्णसार-मृगचर्म परिहित वर्षणशील-मेघतुल्य विशालवपु का रूप धारण कर प्रसन्नवदन हो शंकर को आशीर्वाद दिया।

शंकर ने महर्षि वेदव्यास को अपने समस्त भाष्य समर्पित किए। महर्षि भाष्यों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए शुभावसर समझकर शंकर ने आयु पूरी होने की बात कहकर महर्षि वेदव्यास के सम्मुख समाधियोग से शरीर छोड़ने की इच्छा प्रकट की।

वेदव्यास जी स्तम्भित हो गए। कुछ देर सोचकर उन्होंने कहा, 'नहीं शंकर तुम्हारा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ। अभी विभिन्न प्रकार के मतवादों को पूर्णता प्रदान करना शेष है। वेदान्त की महिमा की घोषणा करके अद्वैत-ब्रह्मात्म-विज्ञान की प्रतिष्ठा करनी है। सर्वप्रथम महान् कर्मकाण्डी कुमारिल भट्ट को पराजित करो, फिर दिग्विजयीपंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित करना। इस समस्त कार्य और धर्म-पुनरुत्थान के लिए तुम्हारी १६ वर्ष की आयु और बढ़ गई है। अतः तुम बत्तीस वर्ष तक इस शरीर में निवास करोगे।'

महर्षि वेदव्यास की आज्ञा से वे हिन्दू-धर्म-रक्षक श्री कुमारिल भट्ट से मिलने चल पड़े। प्रयाग पहुँचने पर उन्होंने सर्वप्रथम पावन त्रिवेणी संगम में स्नान किया। विश्राममहेतु एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, तभी उन्हें ज्ञात हुआ कि श्री कुमारिल भट्ट गुरुवध के प्रायश्चित्त स्वरूप तुषानल^१ में प्रविष्ट हो रहे हैं। वे तुरन्त उस स्थान की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच कर आचार्य शंकर ने देखा कि पर्वत के समान तुष के ढेर पर कुमारिल उपविष्ट हैं और तुष में अग्नि संयोग किया गया है। आचार्य शंकर को देखकर कुमारिल ने प्रणाम किया। शंकर ने भी प्रत्युत्तर में प्रणाम किया। शंकर ने आगमन का कारण बताया, किन्तु कुमारिल ने कहा—मैं दो कारणों के प्रायश्चित्तस्वरूप जीवन समाप्त कर रहा हूँ—(१) बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनका जीवन-नाश (२) जैमिनी के मीमांसा दर्शन में एकनिष्ठ-चित्त से 'ईश्वर असिद्ध है' ऐसा प्रमाणित करना। हाँ, आप मेरे द्वारा जो कार्य

१. चावलों की भूसी की आग, जो बहुत धीरे-धीरे जलाकर प्राण लेती है।

करवाना चाहते हैं, उसे मेरे शिष्य मण्डन मिश्र के द्वारा करा सकते हैं। उसकी पराजय मेरी ही पराजय होगी। शास्त्रार्थ में मण्डन मेरी अपेक्षा किसी अंग में कम नहीं हैं। उस शास्त्रार्थ में आप मण्डन की पत्नी उभय भारती को मध्यस्थ बनाएँ, क्योंकि वे सर्वविद्या विशारदा हैं।

तुषानल सुलगता जा रहा था। चारों ओर हाहाकार की ध्वनि उठने लगी। एक महाप्राण महापुरुष आत्मोत्सर्ग कर रहा है। अग्नि का उत्ताप अनुभूत होने पर कुमारिल ने शंकर से प्रार्थना की 'हे महात्मन्, मैं अब अन्य चिन्ता न करूँगा। चित्त को परब्रह्म में समाहित करूँगा। आप क्षणभर प्रतीक्षा करके मुझे तारकब्रह्म का नाम सुनाइए। मैं अग्निस्पर्श का अनुभव कर रहा हूँ। आपके सामने ही मैं इस शरीर का त्याग करूँगा।' हृदयावेग से शंकर का मुखमंडल लाल हो गया। उन्होंने अति गम्भीर स्वर से तारक ब्रह्म का उच्चारण किया। देखते ही देखते जन-रुदन और आहों के बीच कुमारिल की जीवात्मा अमरधाम को प्रस्थान कर गई।

आचार्य शंकर वहाँ से मण्डन मिश्र का पता पूछते हुए माहिष्मती पहुँचे। जल लेने नदी की ओर जाती परिचारिकाओं से पता चला कि जिस द्वार पर शुक और शुकी परस्पर संस्कृत में बातचीत एवं ईश्वर-चर्चा करते हों, समझ लीजिए वही मंडन मिश्र का घर है। जिस समय आचार्य शंकर वहाँ पहुँचे उस समय मंडन मिश्र पितृ-श्राद्ध में व्यस्त थे। उन्होंने जैमिनी और कृष्ण द्वैपायन को वेदमंत्र-बल से बुलाया हुआ था। वे उनकी सेवा में लीन थे। संन्यासी को श्राद्ध कर्म में उपस्थित देख उन्हें बहुत क्रोध आया। प्रश्नोत्तर में मण्डन मिश्र का क्रोध सीमातीत होने लगा। ऐसे समय भगवान् व्यास ने कहा, 'मण्डन, ये यति हैं, अतः विष्णुस्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त ये अतिथि भी हैं, इनका यथोचित सत्कार करना ही चाहिए।' मंडन अत्यन्त लज्जित हुए और उन्होंने क्षमा माँग ली।

आचार्य शंकर ने स्पष्ट कर दिया कि आपके गुरु कुमारिल भट्ट के आदेश से मैं शास्त्रार्थ करने आया हूँ, कारण, वे तो स्वर्ग सिधार गए। गुरु-मृत्यु पर मंडन को बहुत शोक हुआ, किन्तु गुरुआज्ञा से वे शास्त्रार्थ को तत्पर हो गए। मंडन मिश्र की पत्नी उभय भारती मध्यस्थ बनीं। उभय भारती ने दोनों के गले में एक-एक माला पहना दी और निश्चय प्रकट किया कि जो हारेगा, उसकी माला मलिन हो जाएगी। १८ दिन तक शास्त्रार्थ चला और कोई भी पक्ष पराजित होता नजर नहीं आता था, किन्तु १८वें दिन मंडन मिश्र पराजित हो गए। उनके शरीर से पसीना निकलने लगा और माला मलिन हो गई। उभय भारती ने पतिपराजय की घोषणा कर दी। शर्त के अनुसार मंडन मिश्र आचार्य शंकर के शिष्य हुए, किन्तु उभय भारती ने कहा 'मेरे पति की पराजय अभी सम्पूर्ण नहीं हुई। मुझे पराजित करने पर ही आप मेरे पति को शिष्य बना सकते हैं।'

आचार्य शंकर ने स्त्री से शास्त्रार्थ करने में असमर्थता प्रकट की तो उभय भारती ने महर्षि याज्ञवल्क्य का गागी से तथा राजर्षि जनक का सुलभा से शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने के उदाहरण दिए और कहा, 'यदि आप शास्त्रार्थ में प्रवृत्त न हों तो पराजय मान लीजिए।'

इस पर १८ दिन तक पुनः शास्त्रार्थ चला। उभय भारती ने समझ लिया कि अन्य शास्त्र-विषयों पर आचार्य शंकर से जीतना सम्भव नहीं, तो उन्होंने कामकला पर प्रश्न पूछने शुरू किए। आचार्य शंकर ने संन्यासी से इन प्रश्नों को न पूछने का आग्रह किया, किन्तु उभय

भारती ने तर्कों से इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए शंकर को बाध्य किया। शंकर ने अन्ततः एक मास का समय माँगा और यह भी स्वीकृति प्राप्त कर ली कि वे कामशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर लिखित रूप में देंगे।

आचार्य शंकर चिन्तित अवस्था में शिष्य-मंडली सहित वन में जा रहे थे। उन्होंने देखा, अमरक नरेश मृत पड़ा है और रानियाँ एवं राजपुरुष देह को घेरे शोक प्रकट कर रहे हैं। आचार्य शंकर ने उचित समय जान एक गुफा में समाधि लगा ली और राजा की देह में प्रविष्ट हो गए। वे अपने परम शिष्य पद्मपाद को आज्ञा दे गए कि वे एक मास में लौटेंगे तब तक उनका समाधिस्थ शरीर सुरक्षित रखना।

राजशरीर में रहकर आचार्य कामकला को पूर्णतया जानने के लिए पंडितों से वात्स्यायन लिखित 'कन्दर्प शास्त्र' का अध्ययन करने लगे और साथ ही उभय भारती ने कामकला के सम्बन्ध में जो प्रश्न किए थे, उनके उत्तर रूप में उन्होंने एक ग्रंथ की रचना भी कर दी। पद्मपाद ने छद्मवेश से राजा अमरक के देहाश्रित आचार्य से भेंट की। शंकर ने अपने द्वारा लिखित ग्रन्थ पद्मपाद को सौंप दिया।

एक मास अनन्तर आचार्य शंकर पुनः अपने शरीर में आ गए और मंडन मिश्र की पत्नी को ग्रन्थ भेंट कर दिया। उभय भारती ने अपनी पराजय स्वीकार करते हुए कहा, 'यतीन्द्र, अब आपकी विजय पूर्ण हुई। मेरे पतिदेव आपका शिष्यत्व स्वीकार कर संन्यासी हो जाएँगे।'

उभय भारती ने योगारूढ़ हो पार्थिव शरीर छोड़ दिया। उधर, मंडन मिश्र संन्यासी बन सुरेश्वराचार्य बन गए।

अब शंकर शिष्यों सहित चालुक्य राज्य में विभिन्न तीर्थ स्थानों के दर्शन, देव-मन्दिरों के संस्कार तथा पूजा-प्रवर्तन करते नासिक की ओर बढ़े। वहाँ के अनेक तीर्थस्थानों के दर्शन करते, जनता को वेदमार्ग का अनुसरण कराकर स्वधर्मनिष्ठ होने का उपदेश देते श्रीशैल नामक प्रसिद्ध तीर्थ पर पहुँचे। शास्त्रार्थ और धर्मचर्चा में पराजित पंडित उनके अनुयायी बनते गए। श्रीशैल कापालिकों का गढ़ था। उसके राजा क्रकच को धार्मिक चेतना की इस धारा का पता चला तो वह विचलित हो गया। उसने कापालिक-प्रधान उग्रभैरव को आचार्य की हत्या के लिए नियुक्त किया।

उग्रभैरव ने आचार्य शंकर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और वह उनकी सेवा में लीन रहने लगा। एक दिन उसने शंकर को एकान्त में पा अपना छद्म मनोरथ बताया, 'कैलाशपति शंकर ने मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर मुझे वर दिया है कि यदि मैं किसी राजा या सर्वज्ञ महात्मा के मस्तक द्वारा रुद्र का होम कर सकूँ तभी मेरी मनोकामना पूर्ण होगी। आप सर्वज्ञ तथा परमदयालु हैं। संसार का कल्याण आपके जीवन का व्रत है। आपकी दया होने से मेरा मनुष्य जीवन सफल हो सकता है।'

आचार्य ने उसे बहुत समझाया, परन्तु उग्रभैरव रो-रोकर अपनी व्यथा तीव्र रूप में प्रकट करने लगा। अन्ततः आचार्य ने सोचा, 'यह नश्वर शरीर यदि किसी के पुण्यकार्य में लग जाए तो अच्छा है।' उन्होंने स्वीकृति दे दी, साथ ही चेतावनी दी कि यदि मेरे किसी शिष्य को पता लग गया तो तुम्हारा आयांजन पूर्ण न होगा।

अमावस्या के निश्चित दिन अर्धरात्रि में आचार्य शंकर सबको सोता छोड़ उग्रभैरव के द्वारा निर्दिष्ट एवं निश्चित स्थान पर पहुँच गए। उग्रभैरव ने आचार्य से कहा, 'प्रभो, शुभ मुहूर्त उपस्थित है, आप बलि के स्थान के पत्थर पर अपना सिर रख दीजिए। मैं आपका सिर लेकर होमकार्य पूर्ण करूँ।'

आचार्य ने कहा, 'तुम क्षण भर रुको। मैं समाधिस्थ हो जाऊँ, उसके बाद तुम अपना कार्य करना।'

उधर पद्मपाद ने स्वप्न में यह दृश्य देखा। उसने इष्टदेव नृसिंहदेव से गुरुदेव-रक्षा की प्रार्थना की। फलतः पद्मपाद में ही नृसिंह प्रविष्ट हुए। वे दौड़े हुए उसी स्थान पर पहुँचे। नृसिंह रूपी पद्मपाद ने उस कापालिक का संहार कर गुरुदेव की रक्षा की।

परिणामतः कापालिकों ने भी आचार्य के श्रीचरणों में आत्म-समर्पण कर दिया।

आचार्य शंकर की ख्याति उनसे आगे-आगे फैल रही थी। जहाँ भी जाते जनता उनके दर्शन करने और प्रवचन सुनने के लिए उमड़ पड़ती। पंडित लोग शास्त्रार्थ करके अपने ज्ञान की पिपासा शांत करते। वहाँ वे श्रीशैल प्रांत में गए। गोकर्णेश्वर में शैव सम्प्रदायों के महापण्डित नीलकण्ठ जब शास्त्रार्थ में पराजित हुए तो उन्होंने न केवल आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया, अपितु ब्रह्मसूत्र के स्वकृत शैव भाष्य को जल में प्रवाहित कर दिया।

वहाँ से आचार्य शंकर हरिशंकर तीर्थ, मूकाम्बिका (शारदा पीठ) होते हुए श्री वेली पहुँचे। यहाँ एक महापंडित प्रभाकर नामक ब्राह्मण का १३ वर्षीय पुत्र गूँगा था। प्रभाकर ने आचार्य जी के पैरों पर सिर रखकर पुत्र का गूँगापन दूर करने की प्रार्थना की। आचार्य ने बालक से पूछा—

'कस्त्वं, शिशो कस्य, कुतोऽसि गन्ता, किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि ?

एतद् वद त्वं मम सुप्रसिद्धं मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि।'

(हे शिशु, तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, कहाँ जा रहे हो? तुम्हारा नाम क्या है, कहाँ से आये हो, इन प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे प्रसन्न करो। तुम्हें देखकर मुझे विशेष आनन्द हो रहा है।) बालक ने प्रसन्न-वदन उत्तर दिया—

'नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ, न ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः।

न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥'

(मैं मनुष्य नहीं हूँ; देवता या यक्ष भी नहीं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं; ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी भी नहीं। मैं केवल निजबोधस्वरूप आत्मा हूँ।)

बालक के मुँह से उत्तर सुनकर प्रभाकर पंडित अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु शंकराचार्य ने स्पष्ट कह दिया कि यह बालक चिदानन्दस्वरूप है, अतः यह गृहस्थ के किसी कार्य का नहीं। आप इसे मेरे पास छोड़ दो। प्रभाकर ने पत्नी की स्वीकृति लेनी चाही।

घर जाकर बालक पुनः गूँगा हो गया। माता-पिता दुःखी हुए और अन्त में पुनः आचार्य के चरणों में कातर वाणी से गिड़गिड़ाने लगे, किन्तु आचार्य ने स्पष्ट कह दिया कि यह बालक आपके किसी काम का न होगा। उन्होंने स्मरण करवाया कि इसकी दो वर्ष की आयु में जब आप गंगा-स्नान कर रहे थे, तो यह बालक यमुना में डूबकर मर गया था। तब आपने समीपस्थ समाधिस्थ संन्यासी से रो-रोकर बालक का जीवन माँगा था। संन्यासी

ने दयाद्र होकर स्वयं शिशु में अपने प्राण प्रतिष्ठित कर दिए थे।

दम्पती को सब कुछ स्मरण हो आया। उन्होंने पुत्र को आचार्य के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। संन्यास-मंत्र से दीक्षित करने पर आचार्य ने बालक का नाम हस्तामलकाचार्य रखा। आगे चलकर यही बालक आचार्य के प्रधान चार शिष्यों में अन्यतम रहा।

श्रीवेली से आचार्य ने शृंगेरी की ओर प्रस्थान किया। 'दुःख-दुर्दशा से जर्जरित, संशय और अविश्वास से पीड़ित, आकांक्षा और अहंकार से अभिभूत आर्त व्यक्तियों के हृदय में सान्त्वना का अमृत सिंचन तथा आशा एवं आनन्द की वार्ता घोषित करते आचार्य 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति', उस भूमानन्द का मार्ग दिखाते चलने लगे। स्थानीय चालुक्य राजा को जब यह समाचार मिला, तो उसने अपने सेवकों को आचार्य की सेवा में भेज दिया।

शृंगेरी ऋषि प्रवर शृंग्य मुनि का आश्रम स्थल है। अतः तपोभूमि है। प्राकृतिक शोभा-समूह पार्वत्य प्रदेश है। अतः आचार्य जी ने यहाँ मठ-स्थापन का विचार व्यक्त किया।

राज-सेवकों ने कुटिया बना दी। मंदिर और मठ तैयार हो गए। आचार्य ने स्वयं श्रीयन्त्र की स्थापना कर मन्दिर का प्रतिष्ठाकार्य समाप्त किया। शतयुगों का स्थायित्व लेकर संसार के कल्याण के लिए आचार्य की विशेष इच्छा से शृंगेरी मठ स्थापित हुआ। मठ के उच्च आदर्श को और भी उज्ज्वल करके त्याग, तपस्या, स्वाध्याय और साधना के माध्यम से लोगों के धर्म-जीवन का गठन करने के लिए वे विशेष प्रयत्न करने लगे।

शृंगेरी में एक ब्राह्मण युवक आनन्द गिरि आचार्य का शिष्य बना। इस युवक ने न केवल आचार्य की, अपितु अन्य शिष्यों की अहर्निश सेवा करके उनके चित्त को मोह लिया। इस निरक्षर गिरि में ध्यान और सेवा से अध्यात्म ज्ञान का प्रकाश हुआ। वह भी संन्यास मन्त्र से दीक्षित होने पर तोटकाचार्य कहलाया।

शृंगेरी में सुरेशाचार्य ने गुरु आज्ञा से सम्पूर्ण सूत्र-भाष्य की टीका लिखी, जिसका नाम रखा 'विजय डिण्डिम'। यहाँ से सुरेशाचार्य गुरु-आज्ञा से पृथक् हो तीर्थाटन करने चल पड़े। आगे चलकर वे अपने मातुल के यहाँ पहुँचे। मामा कर्मकांडी पंडित थे। जब टीका पढ़ी तो उसे लगा कि यदि यह टीका प्रचारित हो गई तो हमारा कर्मकांड लोप हो जाएगा। अतः प्रवचना करके न केवल वह टीका होम कर दी, अपितु विष भक्षण करवाकर उन्हें पागल भी बना दिया। जब थोड़ा ठीक होने पर वे गुरु चरणों में शृंगेरी जाने लगे तो पता चला कि आचार्य केरल चले गए हैं। पद्मपाद केरल के लिए चल पड़े।

एक दिन आचार्य शंकर को प्रवचन करते हुए मुँह में माता के दूध का-सा भान हुआ। वे प्रवचन करते हुए रुक गए और समाधि लगाकर तथ्य ज्ञात किया। उन्होंने शिष्यों को कहा, माता की मृत्यु निकट है, वे मुझे स्मरण कर रही हैं। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि मैं अन्तिम समय माता के समक्ष हूँगा। अतः मैं केरल जाऊँगा।'

आचार्य शंकर योगावलम्बन पूर्वक आकाशमार्ग से देवदूत के समान केरल में पहुँच गए।

माता रुग्ण शय्या पर थी। पास ही एक वृद्धा सेविका और एक सगोत्रीय दरिद्र ब्राह्मण बैठा था। शंकर को पा माता का हृदय उबल पड़ा। पुत्र-स्नेह जताया। शंकर ने माता की

मृत्यु सन्निकट जानकर उन्हें परब्रह्मतत्त्व सुनाया। माता ने कहा, 'बेटा मैं अशिक्षिता स्त्री हूँ। मन-वाणी से परे उस निर्गुण परब्रह्म को कैसे जान सकूँगी। किसी देव विग्रह का दर्शन कराओ।'।

माता की इच्छा पर शंकर ने भुजंगतप्रयात छन्द में अष्टमूर्ति महादेव का स्तोत्र रचकर पाठ किया। महादेव जी ने प्रसन्न हो उसकी माता को लेने अनुचर भेज दिए। शिवदूतों को देखकर माता भयभीत हुई तो आचार्य शंकर ने प्रार्थना कर उन्हें वापिस भेजा। लक्ष्मीपति विष्णु का स्तवन किया और विष्णु के दूत माता को बैकुण्ठ लोक में ले गए।

माता की इच्छा से शंकर ने जब अन्त्येष्टि क्रिया करनी चाही, तो कुटुम्बियों ने उत्तेजित होकर विरोध किया—'संन्यासी होने के कारण तुम्हें माता का क्रिया-कर्म करने का कोई अधिकार नहीं।'।

दुःखित आचार्य ने वृद्धा सेविका की सहायता से घर के प्रांगण में ही माता की चिता तैयार की। गाँव में आग भी न मिली, तो लकड़ी की रगड़ से आग उत्पन्न कर उन्होंने अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।

केरल का राजा राजशेखर आचार्य शंकर के आगमन की बात सुनकर उनके दर्शनों के लिए चल पड़ा। राजा ने दुःखित आचार्य को देखकर ग्रामवासियों और शंकर के कुटुम्बियों को राज्य-निकाले का आदेश दिया, तो सबने क्षमा माँगी। राजा आचार्य शंकर का समुचित प्रबन्ध कर वापिस चला गया।

समाज की धार्मिक और सामाजिक स्थिति परिवर्तन के लिए राजा ने आचार्य शंकर से प्रार्थना की कि आप समाज-संस्कार निर्देशक निबन्ध लिख दीजिए। आचार्य ने स्मृति की विधियाँ बताकर चौंसठ अनुशासन युक्त एक छोटा-सा स्मृति-ग्रन्थ तैयार करवा दिया।

पंडितों की एक सभा में ग्रन्थ की आलोचना हुई, किन्तु आचार्य के उत्तर से निरुत्तर हो पंडितों ने एक चाल चली। राजा से प्रार्थना की। पचास मील में फैले केरल राज्य के दोनों छोरों पर दो सभा एक ही दिन आयोजित कर उनमें 'शंकरस्मृति' पर विचार किया जाए। राजा असमंजस में था कि यह असम्भव कार्य कैसे सम्पन्न होगा? किन्तु आचार्य शंकर ने चुनौती स्वीकार की।

ब्राह्मणों की कुचेष्टाएँ निरर्थक सिद्ध हुई। आचार्य शंकर योग शक्ति के प्रभाव से कायव्यूह की रचना कर निर्दिष्ट समय पर दूसरी सभा में उपस्थित हो गए। दोनों सभाओं में शास्त्र-सम्मत उत्तर देकर उन्होंने विरोधियों को निरुत्तर कर दिया, किन्तु जब आचार्य ने प्रश्न किये तो पण्डित उत्तर न दे सके और उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

राजा के आग्रह पर शंकर ने कुछ दिन केरल में रहने की प्रार्थना स्वीकार कर ली। उधर द्रुतगामी वार्तावह (दूत) के द्वारा शृंगेरी में अनेक शिष्यों को केरल आने का समाचार भेजा।

शंकर का स्पष्ट मत था, "केवल 'निरग्नि' और 'निष्क्रिय' होकर कर्म में विरति ही वास्तविक संन्यास नहीं है, परन्तु कर्म फल में अनासक्ति और इहलोक तथा परलोक में भोगसुख में वैराग्य होने पर भगवान् की प्रीति के लिए लोककल्याण कर कर्मानुष्ठान ही यथार्थ संन्यास है। जो संसार के हित के लिए इस प्रकार के कार्य करते हैं, वे ही यथार्थ

में संन्यासी भी हैं। उनका मत है कि आत्म-ज्ञान लाभ के पूर्व तक कर्मफल की आकांक्षा छोड़कर ईश्वर में फल का अर्पण करते हुए सारे शास्त्र-विहित कर्मों का अनुष्ठान ही सच्चा कर्मयोग है।''

‘ज्ञानलाभ न होने तक कर्म का परित्याग करना अनुचित है। उससे इहलोक और परलोक, दोनों की हानि होती है।’

‘इस प्रकार दण्ड-कमण्डलुधारी मुण्डित-मस्तक सौम्य-दर्शन ज्योतिष्मान् तरुण यति शंकर का चित्र एक दिव्य प्रेरणा तथा शत-शत हिन्दुओं के प्राण में धर्म-चेतना उद्बुद्ध कर रहा था। उन्होंने धीर-शान्त पदक्षेप में समग्र अखण्ड भारत, कश्मीर, नेपाल और वर्तमान भारत के बाहर के अनेक देशों में पदयात्रा करके उन देशों के मन्दिरों का यथोचित संस्कार किया। पूजा आदि का प्रचलन कर विरुद्ध मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ तथा शास्त्र-व्याख्या आदि के द्वारा सनातन वैदिक धर्म की शीतल छाया में आश्रय प्रदान तथा कुमार्ग गामियों का शुभ मार्ग परिचालित किया है।’

शृंगेरी से अनेक शिष्य केरल पहुँच गए और पद्मपाद भी। पद्मपाद ने अश्रुपूरित नेत्रों से जब अपनी कहानी सुनाई तो आचार्य ने सान्त्वना देते हुए कहा, ‘वत्स! वृथा शोक न करो। प्रारब्ध कर्म के विषमय फल से किसी को परित्राण नहीं है। जिस दुःख का प्रतिकार ही नहीं, उसके सम्बन्ध में धैर्यावलम्बन ही श्रेयस्कर है। भाष्य की टीका नष्ट हो गई है, इसमें भी शोक करने का कोई कारण नहीं है। एक ब्रह्म वस्तु को छोड़कर सारा प्रपंच ही मिथ्या है। बेटा, शृंगेरी में रहते हुए तुमने जिस टीका की रचना कर मुझे सुनायी थी, वह मुझे अब भी स्मरण है। तुम लिख लो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुमने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार सूत्रों की जो टीका लिखी थी, वही तुम्हें अमर बनाए रखेगी। तुम शोक का परित्याग करो।’

आचार्य शंकर की यात्रा सर्वथा सुखप्रद ही रही हो, ऐसा नहीं। अनेक स्थलों पर तो उनके प्राणों पर संकट आए। दो-तीन उदाहरण प्रस्तुत हैं—

तुलाभवानी में शाक्त वामाचारियों का प्राधान्य था। उनमें बहुत से वीराचारी, पश्वाचारी, वामाचारी तथा कौलाचारी थे। उन्होंने मदिरा-मांस सेवन और नारी-भोग द्वारा समाज के नैतिक जीवनस्तर को विशेष रूप से कलुषित कर डाला था। उनके आसुरिक धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप जनसाधारण कुपथगामी होकर अनाचार तथा व्यभिचार में लिप्त था। एक दिन कुछ वामाचारी आचार्य सम्मुख आए और गाली देने लगे। कुछ शांत होने पर उन्होंने प्रश्न किया, ‘आप वन्ध्यापुत्र के समान अवास्तविक अद्वैतज्ञान-लाभ में मत्त हैं। जब प्रलयकाल में भी भेदज्ञान रहता है तो अद्वैतज्ञान का स्थान ही कहाँ? जो संसार के आदि कारण हैं, वही शिव की विद्यारूपिणी महाशक्ति हैं। हम लोग उन्हीं के उपासक हैं।’

आचार्य ने उत्तर दिया, ‘आत्मा रहित अनित्य प्रकृति की उपासना से मुक्ति नहीं मिल सकती। इन्द्र परमेश्वर हैं, माया के द्वारा इन्द्र अनेकानेक रूप धारण कर लेते हैं। जो चिदात्मा हैं, वह तो प्रकृति से भी परे हैं। वह परमात्मा भूत और भविष्य के ईश्वर हैं। उस परमात्मा के ध्यान के बिना मुक्ति नहीं होती। ××× शास्त्र का विधान है कि ब्राह्मण कभी कलंज (निषिद्ध वस्तु) भक्षण और सुरापान न करे। आप लोग मद्यमांस का सेवन कर अनार्य हो

गए हैं। ब्राह्मण धर्म से आप सब भ्रष्ट हो गए हैं। अतः आपके लिए स्वयं को ब्राह्मण कहकर अपना परिचय देना अपराध है। प्रायश्चित्त करके परब्रह्म में आत्म-समर्पण पूर्वक मुक्ति की चेष्टा कीजिए।'

इस धर्मोपदेश का बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ा और उनके विरोधी वर्णाश्रमोचित धर्मानुष्ठान में ब्रती हो गए।

इसी प्रकार कर्नाट-उज्जयिनी में कापालिकों का वर्चस्व था, जहाँ धर्माचरण के नाम पर पाशविक कर्मों का अनुष्ठान होता था। राजा सुधन्वा चिंतित थे। आचार्य प्रवर का जब आगमन हुआ तो कापालिकों के गुरु क्रकच ने अपनी सेना आचार्य शंकर और उनके शिष्यों पर आक्रमण करने हेतु भेजी। राजा सुधन्वा को ज्ञात हुआ तो उसने राज्य की सेना भेजी। दोनों का युद्ध हुआ। कापालिक सेना परास्त हुई। इस पर क्रकच स्वयं स्वामी जी का संहार और अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने हेतु नर-कपाल लेकर आया। उसने ध्यान लगाकर संहार-भैरव का आह्वान किया। दसों दिशाओं को प्रकम्पित करते संहार-भैरव उपस्थित हुए। क्रकच ने नतमस्तक हो आचार्य शंकर के प्राणनाश की प्रार्थना की। संहार-भैरव ने यह कहकर कि 'शंकर मेरा ही अंशसम्भूत है। तूने इनका अपमान किया है।' उनका सिर काट दिया।

क्रकच के मरने के साथ ही कापालिकों ने व्यभिचार छोड़ दिया और वे सन्ध्या-वन्दन, पंचदेव की पूजा तथा पंचमहायज्ञानुष्ठान में रत हुए। इस प्रकार वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई।

×

×

×

इससे भी भयंकर प्रहार की एक घटना अत्यन्त रोमांचक है। कामरूप के बौद्ध प्रभावान्वित तांत्रिकों ने अभिनवगुप्त को नेता बनाकर आचार्य से शास्त्रार्थ किया। अभिनवगुप्त प्रसिद्ध पंडित, तांत्रिक एवं ब्रह्मसूत्र पर शक्ति भाष्य के रचयिता थे। शास्त्रार्थ में अभिनवगुप्त पराजित हुआ। उन्होंने विचार किया कि जब तक शंकर जीवित हैं, तंत्रमत का हास निश्चित है। अतः शंकर का विनाश करना चाहिए। इस दुर्भाव के साथ वे शंकर के शिष्य बन गए। विशिष्ट ब्रती बनकर शंकर के समीप रहने लगे और साथ ही उनके प्राणनाश के लिए गुप्त रूप से अभिचार क्रिया के अनुष्ठान में लगे रहे।

परिणामतः आचार्य को असाध्य भगन्दर रोग उत्पन्न हो गया। मलद्वार से पीप और रक्त स्राव होने लगा। आचार्य शांत, अटल और अचल रहे। गुरु के पावन शरीर की इस प्रकार समाप्ति होते देख शिष्यों में चिन्ता व्याप्त हो उठी। शिष्यों की विशिष्ट प्रार्थना पर आचार्य ने वैद्य बुलाने की स्वीकृति दे दी। वैद्य भी असफल हो, क्षमा-याचना करके लौट गया।

तत्पश्चात् दो ब्राह्मण बालक वैद्य रूप में उपस्थित हुए। ग्रन्थकारों का कथन है कि वे अश्विनी कुमार ही थे, जो बालक वेष में थे। रोग की अवस्था जानकर वे बोले, 'हे यतिवर, आपके इस रोग की चिकित्सा असम्भव है, क्योंकि दूसरे की मंत्रशक्ति के प्रभाव से इस रोग की उत्पत्ति हुई है। केवल दैव-उपाय करने पर ही इस रोग का प्रतिकार हो सकता है।'

पद्मपाद अत्यन्त व्यथित हुए। रात्रि में उन्हें इष्ट देव भगवान् नृसिंहदेव का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने पद्मपाद को समझाया, 'यह जो भगन्दर दिखाई पड़ता है, वह किसी तांत्रिक अभिचार का फल है। यदि तुम ओंकार मंत्र से प्रत्यभिचार कर सको तो तुम्हारे गुरु निरामय हो जाएँगे, अन्यथा उनका जीवनान्त होगा।'

पद्मपाद ने आचार्य प्रवर से रहस्य प्रकट करते हुए प्रत्यभिचार की आज्ञा चाही, किन्तु गुरुदेव तैयार न हुए, किन्तु पद्मपाद के विशेष आग्रह ने आचार्य शंकर की मौन स्वीकृति ले ली।

अभिनव गुप्त सब कुछ देख और सुन रहे थे। पद्मपाद ने प्रत्यभिचार आरम्भ किया, तो अभिनव गुप्त घबराए और मंत्रशक्ति की सहायता से अपनी रक्षा का उपाय करने के लिए अनुष्ठान करने लगे। दोनों पक्षों की मंत्र-शक्ति में भीषण संग्राम होने लगा। अन्ततः पद्मपाद विजयी हुए। थोड़े ही दिनों में अभिनव गुप्त के शरीर में भगन्दर रोग उत्पन्न हुआ। वह लोकलज्जावश अपने घर चला गया, जहाँ कुछ काल पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। आचार्य शंकर शनैः-शनैः स्वस्थ हो गए। वहाँ का पूरा तांत्रिक वर्ग भयभीत हो अद्वैत-सिद्धान्त में विश्वास करने लगा।

धर्म के नाम पर पाखण्ड, संकीर्ण दृष्टि और नाम-यश की आकांक्षा मनुष्य को कैसा नीच, निर्दय और धर्मान्ध कर सकने में समर्थ है, अभिनव गुप्त का कार्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आचार्य शंकर क्रमशः कांचीपुरम्, ताम्रपर्णी, वेंकटाचल, विदर्भ, कर्नाटक, उज्जयिनी, आंध्रप्रदेश, कलिंग, जगन्नाथपुरी, मगध, यमस्थपुर होते हुए प्रयाग पहुँचे। उन्हें हिन्दू, बौद्ध तथा जैन मत के लगभग ८० प्रधान सम्प्रदायों के साथ शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होना पड़ा था।

'बौद्धों और जैनों की बात छोड़ देने पर भी हिन्दू धर्मावलम्बी लोग यथार्थ वैदिक धर्म से विच्युत होकर अनेक संकीर्ण मतवादों में विभक्त हो गए थे। उसका प्रधान कारण था बौद्ध प्रभाव के फलस्वरूप वेद में अनास्था हो जाना। परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि प्रत्येक भ्रान्त मतावलम्बी हिन्दू अपने मत को अभ्रान्त, वेदानुगामी तथा परम सत्य की प्राप्ति का एकमात्र पथ समझता था। जिस वेद के अवलम्बन से सनातन हिन्दू-धर्म की अनेक शाखाओं और मतवादों की उत्पत्ति हुई थी, वह वेद ही विस्मृति के अतल तल में निमज्जित हो गये थे। सैकड़ों वर्षों तक बौद्धों के अपप्रचार के फलस्वरूप वेद के आप्तत्व और नित्यत्व के सम्बन्ध में हिन्दुओं के मन में संशय उत्पन्न हो गया था। इस कारण शाखा-प्रशाखाओं की तरह हिन्दू धर्म के विभिन्न मतवाद वेदरूप जीवन-स्रोत से विच्छिन्न हो गये थे। धर्मसाधन प्रायः बाहरी चिह्नधारण, आचार-अनुष्ठान और कृच्छ-साधन में परिणत हो गया था। शंकराचार्य के जन्म के पूर्व हिन्दू धर्मावलम्बी लोगों ने वैदिक आचार से भ्रष्ट होकर विविध प्रकार के विकृत (मतों) का आश्रय ग्रहण कर लिया था।'

आचार्य शंकर ने वेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा और हिन्दू धर्म के सभी मतवादों का संस्कार करके जनसमुदाय को वेदानुगामी कर लिया था। वेद का प्रचार भी उनका अन्यतम प्रधान अवदान है।

प्रयाग से वाराणसी और वहाँ से विशाल दिग्विजय वाहिनी के साथ सशिष्य आचार्य

शंकर सौराष्ट्र की ओर बढ़े। अवन्ति प्रदेश में बाण, मयूर, दण्डी और पण्डितों को शास्त्रार्थ में हराकर उन्हें शिष्य बनाया। बौद्ध और जैन पण्डित भी आचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित हुए। शैव, वैष्णव, पाशुपत, शाक्त आदि सम्प्रदाय के विद्वानों ने भी अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

वहाँ से गिरिनार, सोमनाथ, प्रभास गए। द्वारकापुरी से कोंकण, गुर्जर (गुजरात) और पुष्करतीर्थ आदि होते हुए सिंधुदेश में आये। सिंधुदेश से आचार्य शंकर अनेक तीर्थों, ग्रामों, नगरों तथा जनपदों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए गांधार (वर्तमान काबुल और पेशावर) पहुँचे। वहाँ से वे वाहिक प्रदेश, कम्बोज, दरद होते हुए कश्मीर में प्रविष्ट हुए।

भारतीय संस्कृति का प्रधान केन्द्र शारदा पीठ यहीं अवस्थित था। इसी में वाग्देवी सरस्वती का प्रसिद्ध देवालय था। इस देवालय में सर्वज्ञपीठ नामक एक पीठ स्थापित है। केवल सर्वशास्त्र विशारद ही नहीं, अपितु परा विद्या प्राप्त कर ब्रह्मलीन में प्रतिष्ठित सर्वज्ञ ही इस पीठ पर बैठने का अधिकारी होता था। समस्त भारत के प्रकाण्ड पण्डित इस पीठ की रक्षा करते थे।

आचार्य शंकर जब इस पीठ की ओर बढ़े, तो उन्हें कणाद-मतावलम्बी वैशेषिक, गौतम मतावलम्बी नैयायिक, कपिल मतावलम्बी सांख्य, जैमिनि मतावलम्बी मीमांसक, बौद्ध सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक तथा जैन श्वेताम्बर और दिगम्बर पंथी पंडितों से शास्त्रार्थ करना पड़ा। शास्त्रार्थ ने यशस्वी शंकर के लिए मंदिर का द्वार खोल दिया और सर्वज्ञ पीठ पर उपविष्ट होने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब शंकर की प्रसिद्धि दिग्दिगन्तर में फैलने लगी।

आचार्य शंकर ने श्रीनगर में भगवती की उपासना में १०४ श्लोक लिखे हैं जो 'सौन्दर्य-लहरी' या 'आनन्द लहरी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः आचार्य शंकर शुष्क अद्वैतवादी ही नहीं थे, बल्कि व्यावहारिक क्षेत्र में लोक-संग्रहार्थ उनका यह द्वैतभाव विलास परम माधुर्यमय है।

स्वामी अपूर्वानन्दजी ने आचार्य शंकर के दर्शन को समझाते हुए लिखा है 'आचार्य शंकर शैव को वैष्णव और वैष्णव को शैव बनाना पसन्द नहीं करते थे। बल्कि हर एक को वे अपने-अपने अभीष्ट देवता की ब्रह्म-प्रतीक के रूप में उपासना करने के लिए ही उत्साहित करते थे। यद्यपि आचार्य ने प्रधानतः अद्वैत-वेदान्त अर्थात् अद्वैत-ब्रह्मतत्त्व का प्रचार किया था, तथापि उन्होंने किसी देवी-देवता पर अननुराग का प्रदर्शन नहीं किया। बल्कि स्तोत्रादि द्वारा उनके प्रति गम्भीर श्रद्धा ही व्यक्त की है। उन्होंने स्वयं अद्वैत-ब्रह्मज्ञान में सुप्रतिष्ठित रहकर भी लोकहितार्थ व्यावहारिक क्षेत्र में सर्वसाधारण के लिए उपयोगी वैदिक धर्म का एक विराट् रूप तथा सार्वजनीनता प्रकट करने के लिए सगुण ब्रह्म का प्रतीक मानकर विभिन्न देवी-देवताओं की भी पूजा-अर्चना की है। आचार्य के जीवन में सभी ब्रह्म है (सर्व खल्विदं ब्रह्म) यह महावाक्य यथार्थ रूप से प्रकटित हुआ है।

उन्होंने और भी कहा है कि केवल ब्रह्मज्ञान से ही कैवल्यमुक्ति होती है। मुक्ति में

जीव अपन जीवभाव छोड़कर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। किन्तु देवी-देवताओं की उपासना से चित्त की एकाग्रता होती है तथा उन-उन देवी-देवताओं की प्रसन्नता का लाभ भी होता है। वेदज्ञान उपासना का अंग है तथा अधिकारी-भेद से साधकों के लिए उपासना का भी प्रयोजन है। सभी निर्गुण ब्रह्मतत्त्व के अधिकारी नहीं हो सकते। साधनचतुष्टय-सम्पन्न व्यक्ति अर्थात् जिनमें नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान का अभ्यास तथा मुमुक्षुता है, वे ही वेदान्त के अधिकारी हैं।

परब्रह्म एक, अद्वैत, निर्विशेष और निर्गुण है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति आदि विभिन्न देवी-देवता ब्रह्म की ही मायाश्रित अभिव्यक्तियाँ हैं। अधिकार और रुचि के भेद के अनुसार सभी देवी-देवता सगुण ब्रह्म के प्रकाश रूप से उपास्य हैं।

आचार्य ने सर्वत्र विभिन्न मतवादों का संशोधन कर उन्हें वेदान्त धर्म के अन्तर्गत कर दिया है। साथ ही विशेष-विशेष क्षेत्रों में उन्होंने वर्णाश्रम-धर्मत्यागियों तथा कुमार्गगामियों के लिए प्रायश्चित्त का विधान भी किया था। यथाशास्त्र प्रायश्चित्त कराकर वे उन्हें वर्णाश्रम-धर्मानुयायी, धर्मानुष्ठान में नियोजित करते थे। इस कारण हम देखते हैं कि उनके द्वारा रोपित वेदान्त कम-से-कम पचहत्तर शाखाओं, अनेक प्रशाखाओं, उपशाखाओं तथा पत्र-पुष्पों से सुशोभित होकर महामहीरुह के रूप में परिणत होकर अगणित नर-नारियों को सुशीतल शान्ति की छत्रछाया दे रहा है। फलस्वरूप सभी हिन्दू हैं, सभी वैदिक-धर्मानुष्ठानकारी हैं और सभी वेदाश्रयी रहकर हिन्दू नाम से अपना परिचय देने में गर्व अनुभव करते हैं।

आचार्य के उदार मतवाद प्रचार के फलस्वरूप विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्त्व में आमूल परिवर्तन हुआ और सभी ने वेदान्त का मौलिकत्व और श्रेष्ठत्व स्वीकार किया था।

नैमिषारण्य, गया धाम होते हुए आचार्य शंकर बंग प्रदेश में प्रविष्ट हुए।

वहाँ से नेपाल में पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ उन्मुख हुए। यहाँ बौद्धों का प्राबल्य था और देवपूजन बन्द था। आचार्य शंकर ने पशुपतिनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार किया तथा शास्त्र-सम्मत पूजार्चनादि नियमित रूप से करने के लिए विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त किए।

शिष्यों के आग्रह पर आचार्य बदरिकाश्रम की ओर अग्रसर हुए, किन्तु अब आचार्य बहुधा ध्यानमग्न रहते थे। बदरिकाश्रम में आचार्य गौड़पाद के दर्शनोपरान्त तो आचार्य सर्वदा ध्यानमग्न रहने के लिए व्याकुल रहने लगे। शिष्यगण समझ गए आचार्य शंकर की ३२ वर्षीय वय पूर्ण हो रही है।

एक दिन आचार्य प्रवर ने शिष्यों को बुलाकर कहा, 'तुम्हें कुछ पूछना हो, तो पूछ लो।'

इस पर पद्मपाद ने रोते हुए हाथ जोड़कर कहा, 'देव, हमें और कुछ पूछना नहीं है। आप आशीर्वाद दीजिए कि हम लोग आपके पदचिह्नों का अनुसरण कर सकें।'

आचार्य क्षण भर मौन रहकर बोले, 'कोई भी विद्या या साधना सम्प्रदायानुगत हुए बिना स्थायी नहीं होती। वेदान्त-साधना के आदर्श को संसार के अशेष कल्याण के निदान रूप से स्थायी करने के लिए तुम लोग संन्यासी-संघ की स्थापना करो। भारत के चार प्रान्तों में चार मठ स्थापित होंगे। पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और तोटक, मेरे ये चार प्रधान

शिष्य ही उन चार मठों में प्रथम मठाधीश होंगे तथा अन्यान्य शिष्यवर्ग उनके सहकारी होंगे। तुम्हारे शिष्य लोग भी अपने-अपने गुरु का आश्रय लेकर रहेंगे। दक्षिण में रामेश्वर-धाम के अन्तर्गत शृंगेरी में एक मठ स्थापित हुआ। वहाँ के आचार्य सुरेश्वर (विश्वरूप) होंगे। [मतान्तर में—विश्वरूप, द्वारकाधाम में शारदामठ के और पृथ्वीधर (हस्तामलक) शृंगेरीमठ के आर्य नियुक्त हुए थे।] पश्चिम के द्वारिकाधाम के मठ में हस्तामलक (पृथ्वीधर) प्रथम आचार्य होंगे। पूर्व के पुरीधाम में जो मठ स्थापित होगा, वहाँ के प्रथम आचार्य का पद पद्मपाद को मिलेगा और उत्तर के इस ज्योतिर्धाम में एक मठ स्थापित करो। यहाँ के आचार्य का पद तोटक को मिले। इस ढंग से भारत-भूमि को चार भागों में विभाजित करके तुम लोग धर्म-प्रचार कार्य में लग जाओ।

द्वारकाधाम, पुरीधाम, ज्योतिर्धाम और रामेश्वरधाम के चार मठों के नाम क्रमशः शारदामठ, गोवर्धनमठ, ज्योतिर्मठ और शृंगेरीमठ होंगे। शारदामठ के अधीन तीर्थ और आश्रम सम्प्रदाय; गोवर्धन के अधीन वन अरण्य सम्प्रदाय; ज्योतिर्मठ के अधीन गिरि, पर्वत और सागर सम्प्रदाय तथा शृंगेरीमठ के अधीन सरस्वती, भारती और पुरी सम्प्रदाय होंगे। संन्यासियों के ये दस सम्प्रदाय उन चार मठों के अधीन रहकर अपने-अपने मठ के नियम और आदेश के अनुसार धर्मानुष्ठान तथा प्रचार करेंगे।

इन चार मठों के अवलम्बन से चार वेदों का विभाग भी किस ढंग से होगा, उसका भी निर्देश देता हूँ। शारदामठ में सामवेद का, गोवर्धन में ऋग्वेद का, ज्योतिर्मठ में अथर्ववेद का और शृंगेरीमठ में यजुर्वेद का प्राधान्य रहेगा। उसके अनुसार इन चार मठों में क्रमशः 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि' वेद के ये चार महावाक्य प्रधान साधन और अवलम्बन होंगे।'

इन चार प्रधान मठों के अधीन और भी अनेक मठ स्थापित करके वैदिक धर्म को वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार समस्त भारत में प्रचार द्वारा सुप्रतिष्ठित करने का आदेश भी आचार्य ने दिया। इस प्रकार के कार्य का भार संन्यासियों पर सौंपकर उन्होंने संन्यासी-संघ स्थापित किया। मठाधीशों के लिए उन्होंने जो नियम आदि बनाए थे, वे मठान्नाय या महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हुए। 'आम्नाय' शब्द का अर्थ है वेद। जिस प्रकार वेद धर्म के एक मात्र अनुशासन रूप से अवलम्बनीय हैं, उसी प्रकार मठों में वह आम्नाय भी अनुशासन-मन्त्र होगा। इस प्रकार के नियम बनाकर आचार्य ने भविष्य के मठाधीशों के जीवन के ऊपर गुरु दायित्व का भार सौंपा। मठ के आचार्य को अनेक सद्गुणों से भूषित होकर आदर्श संन्यासी का जीवन बिताना होगा। मठाधीश पवित्र, जितेन्द्रिय, वेदवेदांगपारंगत योगी तथा सर्वशास्त्रज्ञ होंगे। यदि वह उस प्रकार के सद्गुणों से भूषित न हो तो उसका निग्रह करके अन्य मठाधीश निर्वाचित करना होगा।^१

बदरीधाम में कुछ दिन रहकर वे केदारधाम की ओर चल पड़े। केदारधाम के श्री मंदिर में आचार्य शंकर की ध्यान-तन्मयता बढ़ती गई और एक दिन उन्होंने शिष्य-मंडली को सम्बोधित करते हुए कह दिया, 'इस शरीर का कार्य समाप्त हो गया है। अब स्वरूप में

१. आचार्य शंकर का पूर्ण प्रवचन स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा लिखित 'आचार्य शंकर' से उद्धृत है।

लीन होने का समय आ गया है। तुम लोगों को कुछ ज्ञातव्य हो तो पूछ लो।'

इन मर्मन्तिक वचनों को सुनकर शिष्यगण स्तब्ध रह गए। नेत्रों में अश्रु भरकर गद्गद कण्ठ से पद्मपाद ने कहा—'हे देव, आपकी कृपा से हमलोग कृतकृत्य तथा सफल-मनोरथ हुए हैं। हमें और कुछ ज्ञातव्य नहीं है। श्रीगुरु का आदेशपालन ही हम लोग जीवन का एकमात्र कर्त्तव्य एवं व्रत समझते हैं।'

आचार्य ने अन्तिम आशीर्वाद दिया, 'मैं सर्वान्तःकरण से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मनोरथ सफल होगा। जब तक शरीर में रहोगे तब तक पूर्व निर्देशानुसार सनातन वैदिक धर्म का प्रचार करते रहना। जिस ब्रह्मात्मविज्ञान का मैंने उपदेश दिया है, वह गुरु-परम्परा से प्राप्त है। तुम लोग ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहो।'

तदनन्तर आचार्य मौन हो गए। ध्यान में लीन हो गए और कुछ देर पश्चात् वे समाधि योग द्वारा आत्मस्वरूप में लीन हो गए। जनश्रुति है कि उनका भौतिक शरीर साथ-ही-साथ केदारनाथ के अंग में विलीन हो गया।

‘संसाराध्वनि तापभानुकिरण प्रोद्भूतदाहव्यथा—

खिन्नानां जलकांक्षया मरुभुवि भ्रान्त्या परिभ्राम्यताम्

अत्यासन्न सुधाम्बुधि सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय—

त्येषां शंकर भारती विजयते निर्वाणसंदायिनी।’ (विवेक चूड़ामणि)

आचार्य शंकर लिखित ग्रंथों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) भाष्य ग्रंथ—(क) १२ उपनिषदों के भाष्य। (ख) गीता भाष्य : यह भाष्य गीता के दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से आरम्भ होता है। (ग) ब्रह्मसूत्र भाष्य (घ) सनत्सुजातीय भाष्यम्, माण्डुक्योपनिषद्कारिका भाष्यम्, गायत्री भाष्यम् आदि १४ भाष्य।

(२) स्तोत्र ग्रंथ—आचार्य शंकर के नाम से २४० स्तोत्र छपे या हस्तलिखित रूप में पाए जाते हैं। इनको ८ उपशीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) गणेश स्तोत्र (ख) शिवस्तोत्र (ग) विष्णु स्तोत्र (घ) देवीस्तोत्र (ङ) युगलदेवता स्तोत्र (च) नदी स्तोत्र (छ) तीर्थ स्तोत्र (ज) विविध स्तोत्र।

(३) प्रकीर्ण ग्रंथ—इन ग्रंथों में वेदान्त तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमनादि साधन सम्पत्ति की विवेचना से युक्त अनेक छोटे-छोटे ग्रंथ आचार्य शंकर द्वारा लिखे मिलते हैं। जैसे—आत्मबोध, उपदेश साहस्री, पंचीकरण, प्रकरण, प्रबोध सुधाकर आदि।

श्री रघुनन्दन शर्मा ने तीनों प्रकार के १६६ ग्रंथों को आचार्य शंकर द्वारा लिखित माना है।

(आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य : पृष्ठ ११७ से १२२ तक)



(४) कुमारिल भट्ट

‘कुमारिल भट्ट साधन की शुचिता को नकार कर लक्ष्य प्राप्त करने और मर्यादा उल्लंघन के पाप का स्वतः प्रायश्चित्त करने वाले ज्ञात-काल में प्रथम पुरुष थे। बिना किसी कष्टानुभूति के तुष (भूसी) के छिलके के कण-कण के अग्नि कण बनते जाने के साथ वे स्वेच्छापूर्वक पल-पल और साँस-साँस जलते चले थे कि कोई अपने गुरुजनों और अपनी आस्था के साथ विश्वासघात और प्रवंचना न करे।’ — भानुप्रताप शुक्ल

विख्यात दार्शनिक, वेदों के भाष्यकार, पूर्वमीमांसा के उद्भट विद्वान् तथा जैन और बौद्ध-मत के खण्डनकर्त्ता कुमारिल भट्ट वैदिक धर्म के महान् प्रचारक थे। बौद्ध-मत को परास्त करने के लिए छद्म-वेश में बौद्ध आचार्य से ही शिक्षा लेकर उनके ग्रन्थों और प्रचार-विधि के मर्म को भली-भाँति हृदयंगम करके उनके तर्कों का खंडन करने वाले महान् राष्ट्र-भक्त ब्राह्मण-गौरव भट्टपाद कुमारिल कार्तिकेय के अंश से उत्पन्न माने जाते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने कुमारिल भट्ट का आविर्भाव छठी शताब्दी से ८वीं शताब्दी के अन्त तक माना है, किन्तु यह काल-गणना उचित नहीं। कारण, आचार्य शंकर से इनकी भेंट सिद्ध है। इसलिए शंकराचार्य के समकालीन का समय छठी या ८वीं शताब्दी कैसे हो सकता है ?

जगद्गुरु शंकराचार्य पर अनेक ग्रंथ रचे गए, जिनमें चिद्सुखाचार्य जी के ग्रंथ ‘वृहद् शंकर विजय’ को अधिक महत्त्व प्राप्त है। कारण, ये शंकर के बाल-सखा थे। इन्होंने शिक्षा और संन्यास में भी आचार्य शंकर का साथ दिया था। अतः आचार्य शंकर के सम्बन्ध में इनके कथन को वरीयता दी जाती है। चिद्सुखाचार्य जी का कहना है कि कुमारिल भट्ट आचार्य शंकर से ४८ वर्ष बड़े थे। आचार्य जी का जन्म ५०९ ई. पू. माना जाता है। इस प्रकार कुमारिल का जन्म $५०९ + ४८ = ५५७$ ई. पू. सिद्ध होता है।

कुमारिल भट्ट के जन्मकाल के विषय में ‘जिन विजय’ द्वारा संदर्भित जैन अभिलेख भी द्रष्टव्य है। इन अभिलेखों में उल्लेख मिलता है—

ऋषिवारस्तदापूर्णे मर्त्याक्षौ वाममेलनतः

एकीकृत्य लभेतांकः क्रोधीस्यात्तत्रवत्सरः

भट्टाचार्य कुमारस्य कर्मकांडवादिनः,

जेयः प्रादुर्भवत्तस्मिन् वर्षे यौधिष्ठिरे शके ॥

अर्थात् ऋषि = ७, बार = ७, पूर्ण = ०, अक्ष = २, अर्थात् ७७०२; विपरीत दिशा में यह २०७७ युधिष्ठिर संवत् बनता है। उक्त अभिलेख के अनुसार कुमारिल का जन्म युधिष्ठिर संवत् में हुआ। जैनियों का युधिष्ठिर संवत् सामान्य युधिष्ठिर सम्वत् से भिन्न

है। वह ४६८ कलियाब्द से माना जाता है, अर्थात् ३१०२ ई. पू.—४६८ = २६३४ ई. पू. से जैन युधिष्ठिर सम्वत् बनता है। यदि २६३४ में से २०७७ घटा दें तो ५५७ वर्ष ही बचते हैं। यही वर्ष कुमारिल के जन्म-काल के लिए चिदसुखाचार्य ने माना है। ('भारतीय एकात्मता के अग्रदूत आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य : रघुनन्दन प्रसाद शर्मा, पृष्ठ ६१, ६२.)

किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति।

जब भारत बौद्धप्राय हो गया था, तब वेदों के पतन से दुःखित एवं चिंताग्रस्त बौद्ध-सम्राट् की महाराज्ञी अपने अन्तःकरण की व्यथा सचमुच किससे कहे? 'को वेदानुद्धरिष्यति।' उस समय निर्णयात्मक वाणी में 'मा रुदिहि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।' 'हे सुन्दरि! रो मत, मैं वेदों का उद्धार करूँगा', यह आश्वासन देना आचार्य कुमारिल का ही साहस था।

वैदिक-धर्म के प्रचार से पूर्व बौद्धमत के ज्ञान, रहस्य, अन्तश्चेतना तथा प्रचार-तंत्र विधि में पारंगत होना अनिवार्य है, ऐसा समझकर कुमारिल छद्म-वेश में बौद्ध-भिक्षु बन बौद्ध मठ में प्रवेश कर गए। सम्भवतः धर्मपाल के यहाँ इन्होंने बौद्ध-मत का अध्ययन किया। उसमें छिपी भावनाओं और अराष्ट्रीय-वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त किया। क्योंकि ऐसा किये बिना वे बौद्धमत का तर्कपूर्ण खंडन और वेदों का मंडन नहीं कर सकते थे।

कितना अधिक था उनका त्याग और कितना अधिक था उनका संयम जिससे कि वे अपने जीवन से भी प्रिय धर्म की कटु से कटु आलोचना सहज भाव से सुनते रहते थे, किन्तु वेदना कहाँ तक दबाई जा सकती है? अग्नि को कब तक शांत रखा जा सकता है? एक दिन ब्रह्म फूट ही पड़ी। बौद्ध गुरु के मुख से वेदों की निन्दा सुनकर उनका हृदय फूट पड़ा। वह रोया और इतना रोया कि अन्त में दो बूँद आँसू ढलक ही तो पड़े। घर से निकाले हुए व्यक्ति की भाँति उन दो बूँद आँसुओं ने भेद खोल दिया। अहिंसा की डींग मारने वाले बौद्धों ने उनके प्रति हिंसा प्रदर्शित की। उनके प्राण लेने का प्रयत्न किया। प्राणों के बदले एक आँख देकर वे वहाँ से बच निकले।

(जगद्गुरु श्री शंकराचार्य : दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ ७०)

इस घटना के पश्चात् कुमारिल ने बौद्ध-मत का खंडन करने के लिए कमर कस ली। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में घूम-घूमकर बौद्ध-मत का खंडन और बौद्ध-मत के प्रतिक्रियास्वरूप कर्मकाण्ड का मंडन करना आरम्भ कर दिया। जहाँ कहीं बौद्धों के पास राज-शक्ति थी, वहाँ राजशक्ति से उन्हें दबाने की चेष्टा की गई; पर सत्ता की दानवी शक्ति भी कुमारिल को उनके पथ से रोक न सकी। इतना ही नहीं, अपने प्रगाढ़ ज्ञान और अकाट्य-तर्कों के आधार पर उसने राजाओं के सम्मुख ही बौद्धों को परास्त किया। जब बौद्धों ने इन्द्रजाल और हाथ की सफाई का सहारा लिया तो काँटे से काँटा निकालने के सिद्धान्तानुसार कुमारिल ने भी चमत्कार प्रदर्शन कर उन्हें नीचा दिखाया। शास्त्रार्थ में तो उनके बौद्ध गुरु भी उनसे परास्त हो गए। शिष्य से ही परास्त होकर बौद्ध गुरु ने अपने जीवन का अन्त कर लिया।

इस प्रकार बंगाल, बिहार, मध्य-प्रदेश तथा उत्तर-भारत में बौद्धों को उखाड़ फेंकने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह कुमारिल भट्ट को ही है। उन्हीं के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप देश में वैदिक धर्म की विजय पताका पुनः फहराने लगी।

एक दिन उन्हें अपने जीवन के दो महान् अपराधों का बोध हुआ। एक था—(१)

बौद्ध गुरु को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनके जीवन नाश का पाप । (२) जैमिनी के मीमांसा-प्रदर्शन में एकनिष्ठ चित से 'ईश्वर असिद्ध है', ऐसा प्रमाणित करना । मन द्वंद्व से ग्रस्त हुआ । प्रायश्चित वेदना से हृदय हा-हाकार उठा । शरीर का अंग-अंग प्रायश्चित के लिए मचल उठा । मन ने निश्चय किया—'तुषानल (चावलों की भूसी की आग) को शरीर समर्पित कर दूँगा,' कालिन्द-दुहिता यमुना के साथ धर्मार्थ मोक्षदायिनी त्रिताप-नाशिनी जाह्नवी के मिलन-तट की पवित्रभूमि प्रयागराज में ।

पर्वत के समान तुषों के ढेर पर कुमारिल योग मुद्रा में आसीन हैं । अग्नि संयोग हुआ । अनेक ब्राह्मण-पंडित तथा भट्टपाद के शिष्यगण दुःखित खड़े यह दृश्य देख रहे हैं । एक अव्यक्त वेदना के हाहाकार से उस स्थान का आकाश आच्छन्न है । इसी समय आचार्य शंकर अपनी शिष्य मंडली सहित कुमारिल के सामने उपस्थित होते हैं ।

आचार्य शंकर का परिचय पाकर कुमारिल ने कहा, 'मैंने जन्म-जन्मान्तर में अनेक पुण्यों का अर्जन किया है, इसी कारण अन्तिम समय आपके दर्शन कर कृतार्थ हो गया।' कुमारिल के वचन सुनकर आचार्य स्तब्ध रह गए । कुछ क्षण पश्चात् बोले, 'मैंने अद्वैत सिद्धांत के प्रचारार्थ ब्रह्मसूत्र आदि प्रस्थानत्रयी के भाष्य लिखे हैं । आप उस मत को ग्रहण कर मेरे भाष्यों का वार्तिक लिखिए ।'

उत्तर में कुमारिल ने कहा, 'व्यासकृत ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय पर मैंने आठ हजार श्लोक-वार्तिक की रचना की है । आप पहले आते तो सम्भव था, मैं तुषानल में प्रवेश न करता । आपके भाष्यों की वार्तिक-रचना के सौभाग्य से मैं वंचित रह गया ।'

आचार्य बोले, 'मैं कमण्डलु का जल छिड़क कर तुषानल निर्वापित करता हूँ, आप मेरे भाष्यों के वार्तिक की रचना कीजिए ।'

'मैंने अपने जीवन में दो पाप किये हैं । पहला पाप तो यह है कि मैंने अपनी कृतियों में ईश्वर का खण्डन किया है । मैंने वेदों का महत्त्व बढ़ाने के लिए ही ईश्वर का खंडन किया है, केवल यही सिद्ध करने के लिए कि वेद अपौरुषेय हैं और स्वतः प्रमाण हैं, उनकी सत्यता और प्रामाणिकता के लिए ईश्वर की दुहाई देना निरर्थक है । परन्तु हे विद्वन्, मैंने उस ईश्वर का कभी निषेध नहीं किया जो आनन्द प्रदाता और जगत् के दुःखों का हर्ता है ।

दूसरा अपराध है कि गुरुद्रोह करके मैं उनकी मृत्यु का कारण बना । यह घटना इस प्रकार घटित हुई—सारा भूमण्डल बौद्धों से भर गया था और उनके प्रभाव से सभी आक्रान्त हो गये थे । वैदिक मार्ग विरल हो गया था । मैंने वैदिक-धर्म की रक्षा के लिए एक योजना बनाई । इसके लिए शास्त्रार्थ में बौद्ध आचार्यों को परास्त करना आवश्यक था । बौद्ध धर्म के नेता और उनके अनुयायी राजाओं के पास जाकर बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करते थे और साथ ही वैदिक धर्म के परित्याग का भी आग्रह करते थे । वे यह प्रचार करते हुए घूम रहे थे कि वेद असत्य और कपोलकल्पित हैं । उनमें परस्पर-विरोधी श्रुतियाँ पायी जाती हैं, इससे वे त्याज्य हैं । देश में किसी ऐसे प्रभावशाली और शक्तिशाली वैदिक विद्वान् का नितान्त अभाव था, जो बौद्धों के इस घृणित और कुत्सित प्रचार को रोकने में समर्थ हो सके । अतः उनका विरोध करने के लिए मैंने बीड़ा उठाया । मैं देश में घूम-घूमकर बौद्धाचार्यों से शास्त्रार्थ करने लगा । परन्तु उनके सिद्धान्त की बारीकियों को जाने बिना,

यह कार्य दुस्साध्य प्रतीत हुआ। निषेध्य वस्तु के सम्यक् ज्ञान से ही निषेध्य का शमन किया जा सकता है, अन्यथा संभव नहीं। इस पर भलीभाँति विचार करके मैं विनीत भाव से बौद्धों की शरण में गया और उनके सिद्धान्तों का विधिवत् अध्ययन किया। एक बार एक कुशाग्र-बुद्धि बौद्ध ने वैदिक धर्म को दूषित बता कर वेदों की निन्दा और भर्त्सना की। वेदों की निन्दा सुनकर मेरी आँखों में आँसू आ गये। अश्रुबिन्दु टपटप जमीन पर गिरने लगे। समीप में बैठे हुए अन्य विद्यार्थियों ने मेरी मनःस्थिति ताड़ ली। उस दिन से बौद्धों ने मुझे अपने धर्म का विरोधी मानकर मित्रता समाप्त कर दी। उन्होंने सोचा, यह वैदिक धर्म का अनुयायी है। हमारे मत का विरोधी है। हमारे धर्म की इसने भलीभाँति विज्ञता प्राप्त कर ली है। मेधावी और बलवान् ब्राह्मण है। समय आने पर यह आस्तीन का साँप सिद्ध हो सकता है। ऐसा खतरनाक व्यक्ति यहाँ रहने योग्य नहीं है। इसे येन केन प्रकारेण यहाँ से हटा देना ही हम लोगों के लिए श्रेयस्कर है। ऐसा सोचकर उन अहिंसा के प्रचारक बौद्धों ने मुझे एक ऊँची अटारी से नीचे ढकेल दिया।

एक अटारी से दूसरी अटारी पर गिरते हुए मैंने जोर से घोषणा की, 'यदि श्रुति सत्य और प्रामाणिक हैं, तो मैं विषम स्थल पर गिर कर भी जीवित रहूँगा। मेरे जीवन की रक्षा ही वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करेगी। इस घोषणा में 'यदि' शब्द लगाने से, मेरी वेद-निष्ठा में कुछ कमी प्रतीत हुई। अतः गिरने पर मैं बच गया, किन्तु मेरी एक आँख जाती रही। इसे विधि की विडम्बना ही समझिये। कपट वेश में गुरु से शिक्षा ग्रहण करना और वेदों की प्रामाणिकता के संबंध में संशय मूलक 'यदि' शब्द का प्रयोग करना मेरी आँख फूटने के कारण सिद्ध हुए। एक अक्षर का प्रदाता भी गुरु कहलाता है। समग्र शास्त्रों का उपदेश देने वाला गुरु है, इसमें कहना ही क्या है? मैंने कपट वेश में बौद्ध गुरु से समस्त शास्त्र का अध्ययन किया और शास्त्रार्थ में उन्हें ही परास्त किया, यह महान् गुरु द्रोह और अक्षम्य अपराध है। बौद्ध गुरु से शास्त्राध्ययन कर उनके कुल का ही मैंने सर्वनाश किया। साथ ही जैमिनि द्वारा शास्त्र में विश्वास रखकर मैंने परमेश्वर का निराकरण भी किया। अतः गुरुद्रोह और मीमांसा-दर्शन में आग्रह के कारण ईश्वर का निराकरण, इन दोनों पापों के प्रायश्चित्त करने के निमित्त मैंने अग्नि में प्रवेश किया है। आपके चरणकमलों के दर्शन से मैं पूर्णतया पापविमुक्त होकर शुद्ध हो गया हूँ। मैं जानता हूँ कि आर्य-जन के कल्याणार्थ तथा अद्वैतमार्ग के रक्षार्थ आपने अवतार किया है। यदि आपका दर्शन मुझे पहले ही हो गया होता, तो मैं तभी कृतार्थ हो जाता और पाप के प्रायश्चित्त के लिए आत्मदाह न करता।' (पृष्ठ ७४-७५)

'हे आचार्यप्रवर, वेदोक्त जिस विधानव्रत में मैं व्रती हुआ हूँ, उसका परित्याग करने में सुधीगण मेरी निन्दा करेंगे। लोकाचार विरुद्ध कर्म मैं कभी न करूँगा। आप ब्रह्मज्ञानी हैं। ब्रह्मज्ञानी महापुरुष अति कुटिल व्यक्ति के ऊपर भी गुणों का आरोप उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार शूरवीर धनुर्धर कुटिल धनुष के ऊपर प्रत्यंचा का। हे शंकर, आप अपनी कृपादृष्टि से चिर मृतक व्यक्ति में भी जीवनशक्ति भर सकते हैं। हे भगवन्, मैं आपके प्रभाव को भलीभाँति जानता हूँ। आप सभी प्राणियों का संहार कर, पुनः पहले के समान उन्हें जीवित करने में पूर्ण समर्थ हैं। मुझे भी जीवित कर देंगे, तो इसमें कौन सी आश्चर्यजनक

बात होगी ? इस कारण आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझसे संकल्पच्युत होने के लिए अनुरोध न करें।’

‘हे आचार्यवर ! वेदोक्त जिस विधान-व्रत में मैं व्रती हुआ हूँ, उसका परित्याग करने से सुधी लोग मेरी निंदा करेंगे। लोकाचार-विरुद्ध-कर्म मैं नहीं करूँगा।’ कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा, ‘यदि आप वेदांत मार्ग (अद्वैत ज्ञान) को शक्तिशाली बनाना चाहते हैं तो ‘आप मेरे शिष्य मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर, उनसे भाषिक-वार्तिक लिखवा सकते हैं। मण्डन मिश्र की पत्नी उभय भारती, जो सर्वविद्या विशारदा हैं, उन्हें मध्यस्थ रखिए। उसकी पराजय मेरी ही पराजय के समान होगी।’

स्वामी अपूर्वानन्द आगे का दृश्य वर्णित करते हुए लिखते हैं—‘एक मर्मान्तक दृश्य था। तब तक तुषानल प्रज्ज्वलित हो उठा था। चारों ओर हाहाकार-ध्वनि उठने लगी। एक महाप्राण सनातन वैदिक धर्म के वेदीमूल में आत्मोत्सर्ग कर रहे हैं। स्थिरचित्त से स्थितप्रज्ञ होकर, कितना महान् त्याग।’

भट्टपाद ने शरीर में अग्नि का उत्ताप अनुभूत होते ही शंकर से विनयपूर्वक कहा—‘हे महात्मन्, मैं अब अन्य चिन्ता न करूँगा। चित्त को परब्रह्म में समाहित करूँगा। आप क्षण भर प्रतीक्षा करके तारक ब्रह्म का नाम सुनाइए।’

‘शंकर का हृदय करुणा से विगलित हो गया। वे अति गंभीर स्वर से तारक ब्रह्म नाम का उच्चारण करने लगे। जनता के हाहाकार और रुदन-ध्वनि के साथ आचार्य-उच्चारित तारक-ब्रह्म नाम मिलकर एक करुण-स्वर की सृष्टि हुई। अग्नि ने सप्त जिह्वा विस्तारपूर्वक कुमारिल की देह को ग्रास कर लिया। वेद सूर्य प्रयागतीर्थ में चिरकाल के लिए अस्तंगम हो गया। कुमारिल की जीवात्मा अमरधाम को प्रस्थित हो गयी।’

(आचार्य शंकर : पृष्ठ १०१, १०२)

कुमारिल भट्ट जन्मतः दक्षिण-भारतीय थे, किन्तु ब्रह्मलीन हुए महातीर्थ प्रयागराज के त्रिवेणी तट पर। इस प्रकार उन्होंने भारतीय जीवन से उत्तर-दक्षिण की क्षुद्र भावनाओं को मिटाकर भारत के एकात्म-दर्शन को बोध कराया।

वे पूर्व मीमांसा के मुख्य आचार्य हैं। उनका मत मीमांसा में गुरुमत कहा जाता है। पूर्व मीमांसा-दर्शन के शाबर भाष्य पर उनकी टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ श्लोक-वार्तिक है। आद्य शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में इन्हें गुरु की भाँति भगवत्पाद कहकर स्मरण किया है।



निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ १

—भर्तृहरि

भारत का इतिहास उत्थान और पतन की अनेक स्थितियों को पार करके निर्मित हुआ है। कभी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दृष्टि से भारत उन्नति के शिखर पर रहा, तो कभी राजनैतिक पराधीनता के कारण उसका धार्मिक एवं सामाजिक जीवन भी विकृत हो गया। उनमें अनेक कुरीतियाँ आ गईं। जन-जीवन हिन्दू-संस्कृति और सभ्यता से दूर जा पड़ा। १९वीं सदी का काल भारत में ऐसा ही एक अन्धकारपूर्ण काल था।

भारत में जब-जब भी धर्म और समाज में विकृति आई है, जन-जीवन अवनति के गर्त की ओर चला है, सामाजिक प्रथाओं एवं परम्पराओं पर कुठाराघात हुआ है, तब-तब इस पुण्य-भू पर कोई-न-कोई दिव्यभूति अवतरित हुई है, जिसने सुप्त भारतीयों को जगाया है। उनको कर्तव्य का बोध कराया है। १९वीं शताब्दी के इस अज्ञानान्धकार को दूर करने का सर्वाधिक श्रेय महर्षि दयानन्द को प्राप्त है। महर्षि दयानन्द के महत्त्व पर प्रकाश डालती हुई मादाम ब्लेवास्की कहती हैं—‘यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।’ श्री ‘दिनकर’ का कहना है—‘जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा।’

ऋषि दयानन्द ने भारत में ऐसे समय में जन्म लिया, जब देश की स्थिति चिन्तनीय थी। राजनैतिक दृष्टि से देश अंग्रेजी दासता की ओर तीव्रता से बढ़ रहा था। धार्मिक दृष्टि से ‘हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओं के नीचे दबा हुआ था, उस पर अनेक स्मृतियों की धूल जम गई थी एवं वेद के बाद के सहस्रों वर्षों में हिन्दुओं ने जो रूढ़ियों और अन्ध-विश्वास अर्जित किए थे, उनके ढूहों के नीचे यह धर्म दबा पड़ा था।’ मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थ एवं पौराणिक अनुष्ठानों का बोलबाला था। दूसरी ओर, ईसाई धर्म बड़े वेग से फैल रहा

१. नीतिकुशल लोग उनकी प्रशंसा करें अथवा निन्दा, लक्ष्मी आए अथवा अपनी इच्छानुसार चली जाए, आज ही मृत्यु हो जाए अथवा युगों के बाद हो, किन्तु धीर स्वभाव वाले न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।

था। अछूत वर्ग, जिसे हिन्दू जाति अपने से पृथक् मानकर पददलित किए थी एवं शिक्षित समाज जो अंग्रेजी शिक्षा के कारण पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो रहा था, अपनी संस्कृति और सभ्यता से घृणा कर ईसाई बनता जा रहा था। एक ओर मिथ्या विश्वास और रूढ़ियों ने हमारी आँखें बन्द कर रखी थीं और हम कुछ भी न सीखने के लिए दृढ़ निश्चय किए बैठे थे। तीसरी ओर, मानसिक दासों की एक सेना तैयार हो रही थी। इन तीनों प्रवृत्तियों का परिणाम था देश की अवनति; हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं सभ्यता का पतन।

इस समय भारत की सामाजिक स्थिति भी अत्यन्त दयनीय थी। हिन्दू को 'चाहे कोई गाली दे, उसकी हँसी उड़ाए, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले, जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी वह इन सारे अपमानों के सामने दौँत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं। इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर सकता है या नहीं।'१

एक ओर, भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में क्रांतिकारी प्रवर्तन के लिए स्वामी दयानन्द अमर रहेंगे, वहीं भारतीय स्वतंत्रता के लिए उनका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। हरिद्वार के कुम्भ मेले में नील पर्वत पर जिन महान् क्रांतिकारियों ने स्वामी जी से विचार-विमर्श किया, वे थे—नाना साहब, उनके बंधु बाला साहब, अजीमुल्ला खाँ, तात्याटोपे तथा बाबू कुँअरसिंह। कुछ समय पश्चात् अन्य स्थान पर झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी अपनी सहचरी गंगाबाई के साथ स्वामी जी से झाँसी-रक्षार्थ विचार-विमर्श करने पहुँचीं। बैरकपुर में स्वामी जी से मिलने मंगल पांडे अपने दो सैनिक अधिकारियों सहित पधारे। उन्होंने कारतूस में मिली गाय और सूअर की मिली चर्बी की समस्या पर मार्गदर्शन चाहा।

गुजरात प्रदेश के काठियावाड़ के अन्तर्गत मोर्वी राज्य के टंकारा गाँव में संवत् १८८१ (सन् १८२४) में दयानन्द का जन्म हुआ। पिता करसन जी धनाढ्य थे, जमींदार थे और राजकीय राजस्व विभाग में कलक्टर थे। धार्मिक दृष्टि से शैव मतानुयायी थे। माता यशोदाबाई वैष्णव मतानुयायिनी थीं। बालक का नाम रखा 'दयाराम मूलशंकर तिवारी।'।

शैव-परिवार में उत्पन्न होने के कारण बालक मूलशंकर पर भी शैव मत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। मेधावी होने के कारण मूलशंकर ने १४ वर्ष की अल्पायु में ही अनेक शास्त्रों और ग्रंथों का अध्ययन कर लिया, किन्तु जीवन की एक घटना ने उनके हृदय में तूफान पैदा कर दिया और उन्होंने शैव मत को छोड़ दिया।

माघ वदी १४ को महाशिवरात्रि के दिन मूलशंकर ने व्रत रखा और रात्रि को शिव-मन्दिर में पूजा एवं रात्रि-जागरण के लिए गया। मंदिर में जब अन्य उपस्थित जन सो गए, तब भी किशोर मूलशंकर जागता रहा। उसने देखा कि कहीं से एक चूहा आकर शिवलिंग पर समर्पित मिष्टान्न तथा फल-फूलों का आनन्द ले रहा है। बालक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या यही शिव हैं, जो दैत्यों का संहार करते हैं, जबकि एक चूहा उनसे

१. पंडित चर्मूपति—द कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, भाग २।

हटाया नहीं जा सकता ? क्या कैलाश-निवासी यही शिव हैं ?

उन्होंने पिता को जगाया और अपनी शंका व्यक्त की। पिता ने अनेक युक्तियाँ दीं, पर उसका समाधान न कर सके। बालक मूलशंकर ने व्रत तोड़ दिया और सदा-सर्वदा के लिए मूर्ति-पूजा से उसका विश्वास उठ गया।

जिस समय बालक मूलशंकर १४ वर्ष का हुआ तो उसकी शिक्षा के लिए उसके पिता ने वेदांग पढ़ाने के लिए छह पण्डितों की नियुक्ति कर दी। इस प्रकार निरन्तर चार वर्ष तक उन पण्डितों ने क्रमशः याज्ञवल्क्य की शिक्षा, कात्यायन का कल्प, भट्टोजी दीक्षित का व्याकरण, यास्क का निरुक्त, पिंगल का छन्द और पाराशर के ज्योतिष की शिक्षा दी। इनके साथ-साथ जैमिनी का पूर्व मीमांसा दर्शन और धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र अध्ययन के लिए एक याज्ञिक और अहिताग्नि मराठी पंडित की भी नियुक्ति की गई थी। इस प्रकार यह सम्पूर्ण अध्ययन समाप्त करने तक बालक मूलशंकर की आयु १८ वर्ष की हो गई थी।

जीवन से विमुखता और संन्यास की ओर झुकाव, सत्यान्वेषण की चेष्टा एवं वीतरागता की ओर प्रेरित करने वाली दो और घटनाएँ अकस्मात् उनके घर में घटीं। इन दो घटनाओं से मूलशंकर दयानन्द बन गए। प्रथम घटना थी छोटी बहिन की मृत्यु और दूसरी घटना थी अपने प्रिय 'चचा' का देहावसान। बालक मूलशंकर फूट-फूट कर रो पड़ा। मृत्यु-चक्र से बचने का उपाय 'योगविद्या' है, यह जानकर मूलशंकर के मन में योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा जगी।

मूलशंकर के चेहरे पर वीतरागता का अनुभव कर पिता ने उनका विवाह करने का निश्चय किया। उधर मूलशंकर की अत्युत्कट इच्छा शास्त्रानुशीलन करने की थी। पिता न माने और विवाह के निश्चय पर डटे रहे। उधर-मूलशंकर भी अपने निश्चय पर दृढ़ रहा और विवाह-तिथि से एक सप्ताह पूर्व ही विवाहोत्सव से सुसज्जित घर को छोड़कर सत्यान्वेषण के लिए चल दिया। इस समय मूलशंकर की वय २२ वर्ष की थी।

मूलशंकर घर को छोड़कर जंगलों की खाक छानते रहे। उन्होंने अनेक कष्ट सहे। प्रचण्ड गर्मी, मूसलाधार वर्षा एवं शीत-प्रकोप, सब कुछ सहते-सहते उनका शरीर जर्जर हो गया। दो वर्ष के निरन्तर भ्रमण, साधु-दर्शन व ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा लिए भटकते हुए आपकी भेंट चाड़ोंद ग्राम से डेढ़ कोस के अन्तर पर जंगल में एक दाक्षिणात्य दण्डी स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से हुई। स्वामी जी से मूलशंकर ने श्री नर्मदा-तट पर संन्यास ग्रहण किया। मूलशंकर अब 'दयानन्द सरस्वती' बन गए।

दयानन्द अब ऋषि-मुनियों के दर्शन करते हुए, देश में फैले अत्याचारों को देखते हुए, भयंकर नदियों, कंटकाकीर्ण झाड़ियों, हिमगिरि के हिमाच्छादित शिखरों को पार करते हुए मथुरा पहुँचे। यहाँ उन्हें प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द जी के दर्शन हुए। दयानन्द ने स्वामी जी का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वस्तुतः स्वामी जी के यही वास्तविक शिक्षा गुरु हुए। इन्हीं से स्वामी जी ने अष्टाध्यायी, महाभाष्य, वेदान्तसूत्र तथा अन्य अनेक पुस्तकों का अध्ययन किया।

प्रज्ञाचक्षु गुरु ने दयानन्द की मेधा, प्रतिभा, कार्यक्षमता और उदात्त चारित्र्य को पहचानकर गुरुदक्षिणा के रूप में दयानन्द द्वारा समर्पणार्थ लाई गई 'लवंग' अस्वीकार करते

हुए साम्प्रदायिक पाखण्डों का उन्मूलन तथा आर्ष ज्ञान प्रकाशन की गुरु-दक्षिणा माँगी। दयानन्द श्री गुरु जी को इसका दृढ़ विश्वास दिलाकर गुरु-दक्षिणा को चुकाने के लिए धर्म-प्रचारार्थ निकल पड़े। इस समय दयानन्द जी की वय उन्तालीस वर्ष की थी।

वैदिक धर्म स्थापनार्थ दयानन्द चार वर्ष तक आगरा, ग्वालियर, पुष्कर आदि स्थानों में प्रचार करते रहे। उन्होंने देखा कि जनता में भागवत धर्म पर बड़ी आस्था है। इसी आस्था को विचलित करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम 'पाखण्ड-खंडन' नामक पुस्तक संस्कृत में लिखी। उन्होंने भागवत धर्म की असारता सिद्ध करने हेतु शास्त्रार्थ करने के लिए अनेक पंडितों को ललकारा। जयपुर जाकर अनेक ठाकुरों को अपना शिष्य बनाया। पुष्करराज में पहुँचकर मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् वेंकट शास्त्री को शास्त्रार्थ में हराकर अपना शिष्य बना लिया।

वहाँ से अजमेर होते हुए स्वामी जी जयपुर गए। जयपुर के महाराजा ने आपको निमन्त्रण दिया, परन्तु नरेश के स्वयं उपस्थित न होने के कारण वे रुष्ट हो गए और बाद में स्वयं नरेश द्वारा अनेक बार प्रार्थना करने के बावजूद स्वामी जी राजमहल में नहीं गए। वहाँ से वे मथुरा पहुँचे। वहाँ भी शैव, शाक्त एवं वैष्णव सम्प्रदायों का खण्डन करते हुए, एकादशी आदि व्रतों के माहात्म्य को निस्सार बताते हुए चैत्र सं. १९२४ में हरिद्वार में होने वाले कुम्भ मेले में पहुँचे। हरिद्वार महाकुम्भ के अवसर पर ही उन्होंने पहले-पहल अपने मत का प्रचार प्रारम्भ किया और अपनी 'पाखण्ड-खण्डनी पताका' फहरा दी।

धर्म की नगरी हरिद्वार में उन्होंने धर्म का पतन देखा। तथाकथित त्यागी साधुओं के राजसी ठाठ देखे। धर्म के नाम पर ब्राह्मणों द्वारा प्रेम से नहीं, तो डरा-धमकाकर यात्रियों को लूटते देखा। अनेक व्यक्तियों को भीड़ में कुचलते, बच्चों को खो जाते एवं लड़कियों का अपहरण होते देखा। यद्यपि उन्होंने वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों का जनता में प्रचार किया, किन्तु स्वयं दयानन्द का हृदय विचलित हो गया। उनके हृदय में दौर्बल्यपूर्ण भावना घर कर गई और वे सब कुछ त्याग जंगल की ओर चले गए।

जंगल में उन्होंने घोर तप किया। राख लगाकर कौपीनधारी बन गए। गर्मी-सर्दी की चिन्ता न की। वाद-विवाद छोड़ मौन धारण कर लिया। तप से शरीर को तपाकर वे पुनः कर्म-क्षेत्र में अवतरित हुए।

स्वामी जी की शास्त्रार्थ-पद्धति और उनके द्वारा प्रचलित धर्म एवं परम्पराओं के खण्डन से चिढ़कर अनेक लोगों ने उनका जीवनान्त करने का प्रयास किया। अनूपशहर में स्वामी जी को विषयुक्त पान दिया गया। पान चबाने पर ही स्वामी जी को षड्यन्त्र का पता लग गया। न्योति-क्रिया द्वारा उन्होंने शरीर से विष निकाल दिया। अनूपशहर के तत्कालीन तहसीलदार ने जो धर्म से यवन होते हुए भी स्वामी जी का भक्त था, उस विषयुक्त पान देने वाले व्यक्ति को पकड़ मँगवाया, किन्तु स्वामी जी ने उसे यह कहकर छोड़वा दिया कि 'मैं संसार को कैद कराने नहीं आया हूँ, कैद से छुड़ाने आया हूँ।'

एक बार जब स्वामी जी कर्णवास में थे, तो विरोली के ठाकुर रणवीरसिंह गंगा-स्नान के लिए वहाँ आए। एक रात उन्होंने रास मण्डल किया और उसमें स्वामी जी को भी निमन्त्रण भेज दिया। स्वामी जी ने रास की भर्त्सना की। बड़ों के स्वाँग और नारी सहित

नृत्य की घोर निन्दा की। इस पर ठाकुर साहब कुपित हो अपने नौकरों सहित स्वामी जी को मारने पहुँचे। अनेक गालियाँ देने और अनाप-शनाप बोलने के बाद भी स्वामी जी पर कोई प्रभाव न होता देख राव साहब क्रोध में कभी-कभी तलवार की मूठ भी पकड़ लेते थे। इस पर स्वामी जी ने हँसते हुए कहा—‘राव साहब! तलवार की मूठ को क्या बार-बार छूते हो? तलवार टकराने का चाव हो तो संन्यासी से क्यों, जयपुर-जोधपुर के नरेशों से जा भिड़ो।’ इतना कहना था कि राव साहब क्रोध में भड़क उठे। उन्होंने स्वामी जी पर तलवार का वार करना चाहा। स्वामी जी ने लपक कर उनके हाथ से तलवार छीन ली और भूमि पर एक हाथ से ऐसे जोर से टेकी कि वह दो टुकड़े हो गई। राव साहब अपने कुकृत्य पर अत्यन्त लज्जित हुए। स्वामी जी के शौर्य की कथाएँ चारों ओर फैल गई।

गंगा-तट पर निवास करते हुए ढाई वर्ष तक स्वामी जी ने वैदिक धर्म का प्रचार किया; सहस्रों लोगों को जनेऊ पहनाया, संध्या सिखाई और गायत्री का जप बताया। आपके उपदेशों का अमृत-पान कर सहस्रों नर-नारी आपके शिष्य बन गए।

काशी प्रारम्भ से ही हिन्दु धर्म का गढ़ रहा है। वहाँ मूर्ति-पूजा का तो इतना व्यापक प्रचार है कि ‘जेते कंकर-तेते शंकर’ की कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। स्वामी दयानन्द ने पण्डितों की इस नगरी में जाकर उनके पौराणिक गढ़ को वेद के नाद से हिलाने का निश्चय किया। फलतः कार्तिक वदी २ संवत् १९२६ को लंगोटधारी दयानन्द काशी पहुँच गए।

काशी में दयानन्द जी ने काशी-नरेश द्वारा मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने का प्रबन्ध कराया। शास्त्रार्थ का प्रबन्ध हुआ। काशी-नरेश सभापति बने। भारत भर के अनेक उद्भट विद्वान् उपस्थित हुए, जिनमें स्वामी विशुद्धानन्द, बाल शास्त्री शिवसहाय और माधवाचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं। खूब डटकर शास्त्रार्थ हुआ। दोनों ओर से तर्क-वितर्क हुआ। एक ओर मूर्ति-पूजा के समर्थक अनेक विद्वान् थे और दूसरी ओर वैदिक धर्म का संस्थापक अकेला संन्यासी। स्वामी दयानन्द की तर्क शक्ति के सम्मुख कोई भी विद्वान् न टिक सका। अपने पक्ष को कमजोर समझ काशी-पण्डितों ने कूटनीति से काम लिया। ताली बजाकर स्वामी जी की हँसी उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। कुछ ने कंकर-पत्थर फेंककर स्वामी जी को चोट पहुँचाने का भी प्रयास किया।

एक बार तो ऐसे ही हिन्दुओं की प्रेरणा से यवनों ने उन्हें गंगा में भी फेंक दिया था। यदि स्वामी जी पद्मासन लगाकर जल में न बैठते तो यह यवन-समुदाय उन्हें मार ही डालता। इस प्रकार अनेक अपमान, कुत्सा, कलंक और कष्ट झेलते हुए भी शांति, सहनशीलता एवं उदार-हृदयता से स्वामी जी ने काशी में अपने धारावाहिक संस्कृत-भाषणों एवं प्रचण्ड तार्किक बुद्धि से मूर्ति-पूजा का विरोध किया, वेद का प्रचार किया एवं सत्-पथ का ज्ञान दिया।

यहाँ से चलकर स्वामी जी प्रयाग गए। वहाँ भी जनता में वैदिक धर्म के प्रति आस्था जागृत की। स्वामी जी अब तक भभूत रमाते और कौपीन बाँधते थे। कड़कड़ाती सर्दी और चिलचिलाती धूप ने उनके शरीर को बलवान् बना दिया था। इधर, राव रणवीरसिंह ने पुनः स्वामी जी को मारने का प्रयास किया, किन्तु साहस न हुआ। नौकर को धन का लालच देकर भेजा, वह भी स्वामी जी के तेज के सम्मुख निरुत्साहित हो लौट आया। राव के

पुनः भेजने पर वह स्वामी जी का सिर उतारने गया। स्वामी जी की हुँकार मात्र से ही उसकी तलवार हाथ से छूट गई और वह भाग गया। स्वामी जी को जब उनके श्रद्धालुओं ने सचेत रहने को कहा तो उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—‘नैनं छिदन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।’

देशभर का भ्रमण करते हुए स्वामी जी भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता भी गए। वहाँ ब्रह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महात्मा देवेन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी भेंट हुई। ब्रह्म-समाज भी मूर्ति-पूजा के विरुद्ध था, किन्तु इसमें स्वदेश-भक्ति कम थी। ईसाइयों के अनेक आचरण इनके जीवन में प्रविष्ट हो गए थे। वे अपने देश, पूर्वज एवं वेदों के निन्दक बन गए थे। ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक और चैतन्य को तो वे साधु मानते थे, पर किसी ऋषि-महर्षि को अपना आदर्श पुरुष नहीं मानते थे। इस प्रकार अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा कहीं-न-कहीं दबी हुई थी। अतः वे गर्व से नहीं बोल पाते थे। यह गर्व स्वामी जी में चमका।

‘ब्रह्मसमाजियों से उनका विचार-विमर्श भी हुआ, किन्तु ईसाइयत से प्रभावित ब्रह्मसमाजी विद्वान् पूर्वजन्म और वेद की प्रामाणिकता के विषय में स्वामी जी से एक मत नहीं हो सके।’ कहते हैं, केशवचन्द्र सेन ने जनता के हितार्थ स्वामी जी को संस्कृत के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग करने और वस्त्र धारण कर समाज में रहने की सलाह दी, जिसे स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया। तभी से स्वामी जी के व्याख्यानों की भाषा हिन्दी हो गई और हिन्दी प्रांतों में उन्हें अगणित अनुयायी मिलने लगे।

मेरठ के एक प्रवास के समय स्वामी जी ने अपना ‘स्वीकार-पत्र’ (वसीयतनामा) लिखकर उसको पंजीयक-कार्यालय से पंजीकृत कराया। इस स्वीकार-पत्र के अनुसार उन्होंने १८ सदस्यों की एक ‘परोपकारिणी-सभा’ बनाई जिसे उन्होंने अपनी उत्तराधिकारिणी घोषित किया था। इसी सभा को उनकी अन्त्येष्टि करने तथा उनके निधन के पश्चात् उनके वस्त्र, पुस्तक तथा यन्त्रालय आदि का अधिकार दिया गया था। उन्होंने अपनी अन्त्येष्टि के विषय में कहा कि वेद विरुद्ध कुछ न किया जाए। इस सभा का सभापति लाहौर के लाला मूलराज को नियुक्त किया गया।

जिस समय स्वामी जी ने अपना पूर्व स्वीकार-पत्र मेरठ में पंजीकृत कराया था उस समय परोपकारिणी सभा के सदस्यों के रूप में कर्नल आल्काट, मैडम ब्लावाटस्की तथा मुंशी इन्द्रमणी के नाम भी सम्मिलित थे। अब तक ये तीनों स्वामी जी के मार्ग से पृथक् हो गये थे। अतः उन्होंने अपना द्वितीय स्वीकार-पत्र लिखा और उसे २७ फरवरी, १८८३ को मेवाड़ की शासकीय कचहरी में पंजीकृत कराया। इस बार उन्होंने मेवाड़ नरेश सज्जनसिंह को ‘परोपकारिणीसभा’ का अध्यक्ष मनोनीत किया।

प्रथम आर्यसमाज की स्थापना राजकोट में हुई थी। ‘प्रार्थना-समाज’ के नाम से जो संस्था चलती थी, स्वामी जी से विचार-विमर्श के बाद उसी का नाम ‘आर्यसमाज’ रख दिया गया; समाज के अधिकारियों की नियुक्ति हुई, नियम बने।

चैत्र शुक्ल पंचमी १९३२ विक्रमी तदनुसार १० अप्रैल १८७५ को बम्बई में आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना की गई। २८ नियम बनाए गए। अधिकारियों का चुनाव हुआ।

इसके बाद तो वैदिकधर्म प्रचारार्थ देशभर में 'आर्यसमाज' मंदिरों का जाल बिछ गया। इतना ही नहीं विदेशों में आर्यसमाज मंदिर स्थापित हैं।

दिल्ली आने पर स्वामी जी ने देश-हित और सत्यानुसन्धान हेतु सभी धर्मों एवं मत-मतान्तरों का एक सम्मेलन बुलाया। इसमें यवनों के प्रतिनिधि सर सय्यद अहमद खाँ, ब्रह्मसमाज के केशवचन्द्र सेन, नवीनचन्द्र राय और हरिश्चन्द्र चिंतामणि तथा हिन्दुओं के कन्हैयालाल अलखधारी और मुन्शी इन्द्रमणि पधारे। दो दिन के विचार-विमर्श के बाद भी ये लोग एकमत न हो सके।

यहाँ से स्वामी जी पंजाब गए। पंजाब में ईसाइयत का प्रचार बहुत था, किन्तु स्वामीजी के तेज-बल और शास्त्रार्थ के सम्मुख वे टिक न सके। पंजाब में स्वामीजी के प्रति बहुत उत्साह जाग्रत हुआ। सम्पूर्ण पंजाब में आर्य-समाज की शाखाएं खुलने लगीं और पंजाब आर्य-समाज का गढ़ बन गया। यहाँ आकर स्वामी जी सिर पर रेशमी पीला दुपट्टा, एक पीली धोती और एक चोगा पहनने लगे थे।

स्वामी जी ने कुछ दिन एनी बेसेंट के साथ मिलकर कार्य किया, किन्तु स्वामी जी की वेदों में अखण्ड निष्ठा थी, अतः थिसोसॉफिस्ट लोगों से उनका मत मिल न सका और वे अलग हो गए। अलग होने पर भी स्वामी जी पर थियोसॉफिस्टों की भक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। स्वामी जी में प्रकाण्ड प्रतिभा थी, उज्ज्वल त्याग था और उनकी वाणी में अद्भुत शक्ति थी, जनता पर उनका प्रभाव पड़ा।

तत्पश्चात् स्वामी जी राजस्थान की यात्रा पर निकले। वहाँ अनेक नरेशों ने इनका बहुत स्वागत किया। इन्दौर और उदयपुर होते हुए वे जोधपुर पहुँचे। उदयपुर में रहते हुए स्वामी जी ने एक परोपकारिणी सभा की स्थापना की और अपनी पुस्तकों के सर्वाधिकार इस सभा को दे दिए।

जोधपुर में स्वामी जी का नरेश यशवन्तसिंह की ओर से स्वागत हुआ। राजा ने स्वामी जी का बहुत सम्मान किया और उनका वचनामृत भी पान किया। एक दिन उनके साथ वेश्या (नन्ही जान) को देख स्पष्ट वक्ता होने और दुराचरण से घृणा करने के कारण स्वामी जी ने महाराज के इस आचरण का स्पष्ट प्रतिवाद करते हुए कहा—'वीर शार्दूल का कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्य-जाति की कुल मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कन्दरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कूकरी के आगमन का क्या काम है?'

फलतः महाराज की रखैल वेश्या ने एक रात्रि को स्वामी जी के रसोइए से मिलकर दूध में विष डलवा दिया। विष-युक्त दूध स्वामी जी ने अनजाने में विश्वासपूर्वक पी लिया। विष के प्रभाव के कारण स्वामी जी के उदर में पीड़ा आरंभ हुई। बहुत उपचार करने पर भी स्वामी जी के शरीर से विष न निकल सका। इधर, विष देने वाले जगन्नाथ रसोइए को पकड़ कर जब स्वामी जी के सम्मुख उपस्थित किया गया, तो उन्होंने कुछ रुपए दिए और उसे राठौर-राज्य की सीमा से बाहर जाने की सलाह देकर उसको जीवन-दान दे दिया।

अनेक उपचार के बाद भी स्वामी जी का शरीर स्वस्थ नहीं हुआ। वेदना तीव्रतर होती गई। उनके कण्ठ में, जीभ पर, मुख में, माथे पर और सिर में छाले पड़ गए। ब्रह्मचर्यत्व

का बलिष्ठ शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। स्वामी जी जोधपुर से अजमेर आ गए। विषाक्त शरीर की जलन को महर्षि भगवान् शंकर के काल-कूट की भाँति बिना किसी प्रकार की वेदना-भाव दर्शाये सहन करते हुए पलंग पर निश्चिन्त लेटे रहते थे।

अमावस्या की प्रातः विदेशी डॉक्टर न्यूटन आए। भोगी देश के प्रतिनिधि न्यूटन की आँखें मृत्यु की छाया में भी महान् संयम को देखकर फटी रह गईं। 'ये बड़े साहसिक और सहन-शील हैं। इनकी नस-नस और रोम-रोम में विषैला कीड़ा प्रवेश कर कुलबुलाहट कर रहा है, परन्तु ये शांत चित्त हैं। इनके तन-पिंजर को महाव्याधि की ज्वाला-जलन जलाए चली जाती है, जिसे दूर से देखते ही कंपकंपी छूटने लगती है, पर ये हैं कि चुपचाप चारपाई पर पड़े हैं।' परमभक्त वैद्य लक्ष्मणदास से, जो स्वामी जी का उपचार कर रहे थे, बातचीत कर न्यूटन चले गए।

एक प्रसिद्ध मुसलमान हकीम 'पीर जी' आए। स्वामी जी को देखकर दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। उनके मुख से निकला, 'धैर्य का ऐसा धनी धरती पर हमने दूसरा नहीं देखा।'।

ग्यारह बजते-बजते स्वामी जी को साँस फूलने लगी। वे हाँफ रहे थे, किन्तु अवरुद्ध कण्ठ खुल गया था। वाक्शक्ति लौट आई थी, परन्तु विधाता का यह खेल था। दीपक-निर्माण की अन्तिम प्रदीप्ति थी।

स्वामी जी ने शौच जाने की इच्छा प्रकट की। चार भक्तों ने उठकर शौच करवाया। शौच से निवृत्त हो, पूर्ण शुद्ध होकर वे आसन पर विराजमान हो गए। भोजन की इच्छा प्रकट की। भक्तों ने समझा स्वामी जी पूर्ण स्वस्थ हैं। भोजन का थाल आया। स्वामी जी ने नेत्रों से भोजन को निहारा और कहा, 'अच्छा, इसे ले जाइए।' किन्तु भक्तों के प्रबल आग्रह पर एक चम्मच चनों की झोल ले ली। पुनः हाथ मुँह धोकर पलंग पर आ गए।

पलंग पर लेटे-लेटे भक्तजनों से बातचीत करते रहे। बीच-बीच में जब वेदना का वेग कुछ तीव्र होता, तो वे आँखें बन्द कर मौन हो जाते।

सायंकाल ४ बजे। स्वामी जी ने क्षौर कर्म कराने की इच्छा प्रकट की। भक्तों ने समझाया कि उस्तरा फिरवाने से छाले-फुंसियाँ कटकर लहू बहने लगेगा। स्वामी जी ने इसकी तनिक भी चिन्ता न की। क्षौर कर्म करवाया। नाखून उतरवाए। सिर पर गीला तौलिया फेरकर सिरहाने के सहारे बैठ गए और महात्मा आत्मानन्द जी को अपने पीछे बैठने को कहा।

जब महर्षि दयानन्द ने आत्मानन्द जी से कुछ माँगने को कहा तो आत्मानन्द जी का हृदय उबल पड़ा। नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उन्होंने माँगा, 'परमेश्वर अपनी अपार कृपा से आपको पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करे।' महर्षि दयानन्द ने महान् सन्तुलन का परिचय देते हुए आशीर्वाद दिया, 'वत्स! इस नाशवान् क्षण-भंगुर शरीर को कितने दिन स्वस्थ रहना है। बेटा, अपने कर्त्तव्य-कर्म का पालन करते हुए आनन्द से रहना। घबराना नहीं। संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।'।

कुछ देर बाद महर्षि ने परम भक्त संन्यासी गोपालगिरि को स्मरण किया। उनसे भी स्वामी जी ने वही प्रश्न पूछा, 'कुछ चाहिए तो बता दोजिए।' संन्यासी गोपालगिरि ने भी उनके स्वास्थ्य की कामना प्रकट की। तत्पश्चात् स्वामी जी ने भीमसेन जी और आत्मानन्द

जी को बुलाया। उनको दो-दो सौ रुपये और एक-एक दुशाला भेंट किया। दोनों के नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी, उन्होंने भूमि पर सिर टेकते हुए उपहार वापिस कर दिए।

भक्त वैद्य लक्ष्मणदास को महर्षि द्रव्य देने लगे, तो भरे हृदय की वेदना को नेत्रों द्वारा प्रकट करते हुए, वैद्य जी ने अस्वीकार कर दिया।

इसके बाद स्वामी जी ने उपस्थित सभी शिष्यों को एक-एक करके देखा। वे इस समय प्रसन्नवदन थे। इस प्रकार बातचीत में सायं पाँच बज गए। किसी भक्त ने स्वामी जी का हाल पूछा तो महर्षि ने उत्तर दिया, 'अच्छा है, प्रकाश और अंधकार का भाव है।'

साढ़े पाँच बजे महर्षि ने सब द्वार खुलवा दिए। भक्तों को अपनी पीठ की ओर खड़े होने का आदेश दिया। पक्ष, तिथि और वार पूछा। श्री मोहनलाल पण्ड्या ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—'कार्तिक कृष्ण पक्ष का पर्यवसान और शुक्ल पक्ष का प्रारम्भ है। अमावस्या और मंगलवार है।'

स्वामी जी ने कोठरी के चारों ओर दृष्टि डाली। गम्भीर ध्वनि से वेदपाठ आरम्भ कर दिया। प्राणान्तकारी पीड़ा में भी वेदपाठ-उच्चारण में कोई त्रुटि नहीं, कोई लड़खड़ाहट नहीं। शारीरिक संयम अपनी सीमा पार कर चुका था, अब तो महर्षि का आत्मिक बल प्रकट हो रहा था।

वेदपाठ के अनन्तर स्वामी जी संस्कृत शब्दों में परमात्मदेव की प्रार्थना करने लगे। तत्पश्चात् हिन्दी में ईश्वर गुणगान आरम्भ हुआ और अन्त में भगवती गायत्री को जपने लगे। गायत्री का पाठ करते-करते महर्षि मौन हो गए।

अकस्मात् समाधि भंग हुई। स्वामी जी ने दोनों आँखें खोल दीं। मुँह से निकला, 'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है! सचमुच तेरी ही इच्छा है! परमात्मा, तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा! मेरे परमेश्वर, तैने अच्छी लीला की।' तुरन्त बाद ब्रह्मर्षि ने प्राणायाम खींचा और साँस को कुछ दूर अन्दर रोककर प्रणवनाद के साथ बाहर निकाल दिया। उसे सूतात्मा वायु में लीन कर दिया।

भक्त-जन, जो अपलक नेत्रों से महर्षि की परलोकवास की क्रिया देख रहे थे, प्रणवनाद के साथ ही चीखकर रो पड़े।

३१ अक्टूबर, १८८३ को उनकी शव-यात्रा निकली और मलूसर नामक शमशान-घाट पर स्वामी जी के 'स्वीकार-पत्र' के अनुसार निर्मित चिता पर उनका पार्थिव शरीर रखकर उसे अग्नि को सौंप दिया गया।

महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित पुस्तकें इस प्रकार हैं—

१. 'अनुभ्रमोच्छेदन', २. 'अष्टाध्यायी भाष्य', ३. 'आत्मचरित', ४. 'आर्याभिविनय', ५. 'आर्योद्देश्य रत्नमाला', ६. 'कुरान-हिन्दी', ७. 'गोकर्ण-निधि', ८. 'गौतम-अहत्या की कथा', ९. 'जालन्धर की बहस', १०. 'पंचमहायज्ञविधि' (सन्ध्या भाष्य), ११. 'भाव्यार्थ', १२. 'पोपलीला', १३. 'प्रतिमापूजन विचार', १४. 'प्रश्नोत्तर हलधर', १५. 'प्रश्नोत्तर उदयपुर', १६. 'भ्रमोच्छेदन', १७. 'मेला चाँदपुर', १८. 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', १९. 'ऋग्वेद भाष्य', २०. 'यजुर्वेद-भाष्य', २१. 'वेदविरुद्ध मत खण्डन', २२. 'वेदान्तध्वान्त निवारण', २३. 'व्यवहारभानु', २४. 'शिक्षापत्री ध्वान्त-निवारण', २५.

‘संस्कारविधि’, २६. ‘संस्कृत वाक्य प्रबोध’, २७. ‘सत्यार्थप्रकाश’, २८. ‘सत्यासत्य विवेक’, २९. ‘वर्णोच्चारण’, ३०. ‘सन्धि-विषय’, ३१. ‘नामिक’, ३२. ‘आख्यातिक’, ३३. ‘पारिभाषिक’, ३४. ‘सौवर’, ३५. ‘अनादि कोष’, ३६. ‘निघण्टु’ ३७. ‘पाणिनि के ग्रन्थ-अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, शिक्षा और प्रातिपादिक’, ३८. ‘आलंकारिक कथा’।

श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’ संस्कृति के चार अध्याय पुस्तक में ‘आर्य-समाज’ की विवेचना करते हुए लिखते हैं—‘सच पूछिए तो स्वामी जी केवल इस्लाम के ही आलोचक नहीं थे, वे ईसाइयत और हिन्दुत्व के भी कड़े आलोचक हुए हैं। सत्यार्थ-प्रकाश के त्रयोदश समुल्लाम में ईसाई मत की आलोचना है और चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम की। किन्तु, ग्यारहवें और बारहवें समुल्लासों में तो केवल हिन्दुत्व के ही विभिन्न अंगों की बखिया उधेड़ी गई है। × × स्वामी जी ने बुद्धिवाद को कसौटी बनाया और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत पर निश्छल भाव-से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खण्ड-खण्ड हो गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैंकड़ों कमजोरियाँ लोगों के सामने आ गई।’

स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म को ही सच्चा धर्म माना है। उन्होंने घोषणा की कि ‘हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में वेद ही मान्य हैं, अन्य शास्त्रों और पुराणों की बात बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहिए।’ छह शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं था, अतएव स्वामी जी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।

उन्होंने कहा—‘वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। इसमें केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं।’ श्री अरविन्द जैसे योगिराज एवं विद्वान् पंडित ने भी अपनी पुस्तक ‘दयानन्द, द मैन एण्ड हिज वर्क’ में इस बात का समर्थन किया है। स्वामी जी ने छुआछूत के विचार को अवैदिक बताया और सहस्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर सवर्ण हिन्दू बनाया। ‘आर्य-समाज ने नारियों की मर्यादा में वृद्धि की एवं उनकी शिक्षा-संस्कृति का प्रचार करते हुए विधवा-विवाह का प्रचलन किया।’

स्वामी जी स्थान-स्थान पर उपदेश देते थे—‘पुरुष शिक्षित और स्वस्थ हों, नारियाँ शिक्षित और सबल हों, लोग संस्कृत पढ़ें और हवन करें, कोई भी हिन्दू मूर्ति-पूजा का नाम न ले, न पुरोहितों, देवताओं और पंडों के फेर में पड़े।’

स्वामी दयानन्द सरस्वती महान् पुरुष थे। न केवल हिन्दू ही, अपितु यवन और ईसाई नेता भी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे। उनकी मृत्यु पर सुप्रसिद्ध मुस्लिम नेता सर सैयद अहमदखाँ ने अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में संवेदना और शोक प्रकट किया था। मादाम ब्लेवास्की ने स्वामी जी के देहावसान पर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा था—‘जनसमूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमरमर की मूर्ति भी स्वामी जी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी।’ थियोसाफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—‘उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन दूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदयों में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी।’

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक : ऋषि दयानन्द जाज्वल्यमान नक्षत्र थे, जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोये भारत को जाग्रत किया।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय : महर्षि दयानन्द तपोमूर्ति थे, उन्होंने भारत में दिव्य-ज्योति प्रकाशित की थी। उन्होंने हिन्दू-समाज को पुनर्जन्म देने के सब प्रयत्न किए थे। उन्होंने मृतप्राय हिन्दू जाति में पुनः प्राण संचार किया था।

लाला लाजपतराय : स्वामी दयानन्द मेरे धर्म-पिता और आर्य-समाज मेरी धर्म-माता हैं। मेरे गुरु ने मुझे स्वतंत्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य-पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया।

योगिराज अरविन्द घोष : वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक विश्व को प्रभु की शरण में लाने वाला योद्धा और मनुष्य की संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति-सम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस : महर्षि दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो इसके आधार संबंधी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। उन्हें मैं धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ। संगठन कार्यों के सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्य-समाज अनुपम संस्था है।



‘उपकाराय लोकस्योद्युक्ताः प्राणपणैरपि ।

उत्कटास्वपि बाधासूपस्थितासूर्ध्वगामिनः ॥

अज्ञानतिमिरौघस्य वारणायाऽभिसन्निभाः ।

महामानवसंज्ञां ते भजन्ते विश्वविश्रुताः ॥^१

‘अध्यात्म-विद्या, भारतीय-दर्शन एवं धर्म के बिना विश्व अनाथ हो जाएगा’, इस प्रकार की दृढ़ भावना रखने वाला परतन्त्र भारत का ही एक साधु था, जिसने समस्त विश्व को भारत के अध्यात्मवाद के चरणामृत का पान कराया और विदेशों में भारत का मस्तक ऊँचा किया ।

यह महामानव भारत राष्ट्र की दिव्य विभूति सिद्ध हुआ । बंगाल अपने पर गर्व करता है, क्योंकि उसने उस महापुरुष को जन्म दिया । मद्रास अपने को धन्य समझता है, क्योंकि उसने उस महापुरुष की प्रतिभा को पहचाना और जनता के सम्मुख लाकर खड़ा किया, किन्तु सचाई यह है कि उस महापुरुष पर सम्पूर्ण भारत को गर्व है ।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा, ‘यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए ।’ अरविन्द का वचन है, ‘पश्चिमी जगत् में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा ।’

अन्नप्राशन के समय दिया नाम नरेन्द्रदत्त और बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से जगविख्यात भारतीय नव-जागरण के इस अग्रदूत का जन्म १२ जनवरी, सन् १८६३, सोमवार को सिमुलिंआ, कलकत्ता के एक क्षत्रिय परिवार में श्री विश्वनाथदत्त के घर में हुआ । विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाई कोर्ट के प्रसिद्ध वकील थे । घर में सब ‘विले’ कहकर पुकारते ।

बचपन में विले बड़ा चंचल, हठी और दुर्दान्त था । जब यह केवल छह वर्ष का था, तब उसने एक बालक को घोड़ा-गाड़ी के नीचे आते-आते बचा लिया था । कथावाचक द्वारा यह सुनकर कि हनुमान् कदली वन में रहते हैं, बालक नरेन्द्र उसी रात केलों के झाड़ में सवेरे से शाम तक हनुमान् जी के दर्शनार्थ बैठा रहा ।

मेधावी बालक नरेन्द्र सन् १८७९ में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर कलकत्ता के ‘जनरल

१. जो लोक के उपकार के लिए प्राण-पण से उद्यत हैं, उत्कट बाधाओं के उपस्थित होने पर भी ऊर्ध्वगामी होते हैं और अज्ञान-रूपी घोर अन्धकार को हटाने के लिए अग्नि देव के सदृश होते हैं, वे ही विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति ‘महामानव’ कहलाते हैं ।

असेम्बली इंस्टीट्यूशन' नामक कालिज में प्रविष्ट हो गया। कालिज में रहकर उसने इतिहास, साहित्य, दर्शन आदि विषयों का अध्ययन किया। अन्त में बी. ए. की परीक्षा बड़ी योग्यता से उत्तीर्ण कर ली। 'अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू-युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका की दृष्टि से देखते थे।' ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व की जिज्ञासा लेकर वे ब्रह्मसमाज में गए। उन्होंने केशवचन्द्र सेन तथा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उपदेश सुने, पर जिज्ञासा शांत न हुई। अनेक धर्म-गुरुओं के सम्पर्क में होते हुए अन्त में नरेन्द्र सत्रह वर्ष की आयु में दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस के मन्त्र से अनुप्राणित हुए। परमहंस जी का नरेन्द्र पर बहुत प्रभाव पड़ा।

स्वामी विवेकानन्द ने श्री रामकृष्ण परमहंस के प्रथम दर्शन का वर्णन इस प्रकार किया है—'देखने में वे बिल्कुल साधारण आदमी मालूम होते थे। उनके रूप में कोई विशेषता न थी। बोली बहुत सरल और सीधी थी। मैंने मन में सोचा कि क्या यह संभव है कि यह सिद्ध पुरुष हों। मैं धीरे-धीरे उनके पास पहुँचा और उनसे वे प्रश्न पूछे जो मैं अक्सर औरों से पूछा करता था 'महाराज, क्या आप ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं?' उन्होंने जवाब दिया, 'हाँ।' मैंने फिर पूछा, 'क्या आप उसका अस्तित्व सिद्ध कर सकते हैं?' जवाब मिला, 'हाँ।' मैंने पूछा 'कैसे?' जवाब मिला, 'मैं उसे ठीक वैसे ही देखता हूँ, जैसे तुम्हें।'

परमहंस जी की वाणी में बिजली की-सी शक्ति थी जो संशयात्मा को तत्क्षण ठीक रास्ते पर लगा देती थी।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल एवं हृष्ट-पुष्ट था। वे कुश्ती, बाक्सिंग, दौड़, घुड़दौड़ के प्रेमी और इन खेलों में दक्ष थे। 'वे संगीत के प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। उनका स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था और आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। वे संस्कृत और अंग्रेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे।'

वे हर्बर्ट स्पेंसर और जॉन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शैली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता एवं हीगेल के वस्तुनिष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रभावित नरेन्द्र की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त-त्रय में पूर्ण निष्ठा थी। यूरोपीय संस्कारों से वे पूर्णतः ओत-प्रोत थे।

गुरु परमहंस के समीप आकर उनके विचार परिवर्तित होने लगे। इसी बीच नरेन्द्र के पिताजी का देहावसान हो गया और परिवार का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर आ गया। दुर्बल आर्थिक स्थिति में स्वयं भूखे रहकर अतिथियों के सत्कार की गौरव-गाथा उनके जीवन का उज्ज्वल अध्याय है। उन्होंने अच्छी नौकरी तलाश की, किन्तु नौकरी न मिली। उन्हें बहुत दुःख हुआ।

वे पुनः भगवान् के अस्तित्व पर शंका करने लगे। इन शंकाओं में डूबा हुआ नरेन्द्र पुनः गुरु की शरण में गया और विनती की 'आप मेरे लिए काली माता से वरदान माँगें कि मेरा आर्थिक कष्ट दूर हो जाए।' परमहंस ने कहा 'माता से जो माँगना है, तू स्वयं

निःसंकोच माँग ले, वे तेरे दुःखों को जानती हैं।' वहाँ से नरेन्द्र मन्दिर में गए और काली से धन की बात भूलकर उन्होंने भगवान् के दर्शनों के लिए बुद्धि और भक्ति की याचना की।

जिस हृदय ने शाश्वत प्रेम और आत्मानुभूति के आनन्द का स्वाद पा लिया हो उसे लौकिक सुख-भोग कब अपनी ओर खींच सकते हैं ? नरेंद्र नाथ की वैराग्य-वृत्ति अधिकाधिक बढ़ती ही गई। उसने अनेक बार संन्यास लेने का विचार गुरु के सम्मुख प्रकट किया, किन्तु परमहंस जी उचित अवसर न समझ इन्कार करते रहे। अन्त में एक दिन उपयुक्त अवसर देख रामकृष्ण परमहंस ने अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्य-दर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतार कर 'विवेकानन्द' बना दिया।

देह-त्याग से कुछ समय पूर्व उन्होंने अपने प्रिय शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती को बताया था कि रामकृष्ण की मृत्यु के तीन-चार दिन पूर्व उनके बीच एक दुर्बोध संक्रमण घटा था। उनके शब्दों में, 'रामकृष्ण मेरे पास अकेले आकर सामने बैठ गये। वे मुझे जाने कैसी दृष्टि से देखते रहे। उसी समय वे समाधिस्थ हो गये। अकस्मात् बिजली की मानिन्द दुर्बोध शक्ति का प्रवाह मेरी देह में खेल गया—जाने क्या मेरे शरीर को बेध गया। मैं भी अचेतन हो गया। कितनी देर इस प्रकार अचेत रहा, मालूम नहीं जब चेतना लौटी, देखा, ठाकुर रो रहे हैं। वे असीम स्नेह और कोमल स्वर में बोले, 'नरेन रे! आज मैं फ़कीर हो गया। अब मेरा कुछ नहीं रहा। जो कुछ था, तुझे दे दिया। इसके द्वारा तू जगत् के अनेक विराट् कार्य करेगा। इसके पूर्व तू यह शक्ति लौटा नहीं पायेगा'...मुझे प्रतीत होता है कि इस शक्ति ने ही मुझे झाड़-झंझ में से बचाया है और मुझे क्रमपूर्वक कार्य करने को बाध्य किया है।

श्री दिनकर जी लिखते हैं—'हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे (रामकृष्ण परमहंस के रूप में) आँखों से देख लो।' इधर नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे और इस भाँति 'नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण में गए, तब उस काल में नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण में गया था। अथवा यूरोप भारत के सामने था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धि का मिलन था।

१५ अगस्त १८८६ को श्री रामकृष्ण परमहंस ने महा समाधि ले ली। तत्पश्चात् स्वामी विवेकानन्द कलकत्ता छोड़ उत्तर में स्थित वराद नगर के आश्रम में आकर निवास करने लगे। वहाँ उन्होंने दर्शन एवं अन्य शास्त्रों और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया।

दो वर्ष तपस्या और अध्ययन के उपरान्त विवेकानन्द समस्त भारत की यात्रा पर चल पड़े। इस यात्रा में स्वामी जी ने निम्नलिखित तीन कार्यों को अपना लक्ष्य बनाया—

(१) बुद्धिवादी समाज में धर्म के प्रति जो अश्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, उसको दूर करके धर्म की एक तर्क-संगत व्याख्या प्रस्तुत करना, जो मानव के सांसारिक कृत्यों में बाधक न हो।

(२) हिन्दू धर्म पर, कम-से-कम यूरोपीय विद्वानों द्वारा असमर्थित धर्म और इतिहास पर अविश्वास करने वाले हिन्दुओं में स्वधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना।

(३) भारतीयों को आत्म-गौरव की भावना से प्रेरित करना एवं उन्हें भारतीय संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना।

स्वामी जी ने अनेक कष्ट सहकर भी इस कार्य को ३९ वर्ष की अल्पायु में पूर्ण किया। श्री दिनकर जी लिखते हैं—‘अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु है, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिङ्गन करते हैं। विवेकानन्द समुद्र है, जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान सबके सब समाहित होते हैं।’

इस प्रचार-कार्य में उन्हें अनेक कष्ट सहने पड़े। तत्कालीन अंग्रेज सरकार की ओर से यातनाएँ दी गईं, हतोत्साहित किया गया। बिहार में आम्र वृक्ष पर केसर-तिलक लगाना राज-द्रोह का चिह्न समझा जाता था, जिसके प्रचार का मूल उद्गम अंग्रेज सरकार साधु-संन्यासियों को समझती थी। विवेकानन्द जी साधु वेश में रहने के कारण पकड़ लिए गए, किन्तु तुरन्त छोड़ भी दिए गए। इधर, स्वामी जी ने निश्चय किया कि वे भिक्षा न माँगेंगे और भोजन के लिए जब कोई स्वयं निमंत्रण देगा, तभी करेंगे। इस कठोर व्रत के कारण उन्हें कई बार भूखा रहना पड़ता।

बिहार से उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, जूनागढ़, भावनगर, वैरावल, सोमनाथ, पोरबन्दर, बड़ौदा, पूना, मैसूर होते हुए विवेकानन्द दक्षिण भारत पहुँचे। इन सब स्थानों पर वे अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियों से मिले, जनता-जनार्दन को उपदेश देते तथा भारतीय जन-मानस की आन्तरिक भावनाओं का अध्ययन करते रहे।।

रामेश्वरम् दक्षिण भारत का काशी कहलाता है। स्वामी जी वहाँ गए। वहाँ से पांडिचेरी और तत्पश्चात् एक उच्च अधिकारी के निमन्त्रण पर मद्रास पहुँचे। मद्रास में उनके प्रवचन से अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बन गए। मद्रास के ईसाई कॉलिज के एक अध्यापक श्री सिंगरावेलू मुदालियर घोर नास्तिक थे। स्वामी जी के वाद-विवाद से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मत-परिवर्तन किया और आस्तिक बन गए।

‘अपनी इस भारत-यात्रा में विवेकानन्द ने भारत और उसकी जनता का वास्तविक स्वरूप देखा। कन्याकुमारी के समुद्र-तट पर प्रकृति के अनुपम सौन्दर्य को अपलक निहारते हुए मानो वे अपने आप में ही डूब गए। सामने था वायु से आन्दोलित, तरंगों के विक्षोभ से पूर्ण, उच्छ्वसित सुनील महासागर; पीछे थी पर्वतों, मैदानों तथा अरण्यों से सुशोभित शस्यश्यामला भारत माता; पर उस माता के एक-दूसरे रूप को भी उन्होंने देखा—दुर्भिक्ष, महामारी, दुःख-दैन्य, रोग-शोक से जर्जरित पराधीन भिखारिणी—सी माँ! भारत माता के इस स्वरूप को देखकर वे व्याकुल हो उठे और उससे प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय युवकों को एक चिर नवीन सन्देश दिया—

‘आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग एकमात्र ‘स्वर्गादिपि गरीयसी’ जननी जन्मभूमि की आराधना करो। इन वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में भी कोई हानि नहीं है। दूसरे देवगण सो रहे हैं। इस समय तुम्हारा देवता है तुम्हारा राष्ट्र।’

सन् १८९३ में शिकागो (अमेरिका) में एक विश्व-धर्म-सम्मेलन हो रहा था। घोषित किया गया कि पृथ्वी के सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधि व्याख्याताओं के रूप में सभा में सम्मिलित हो सकेंगे। स्वामी जी के कुछ उत्साही मद्रासी शिष्यों ने उन्हें हिन्दू-धर्म के

प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजने का निश्चय कर लिया। स्वामी जी ने भी इसके लिए स्वीकृति दे दी। अनेक कठिनाइयों और प्रचण्ड बाधाओं के बावजूद स्वामी विवेकानन्द इस महासम्मेलन में सम्मिलित हुए और यही सम्मेलन उनकी विश्व-जनीन ख्याति का कारण बना। स्वामी जी द्वारा शिकागो जाने की स्वीकृति देने के दो प्रमुख कारण थे—

(१) भारतीयों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना कि समुद्र-यात्रा पाप है और विदेशियों के हाथ से अन्न-जल ग्रहण करना दोष है।

(२) वे यह दिखाना चाहते थे कि आज भी पश्चिम के लोग भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों से प्रभावित हो सकते हैं।

अमेरिका पहुँचने पर उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। एक ओर तो धन की कमी थी तथा दूसरी ओर संस्था-विशेष द्वारा प्रतिनिधि होने का प्रमाण-पत्र नहीं था। एक धनी अमेरिकन महिला द्वारा अर्थ-दान और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक जे. ए. राइट द्वारा सम्मेलन में हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि रूप में प्रदत्त स्वीकृति स्वामी जी के कष्ट निवारण में मुख्य सहायक बने।

धर्म महासभा, अमेरिका

११ सितम्बर, १८९३ ई. को धर्म महासभा का उद्घाटन आर्ट इन्स्टीच्यूट के भव्य हॉल में सात हजार प्रबुद्ध श्रोताओं के समक्ष हुआ। वहाँ उन्होंने देखा कि भारत से अनेक लोग आये हैं। ब्राह्म-समाज के श्री प्रतापचन्द्र मजूमदार व नगरकर, जैन समाज के वीरचन्द्र गाँधी तथा थियोसफी सोसायटी से एनीबेसेन्ट व चक्रवर्ती थे। मंच पर आसीन प्रतिनिधियों का परिचय हुआ। तदुपरान्त प्रत्येक ने सभा को सम्बोधित किया। स्वामी जी इस विशाल सभा भवन और उपस्थिति को देखकर घबरा गये। उनकी बारी आयी। देवी सरस्वती का नाम लेकर आगे बढ़े। गेरुए वस्त्र ने तो सबको आकृष्ट किया था। और उन्होंने अपने ढंग से बोलना शुरू किया—‘अमरीकी बहनो और भाइयो!’ फलतः दो मिनट तक करतल ध्वनि होती रही। उन्होंने इस अभिनन्दन के लिए हर्ष व्यक्त किया। साथ ही विश्व के सभी धर्मों की माँ हिन्दूधर्म की ओर से करोड़ों हिन्दुओं की ओर से धन्यवाद ज्ञापित किया। कहा, हम तो सभी धर्मों को सत्य मानते हैं। मैंने तो बचपन से एक सूक्ति स्मरण कर रखी है कि विभिन्न उद्गमों से बहती आती नदियाँ एक ही सागर में मिलती हैं, उसी प्रकार विभिन्न धर्ममत उसी एक परमसत्य की ओर पहुँचते हैं। यह धर्म सम्मेलन तो मानो गीता के कथन की ही घोषणा कर रहा है—‘जो व्यक्ति जिस रूप में मेरे पास पहुँचता है, उसे स्वीकार करता हूँ। और सभी अनेक मार्गों से मेरे पास ही पहुँचते हैं।’ आशा करता हूँ कि इस सम्मेलन से विश्व में व्याप्त साम्प्रदायिकता, कट्टरता और संकीर्णता दूर होगी।

दूसरे दिन अमेरिका के समाचार-पत्रों ने स्वामी विवेकानन्द का उस धर्म संसद् में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति एवं वक्ता कहकर अभिनन्दन किया। कल जो सामान्य और अपरिचित संन्यासी था, वह आज सर्वोपरि और सर्वमान्य बन गया।

१५ सितम्बर को उन्होंने व्याख्यान दिया कि कूँ के मेढ़क के समान हम सभी धर्म, मत वाले अपनी-अपनी सीमा में बंद रहते हैं और समझते हैं कि यही सीमित कूप ही सम्पूर्ण

विश्व है। पर धर्मचिंतन सागर के समान अनन्त और अछोर है। अमेरिका को धन्यवाद है कि उसने सबको साथ बैठाकर उनकी अपनी सीमा को तोड़ने की कोशिश की है।

१९ सितम्बर को स्वामी जी ने हिन्दूधर्म पर अपना महत्वपूर्ण ऐतिहासिक आलेख पढ़ा। जिसमें बताया कि प्राक् ऐतिहासिक युग से हिन्दूधर्म, पारसीधर्म और यहूदीधर्म विद्यमान हैं। यहूदी धर्म ईसाइयत को आत्मसात नहीं कर सका, वह अपनी जन्मभूमि से निष्कासित हो गया। पारसीधर्म भी किसी तरह बचा हुआ है। पर वेदों से उद्भूत हिन्दूधर्म समय की मार के बाद विभिन्न मतों को आत्मसात् कर यथावत् विराजमान है। वेदों ने बताया है कि सृष्टि आदि-अन्त से परे है। विज्ञान ने भी सिद्ध किया है कि सृष्टि की ऊर्जा एक समान रहती है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि और स्रष्टा, दोनों आरम्भ एवं अन्त से परे हैं। ईश्वर की शक्ति से इसका विकास होता रहता है। इसीलिए वेदान्त ने बताया है कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ। जो शरीर के भीतर निवास करती है। शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं।

भारत में बहुदेववाद नहीं है। मन्दिरों की मूर्तियाँ बहुदेव पूजन नहीं है। मानसिक बिम्ब के बिना सोचना कठिन है। संगीत के नियमानुसार मानसिक बिम्ब विचार को उत्पन्न करता है। इसीलिए हिन्दू पूजा के समय बाहरी प्रतीक (प्रतिमा) का उपयोग करता है। वह जानता है कि मूर्ति देवता नहीं है। पर अनन्तता के विचार के लिए अनन्त नीलगगन का बिम्ब सामने आना चाहिए। इसी तरह हिन्दू ईश्वर की पवित्रता, शुद्धता, सत्यता, सर्वव्यापकता आदि विचारों को विभिन्न मूर्तियों से जोड़कर भावन करता है। उद्देश्य तो दिव्यता की अनुभूति है। मन्दिर और मूर्तियाँ इसमें सहायक मात्र हैं। हिन्दू इस पूजा से निरन्तर ऊपर उठता जाता है। मानसिक प्रार्थना ऊपर की स्थिति है। अद्वैत की अनुभूति उच्चतम शिखर है। इसके लिए हम दूसरे को गाली नहीं देते।

हिन्दू जानता है कि प्रकृति के वैविध्य में एकता है। इस एकत्व की अनुभूति करनी है। इसके लिए किसी एक ही तरीके को लागू नहीं करना है। किसी दूसरे तरीके को गलत नहीं मानना है। बौद्ध और जैन अद्वैत की अनुभूति या दिव्यानुभूति के लिए ईश्वर पर निर्भर नहीं होते, पर वे मनुष्य को ही ईश्वरत्व की ओर ले जाने की साधना करते हैं। यह धर्म है। हमने एक ही अनुभूति के लिए सभी मार्गों को सही माना है। यही हिन्दूधर्म है।

२० सितम्बर के व्याख्यान में विवेकानन्द ने एक ईसाई देश में अपने तेजस्वी स्वर में कहा कि भारत को ईसाई मिशनरियों की जरूरत नहीं है। दर्शन और धर्म हमारे पास है। हमारी समस्या गरीबी है। चर्च बनाने से गरीबी दूर नहीं होगी।

१९ सितम्बर के आलेख पाठ पर कुछ ने चर्चा फैलायी कि वह प्रचलित हिन्दूधर्म नहीं है। मूर्तिपूजा की दार्शनिक व्याख्या आँखों में धूल झोंकना है और विवेकानन्द तो हिन्दूधर्म की चर्चा के लिए अनधिकारी व्यक्ति हैं।

२२ सितम्बर को उन्होंने इन आपत्तियों को खंडन कर हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित की।

२३ सितम्बर को व्याख्यान दिया कि हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म में वही सम्बन्ध है जो यहूदीधर्म एवं ईसाई में है। यहूदियों ने अपने ईसा को अस्वीकार करते हुए सलीब पर टांग दिया। हिन्दुओं ने बुद्ध को अपना एक देवता मान लिया। बुद्ध हिन्दूधर्म को पूरा करने आये

थे—तर्कपूर्ण निष्कर्ष देने आये थे। उसे सारे संसार में प्रसारित कर गये। उनकी सबसे बड़ी विशेषता गरीबों और अशिक्षितों के प्रति सहानुभूति थी। दूसरी विशेषता थी, संस्कृत के बदले लोकभाषा में प्रवचन। हिन्दूधर्म बौद्धधर्म के बिना और बौद्धधर्म हिन्दूधर्म के बिना जी नहीं सकता। बौद्धों को वैदिकों का मस्तिष्क और वैदिक ब्राह्मणों को बौद्धों का हृदय चाहिए।

२७ सितम्बर को धर्म महासभा के अन्तिम सत्र में उन्होंने घोषणा की—‘इस अधिवेशन में विश्व की धार्मिक एकता की सामान्य भूमि के सम्बन्ध में विचार हुआ है। यदि किसी ने सोचा है कि दूसरे धर्मों के विनाश और किसी एक की जीत से यह एकता आयेगी तो यह असंभव है। प्रत्येक को दूसरों की भावना व चेतना को ग्रहण करना चाहिए और फिर अपनी वैयक्तिकता को बनाए रखना चाहिए। इस धर्म-सभा ने संसार को यही बताया है। अतः सभी धर्मों के झण्डों पर लिखा जाना चाहिए—सहायता : युद्ध नहीं, आत्मसात् करना : विनाश नहीं, सामंजस्य एवं शान्ति-भेद : द्वन्द्व नहीं।’

बहुत काल बाद

अमेरिका धर्म महासभा का निनाद

विश्व ने सुना, काँपी संसृति की थी परी

गरजा भारत का वेदान्त केसरी।

श्री मत्स्वामी विवेकानन्द

भारत के मुक्त ज्ञानछन्द।

—सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’

इस धर्मसभा में विवेकानन्द का व्यक्तित्व इतने प्रभावशाली रूप में उभर कर आया कि अमेरिका के सारे पत्रों में चर्चा होने लगी। ‘न्यूयार्क हेरल्ड’ ने लिखा कि ‘शिकागो धर्म-सभा में विवेकानन्द ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। उनका भाषण सुनकर ऐसा लगता है कि धर्म-मार्ग में इस प्रकार के समुन्नत राष्ट्र भारतवर्ष में हमारे धर्म-प्रचारकों को भेजना निर्बुद्धिता है।’

‘दि प्रेस ऑफ अमेरिका’ ने लिखा—‘हिन्दू दर्शन व विज्ञान में सुपंडित उपस्थित सभासदों में अग्रगण्य हैं—प्रचारक स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने अपने भाषण द्वारा विराट् सभा को मानो सम्मोहिनी शक्ति के बल पर मुग्ध कर रखा था।’

शिकागो महासभा के अंग विज्ञान सभा के सभापति श्री स्नेल ने लन्दन के ‘पाओनिअर पत्रिका’ ने लिखा—‘हिन्दू धर्म ने इस महासभा व जनसाधारण के ऊपर जिस प्रभाव का विस्तार किया है, वैसा करने में कोई भी दूसरा धर्म-संघ समर्थ नहीं हुआ। हिन्दू धर्म के एकमात्र आदर्श प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ही इस महासभा के निर्विवाद रूप से सबसे अधिक लोकप्रिय व प्रभावशाली व्यक्ति हैं।’

(धर्ममहासभा, अमेरिका का विवरण: डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद लिखित ‘देशभक्त संन्यासी विवेकानन्द’ से उद्धरित)

विदेशों में वेदांत प्रचार

इस महासम्मेलन से प्रेरित हो स्वामी जी अन्य यूरोपीय देशों में भी गए, किन्तु अधिकांश समय उन्होंने अमेरिका और इंग्लैण्ड में ही बिताया। वहाँ उन्होंने भाषणों, वार्तालापों, लेखों,

विवादों एवं वक्तव्यों द्वारा हिन्दू धर्म के सार को सम्पूर्ण यूरोप में फैला दिया। अमेरिका के अनेक नर-नारी उनके शिष्य हो गए। जब यह समाचार भारत के ईसाई मत में रंगे, पढ़े-लिखे, बहके हुए बुद्धिजीवियों को मिला तो वे आत्म-ग्लानि अनुभव करने लगे। श्री दिनकर जी के शब्दों में, 'इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया।'।

विदेशों के लिए स्वामी जी का उपदेश था, 'धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश उसी प्रकार अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं।' उन्होंने चेतावनी देते हुए कहा—'आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।'।

अमेरिका और यूरोप में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियाँ हैं और हिंसा के जो उद्देग हैं, उनको स्वामी जी ने यूरोपीय सभ्यता का पाप बताते हुए उनका खुलकर विरोध किया और पाश्चात्यों को संयम तथा त्याग की शिक्षा दी।

उन्होंने समझाया, 'धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है। × × धर्म अन्ध-विश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है। × × जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य में भोजन के समय नहीं दिखाई देता। कुत्तों और भेड़िये का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं, किन्तु जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है, किन्तु आध्यात्मिकता तो और ऊँचे स्तर की चीज है। अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।

मातृभूमि के चरणों में

१६ दिसम्बर १८९६ को दिग्विजयी स्वामी विवेकानन्द जलयान से भारत की ओर चल पड़े। उनके साथ अनेक शिष्यगण भारत आए। कुमारी नोबेल उनमें से एक हैं, जो बाद में भगिनी निवेदिता के नाम से प्रसिद्ध हुईं। १५ जनवरी १८९७ को उनके जलयान ने श्री लंका के श्यामतट का स्पर्श किया।

भारत में उनकी ख्याति पहले ही पहुँच चुकी थी। जिस चुम्बकीय शक्ति को भारत ने टुकराया था, विदेशों में चुम्बकीय शक्ति के कार्यों ने भारतीयों को अपनी वस्तु अपनाने को प्रेरित किया। स्थान-स्थान पर उनका भव्य स्वागत हुआ।

'भारत में आकर उन्होंने भारतवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा नहीं दी। यहाँ तो पहले ही दारिद्र्य का साम्राज्य था। निर्धनता का प्राचुर्य था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से विमुक्त हो गए थे।' अतः उन्होंने भारतीय जनता को

कर्म की प्रेरणा दी। शारीरिक उन्नति, साहस और सेवा को सम्बल बनाने का उपदेश दिया। खान-पान के दकियानूसी विचारों को छोड़ने पर बल दिया। 'हाँ, निन्दा का भय माने बिना माँस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाकपात खाकर जीने वाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है।'

वीरता का वर्ण करने का उपदेश देते हुए उनका यह भाषणांश स्वर्ण-अक्षरों में लिखा जाने योग्य है—'प्यारे देशवासियो, पुनीत आर्यावर्त के बसने वाले, क्या तुम अपनी इस तिरस्करणीय भीरुता से वह स्वाधीनता प्राप्त कर सकोगे, जो केवल वीर पुरुषों का अधिकार है? हे भारत निवासी भाइयो! अच्छी तरह याद रखो कि सीता, सावित्री और दमयंती तुम्हारी जाति की देवियाँ हैं। हे वीर पुरुषो! मर्द बनो और ललकार कर कहो कि मैं भारतीय हूँ, मैं भारत का रहने वाला हूँ। हर-एक भारतवासी चाहे वह कोई भी हो, मेरा भाई है। अपढ़ भारतीय, निर्धन भारतीय, ऊँची जाति का भारतीय, नीची जाति का भारतीय, सब मेरे भाई हैं। भारत मेरा जीवन, मेरा प्राण है। भारत के देवता मेरा भरण-पोषण करते हैं। भारत मेरे बचपन का हिंडोला, मेरे यौवन का आनंद-लोक और मेरे बुढ़ापे का बैकुंठ है।'

देश की आर्थिक दुर्दशा का स्मरण कर उन्हें रोना आता था। शिकागो के विश्व-धर्म सम्मेलन में एक बार उन्होंने ईसाइयों की कटु आलोचना करते हुए कहा था—'तुम ईसाई लोग मूर्ति-पूजकों की आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दीखते हो, किंतु इन मूर्ति-पूजकों को शरीर की क्षुधा को ज्वाला से बचाने के लिए क्या कर रहे हो? × × भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किंतु पूर्व जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रन्थ रखना उसका मज़ाक उड़ाना है।'

उन्होंने नारी-जाति के सम्मान और नर-नारी के इतने बड़े भेद को मिटाने की शिक्षा दी। ब्राह्मणों को देश-हित की दृष्टि से भारत की साँस्कृतिक धरोहर जनता में बाँटने की आज्ञा दी। संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा पर बल दिया। प्राणायाम को व्यर्थ बताया। चित्त-शुद्धि पर जोर देते हुए कहा, 'संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद के बदले, तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक दूसरे से प्रेम रखो।'

अभाव-ग्रस्त भारतीय जीवन के लिए विदेशों से एक सौदा करने का सुझाव भारतीय जनता को देते हुए उन्होंने कहा —'पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे।'

भारतीय अध्यात्मवाद के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने 'राम-कृष्ण मिशन' की स्थापना की। मिशन की सफलता के लिए स्वामी जी ने अनथक परिश्रम किया, जिसके कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। ४ जुलाई, १९०२ ई. को रात्रि के ९ बजकर १० मिनट

पर मुख से 'ओ३म्' की ध्वनि निकालते हुए और हाथ में माला जपते हुए ३९ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने इस नश्वर संसार को छोड़ दिया।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि का सजीव चित्रण करते हुए डॉ. आशा गुप्ता लिखती हैं—

४ जुलाई १९०२ ई. का दिन था। वे इतने प्रफुल्ल, प्रसन्न-चित्त दिखाई दे रहे थे जितने कई वर्षों से नहीं देखे थे। ब्राह्म मुहूर्त में वे उठे। पूजा-घर में गये। अभ्यास के विपरीत सब द्वार बन्द कर लिये। प्रातः आठ बजे से ग्यारह तक एकान्त में ध्यानावस्थित रहे। 'काली माँ' की ललित स्तुति गाई। बाहर आकर शिष्यों के साथ भोजन किया। छात्रों को संस्कृत पाठ पढ़ाया। प्रेमानन्द के साथ बेलुड़ मार्ग पर लगभग दो मील दूर तक पैदल गये। रास्ते में वैदिक कॉलेज की योजना बतायी कि उससे अंध-विश्वास नष्ट होगा। सन्ध्या के समय राष्ट्रों के अभ्युदय और पतन का प्रसंग छेड़ा। सात बजे आरती के लिए मठ में घंटा बजा। वे अपने कक्ष में चले गये। जो छात्र उनके साथ था उसे भी बाहर भेज दिया कि ध्यान में विघ्न नहीं होना चाहिए। पैंतालीस मिनट बाद उसे बुलाया। सब खिड़कियाँ खुलवा दीं। बायीं तरफ करवट लेकर धरती पर चुपचाप पड़े रहे। एक प्रहर बाद करवट ली। गहरा निःश्वास छोड़ा। कुछ क्षण सन्नाटा रहा। पुतलियाँ पलकों के मध्य स्थिर हो चुकी थीं। एक और गहरा निःश्वास! फिर चिर मौन!

उनके गुरु-भाई ने बताया था कि इनकी नाक, मुँह और आँखों में थोड़ा-सा रक्त आ गया था। शायद वे निर्विकल्प समाधि में चले गये थे—कुंडलिनी शक्ति जागरित करने!

कुल उनतालीस वर्ष और कुछ महीनों की आयु पायी थी उन्होंने। यह महा-संन्यासी जगत् के धर्म एवं कर्म के समुद्र में जो तूफान की उत्ताल तरंगें उठा गया, उसका आलोडन आज भी महसूस हो रहा है।

रोमाँ-रोलाँ ने कहा था, 'मैं कल्पना में जूटास मैकबियस का वही जयगान सुन रहा हूँ जो रामनाद की कीर्ति-यात्रा में गाया गया था। महान खिलाड़ी की अन्तिम प्रतियोगिता के बाद यह उसके स्वागत का गान था।'

"Take me, O mother, to those shores where strifes for ever cease,
Beyond all sorrows, beyond tears, beyond e'er an earthly bliss
Whose glory neither Sun, nor Moon, nor stars that twinkle bright,
Nor flesh of lighting can express. They but reflect its light.
Let never more delusive dreams veil off Thy face from me.
My play is done; O Mother, break my chains and make me free."

"My play is done"—Vivekananda.

(विवेकानन्द, पृष्ठ ११२)

मृत्यु से दो-तीन वर्ष पूर्व से समस्त सामाजिक कार्यों से विराम लेकर ध्यानधारणा में लीन हो गए थे, ऐसा उनके पत्रों से प्रतीत होता है। १८ अप्रैल, १९०० को सिम मैकलोड के नाम पत्र में उन्होंने लिखा था, 'आखिर मैं वही बालक हूँ, जिसने दक्षिणेश्वर के पीपल-तरु की छाया में बैठकर रामकृष्ण परमहंस की अध्यात्म-वाणी का श्रवण किया था। वही वाणी मेरी अन्तरात्मा में बसी हुई है। मेरी वास्तविक प्रकृति उसी की छाया है। शेष सब

बाह्य चेष्टाएँ तो केवल औपचारिक रूप से मेरे जीवन का अंग बन गई थीं। मेरा जीवन सामाजिक कार्यों में अस्थायी रूप में उलझ गया था। उन उलझनों की समाप्ति हो चुकी है। अब मैं पूर्ण प्रकृतिस्थ हूँ। कुछ वर्ष पूर्व का विवेकानन्द अब नहीं रहा, सदा के लिए विदा हो चुका।'

इससे भी अधिक स्पष्ट संकेत १२ मार्च, १९०० को स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे पत्र से प्राप्त होता है, 'अब मैं कुछ दिन जप और ध्यान में बिताऊँगा।'

इस तप-तपस्या का फल उन्हें प्राप्त हुआ। हृदय में एक ज्योति जागृत हुई। वे कह उठे, 'मैं पहले कभी इतना प्रशान्त नहीं हुआ, जितना अब हूँ।' कारण, वे अब उस संसार के हित-चिंतन से मुक्त हो गए थे, 'जो रोटी की कीमत खून में लेता है, जो एक पौंड खून लिए बिना एक रोटी नहीं देता।'^१

वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द ने हिंदू धर्म, भारतीय-संस्कृति एवं भारत के नर-नारियों की जो सेवा की उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में 'वे केशव के समान अठारह शक्तियों के स्वामी थे।' भारतीय जनता हिंदू धर्म की गंगा को स्वामी रामकृष्ण की वैयक्तिक समाधि के कमण्डलु से निकालकर सारे विश्व में फैलाने वाले भगीरथ स्वामी विवेकानन्द की सदा-सर्वदा ऋणी रहेगी।

परिव्राजक की प्रतिमा

परम हर्ष और सौभाग्य का विषय है कि राष्ट्र के प्रबुद्ध एवं संस्कृतिप्रिय नायकों ने स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों का महत्त्व अनुभव कर उनके सन्देश को पुनः जाग्रत करने एवं उसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार करने हेतु 'विवेकानन्द शिला-स्मारक' निर्माण का पुनीत कार्य किया है।

बंगोपसागर, हिन्दमहासागर और अरब सागर के संगम-स्थल की तरंगों के बीच दिग्विजयी संन्यासी स्वामी विवेकानन्द की आठ फुट की कांस्य प्रतिमा एवं शिला-स्मारक का २ सितम्बर, १९७० को प्रातः सवा नौ बजे भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वराहगिरि वेंकटगिरि ने वैदिक-मंत्र-ध्वनियों के बीच उद्घाटन किया। 'उठो, जागो और तब तक चैन न लो' का स्वामी विवेकानन्द का आह्वान प्रत्येक भारतीय को झकझोरता रहेगा। इसी दिन सन् १८९३ के शिकागो (अमेरिका) के विश्वधर्म सम्मेलन में स्वामी जी ने हिंदू-धर्म के उपदेश से धर्म-प्रचारकों और ज्ञानपिपासुओं को मन्त्र-मुग्ध कर दिया था। कन्याकुमारी की इसी शिला पर बैठकर स्वामी विवेकानन्द ने, जिस पर कभी कन्या पार्वती ने साधना की थी, आत्म-दर्शन किया था।

शिला-स्मारक की कल्पना सन् १९६२ में स्वामी जी की जन्मशती पर रामकृष्ण मिशन, मद्रास द्वारा बुलाए गए सम्मेलन में केरल के सामाजिक कार्य-कर्ता सासुशीलन परमेश्वरम् पिल्लै द्वारा प्रस्तुत की गई। इस योजना में मात्र मूर्ति प्रतिष्ठापन की बात थी, पर स्थानीय मछुओं ने इसका विरोध कर इस स्थान पर सलीब की स्थापना कर दी। तमिलनाडु में

१. १७ जून, १९०० को मेरी हेल को लिखे पत्र का एक अंश।

श्रीपादपारे के नाम से प्रसिद्ध इस शिला पर देवी के चरण चिह्नों को सेंट जेवियर के चरण-चिह्न भी बताया गया। वास्तव में यह शिला मुख्यभूमि का एक भाग थी और कन्याकुमारी का मूल मन्दिर यहीं था। कालांतर में सागर के कटाव के कारण शिला मुख्य-भूमि से अलग हो गई और देवी का मन्दिर किनारे पर बनाया गया। आज भी विग्रह-सिंहासन तथा देवी के चरण-चिह्न शिला पर हैं, जिसके ऊपर द्रविड़ स्थापत्य मन्दिर का निर्माण स्मारक-समिति ने किया है।

राजकीय उदासीनता और स्थानीय विरोध के कारण यह कार्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने अपने हाथ में ले लिया। फलतः केरल के वयोवृद्ध नेता एच. मन्नथ पद्मनाभम् इसके अध्यक्ष और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन बौद्धिक प्रमुख श्री एकनाथ रानाडे संगठन मंत्री बने।

श्री एकनाथ रानाडे के प्रयत्नों से ३३२ संसद्-सदस्यों की एक शिलास्मारक समिति बनी, जिसने २३ सितम्बर, १९६३ को प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का इस स्मारक के लिए समर्थन प्राप्त कर लिया। केन्द्रीय सरकार के समर्थन के कारण तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री भक्तवत्सलम ने भी २१ दिसम्बर, १९६३ को इस योजना को स्वीकृति प्रदान कर दी।

सम्पूर्ण राष्ट्र में धन-संग्रह आंदोलन चला। स्मारक पर कुल खर्च की योजना एक करोड़ बीस लाख रुपए की थी, वह पूर्ण हुई। इस स्मारक-निर्माण का श्रेय ४५० पुश्तैनी कलाकारों की लगन और समर्पित-परिश्रम के प्रतीक श्री स्वा. क. आचार्य को है जिन्होंने ५ वर्ष में स्मारक को साकार रूप दिया।



मौर्यकाल में हिन्दुकुश से लेकर तमिल देश तक भरत-खंड के जिस विशाल राज्य की स्थापना हुई थी और भारतवर्ष में जिस आन्तरिक-एकता और एक राष्ट्रीयता का विकास हुआ था, वह समय पाकर क्षीण हो गई। उत्तर-पश्चिम और उत्तर से अनेक विदेशी लोगों ने इस देश पर आक्रमण किये और अनेक भूखण्डों पर अधिकार कर लिया। इन विदेशियों ने भारतीय-जनता पर क्रूर-अत्याचार किये जिनसे देश की जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। इन्हीं आक्रमणकारियों में शक लोग भी थे। ये लोग पारस कुश से सिंध आये थे, सिंध से सौराष्ट्र, गुजरात और महाराष्ट्र में फैल गये। फिर, दक्षिण गुजरात से इन लोगों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। इस आक्रमण की नृशंसता की कल्पना करना आज कठिन है। इन आक्रमणकारी शकों ने सारी उज्जयिनी का पूरी तरह विध्वंस कर उस स्थान को गधों द्वारा हल से जुतवाकर समतल कर दिया। यहाँ से यह शक सत्ता विदिशा और मथुरा की तरफ फैली। सिंध की ओर से ये शक क्षत्रप पेशावर के क्षेत्र और स्वात की दूनों तक बढ़ गये थे।

विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा देश का इस प्रकार रौंदा जाना, बिना सोच-विचार के बालकों और स्त्रियों की हत्या किया जाना उस युग की जनता को असह्य हो उठा। तभी मालवगण के प्रमुख नायक विक्रमादित्य के नेतृत्व में देश की जनता और राजशक्तियाँ उठ खड़ी हुई और इन विदेशियों को खदेड़ कर देश से बाहर कर दिया। शकों के अत्याचारों और अनाचारों से मुक्ति दिलाने वाले इस महान् वीर योद्धा को इस देश की जनता, साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों ने पर्याप्त सम्मान प्रदान किया। उस युग से लेकर आधुनिक काल तक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्रादेशिक भाषाओं में विक्रम-चरित्र सम्बन्धी सैकड़ों ग्रंथ लिखे गये हैं। सुभाषितों में, धार्मिक ग्रन्थों में, कथा-साहित्य में और लोक-कथाओं में विक्रम-चरित्र ओत-प्रोत है।

इस पराक्रमी महावीर का जन्म अवन्ति देश की प्राचीन नगरी उज्जयिनी में हुआ था। पिता महेन्द्रादित्य गणनायक थे और माता मलयवती थीं। इस दम्पती को पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक व्रत तथा तप करने पड़े थे। शिव की नियमित उपासना और आराधना से उन्हें पुत्ररत्न मिला था। उसका नाम विक्रमादित्य रखा गया। विक्रम के युवावस्था में प्रवेश करते ही पिता ने राज्य-कार्य का भार उसे सौंप दिया।

हिन्दी-साहित्य कोष भाग-२; पृष्ठ ५२७ पर इनका वास्तविक नाम चन्द्रगुप्त बताया गया है और लिखा है कि अश्वमेघ के अनन्तर इन्होंने 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की थी, किन्तु गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त बताकर विक्रमादित्य कहना भ्रान्त धारणा है। कल्याण के

हिन्दू संस्कृति अंक पृष्ठ ५६८ पर लिखा है—‘हमारा विक्रम संवत् जिन लोकोत्तर मालव गणाधीश भगवान् महाकालेश्वर के परम-सेवक ने प्रचलित किया, आज के ऐतिहासिक उनका पता ही नहीं लगा सके। चन्द्रगुप्त प्रथम ने विक्रम की उपाधि धारण की, इस कल्पना पर ही उनका संतोष हो जाता है।’ ‘चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा के ‘चरित्रकोश’ में विक्रमादित्य नाम ही दिया गया है। (पृष्ठ ४४८), इतना ही नहीं उन्होंने ‘चन्द्रगुप्त’ चित्रण में विक्रमादित्य स्वीकार नहीं किया। (पृष्ठ १४९-१५०)

राज्यकार्य संभालते ही विक्रमादित्य को शकों के विरुद्ध अनेक लड़ाइयों में उलझ जाना पड़ा। उसने सबसे पहले उज्जयिनी और आस-पास के क्षेत्रों में फैले शकों के आतंक को समाप्त किया। सारे देश से शकों के उन्मूलन से पूर्व विक्रम ने मालव गणतंत्र का फिर संगठन किया और उसे अत्यधिक बलशाली बनाया, और वहाँ से शकों को मूलोच्छेदन किया। जिस शक्ति का विक्रम ने संगठन किया था, उसका प्रयोग उसने देश के शेष भागों में से शक सत्ता को समाप्त करने में लगाया और उसकी सेनाएँ दिग्विजय के लिए निकल पड़ीं। ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं कि शकों का नाम-निशान मिटा देने वाले इस महापराक्रमी वीर के घोड़े तीनों समुद्रों का पानी पीते थे। इस दिग्विजयी मालवगण नायक विक्रमादित्य की भयंकर लड़ाई सिंध नदी के आस-पास करूर नामक स्थान पर हुई। शकों के लिए यह इतनी बड़ी पराजय थी कि कश्मीर सहित सारा उत्तरापथ विक्रम के अधीन हो गया। विक्रमादित्य ने विदेशियों के आक्रमणों से आक्रान्त जिस खंडित भारत का पुनर्गठन कर नये राज्य का निर्माण किया था, उसमें अपरान्त सहित दक्षिणापथ, सौराष्ट्र सहित मध्यप्रदेश, बंग और अंग सहित पूर्वी प्रदेश सम्मिलित थे। इन सब देशों के राजा उज्जयिनी लाये गये और शकों की पराजय के उपलक्ष्य में विक्रमादित्य के साथ जुलूस निकला। गौड़ (बंगाल), कर्नाटक, लाट (दक्षिण गुजरात), कश्मीर और सिंध के राजा, बिंध्यबल नामक भील राजा और निर्मूक नामक एक पारसीक राजा उस जुलूस में सम्मिलित थे। बाद में कलिंग के राजा कलिंगसेन ने भी विक्रमादित्य की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

विक्रम की प्रशस्ति में लिखे गये शिलालेखों में उसे ‘देशकाल के अनुसार धर्म, अर्थ और काम को यथोचित अनुपात में रखने वाला, औरों के सुख में सुख और दुःख में दुःख को मानने वाला, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करने वाला, कृतापराध शत्रुओं का भी प्राण लेने को अनिच्छुक, द्विजों और अवरो (शूद्रों) के कुटुम्बों का बढ़ाने वाला, चातुर्वर्ण्य का संकट रोकने वाला; शक, यवन, पल्हव, खखरातों का निदूषक’ आदि अनेक विशेषणों से स्मरण किया गया है। चातुर्वर्ण्य का संकर रोकने से अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि विक्रमादित्य ने भारतीय समाज का शकों के साथ विवाह आदि सम्बन्धों को भी रोकने की चेष्टा की थी। वस्तुतः उसका सम्पूर्ण प्रयत्न विदेशी आक्रान्ताओं का पूरी तरह दमन करना था। उन्हें हराने के बाद सामाजिक दृष्टि से भी उन्हें गिराने का यत्न किया।

जनश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य ने समुद्रपार मलयद्वीप से संबंध स्थापित किये थे और वहाँ की राजकुमारी से विवाह किया था। लोककथाओं के राजा सिंहल की पत्नियों से सदा विवाह करते रहे हैं। इसी परम्परा के अनुसार विक्रम का सिंहल की राजकुमारी

मदनेलखा से भी विवाह का उल्लेख मिलता है। ये सब उल्लेख बृहत्तर भारत की स्थापना के चिह्न हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य है कि शकों का उन्मूलन करने और उन पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में विक्रम-संवत् आरम्भ किया गया था जो कि इस समय की गणना के अनुसार ईस्वी सन् से ५७ वर्ष पहले शुरू होता है। इस महान् विजय के उपलक्ष्य में मुद्राएँ भी जारी की गई थीं, जिनके एक ओर सूर्य है, दूसरी ओर 'मालवगणस्य जयः' लिखा हुआ है।

विदेशी आक्रमणकारियों को समाप्त करने के कारण केवल कृतज्ञतावश उसके नाम से संवत् चलाकर ही जनसाधारण ने उन्हें याद नहीं रखा, बल्कि दिन-रात प्रजापालन में तत्परता, परदुःख-परायणता, न्याय-प्रियता, त्याग, दान, उदारता आदि गुणों के कारण और साहित्य और कला के प्रश्रयदाता के रूप में भी स्मरण किया जाता है। उसके इन गुणों को, लोकमानस में सदा के लिए अंकित करने को उत्सुक मनीषियों ने अपने ग्रन्थों में विस्तार के साथ स्थान दिया। इस प्राचीन मनीषियों द्वारा लिखे गये वर्णनों से इन सब बातों पर प्रकाश पड़ता है।

इन वर्णनों से पता चलता है कि भारतीय-साहित्य के अमर कवि और नाटककार कालिदास को विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में स्थान प्राप्त था। स्वयं कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में इस नाटक के मालव गणनायक विक्रमादित्य की उपस्थिति में खेले जाने का उल्लेख है। कालिदास ने रघुवंश में रघु की विजय-यात्रा का जो चित्रण किया है, उनके बारे में कहा जाता है कि वह वस्तुतः विक्रमादित्य की दिग्विजय पर निकली सेना की यात्रा का वर्णन किया है—

'उसने अपने देश को विद्रोहियों से शून्य कर दिया, पड़ोसी राजाओं को मित्र बनाया और छह अंगों वाली सेना लेकर दिग्विजय के लिए निकल पड़ा।'

'अपने तीरों से शत्रुओं के दाढ़ीवाले सिर काट-काटकर उसने भूमि को पाट दिया। वे सिर मधुमक्खियों से भरे हुए छत्तों के समान दीख पड़ते थे।'

'सिंधु नदी के तीर पर लोट-लोटकर उसके घोड़ों ने अपनी थकान मिटाई। उसके बाद के कुंकुम और केसर से रंगे अपने कंधे झाड़ने लगे।'

'उसने नाव चलाने में निपुण बंगवासियों को अपने बल से उखाड़कर गंगा की धाराओं के बीच के प्रदेशों में अपने जयस्तम्भ गाड़ दिए।'

महाकवि कालिदास के अलावा विक्रम के नवरत्नों में सुप्रसिद्ध चिकित्सक और वैद्य धन्वन्तरि, अमरकोष के रचयिता अमरसिंह, वराहमिहिर और वररुचि जैसे महाविद्वानों की गणना की जाती है। यह इस बात का द्योतक है कि विक्रमादित्य के समय साहित्य, कला, ज्योतिष तथा इसी प्रकार की अन्य विद्याओं को राजकीय प्रश्रय मिला हुआ था और इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था।

इस प्रतापी, वीर और साहित्य का संवर्धन करने वाले लोकनायक को जनता ने अपने हृदयों में जो स्थान दिया, उसका कारण जनता पर पड़ने वाला सीधा प्रभाव था। जनता को मुग्ध कराने वाले इन गुणों का वर्णन विभिन्न आख्यायिकाओं में मिलता है जो कि बाद

के ग्रन्थकारों ने विक्रमादित्य की स्मृति में लिखीं। इनमें सिंहासनद्वात्रिंशिका का विक्रम-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें विक्रम के जिस व्यक्तिगत चरित्र का चित्रण किया गया है, वह अतिरंजित होते हुए भी इतना मोहक है कि विक्रम के महान् व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाता है। इसके अनुसार विक्रम के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई उपयुक्त व्यक्ति न मिलने के कारण उसे गाड़ दिया गया। बहुत समय बाद यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब सिंहासन पर बैठने के लिए आगे बढ़ा तो सिंहासन में लगी बत्तीस पुतलियों में से एक मानवी भाषा में बोली, 'राजन्! यदि तुममें विक्रमादित्य जैसे शौर्य, उदारता, साहस तथा सत्यवादिता है, तभी तुम इस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न करना। राजा भोज ने उस पुतली से विक्रमादित्य के गुणों का वर्णन करने का अनुरोध किया। इस प्रकार सिंहासन की बत्तीस पुतलियों द्वारा एक-एक कर विक्रम के गुणों का वर्णन कराया गया है। बाद में यह सिंहासन ऊर्ध्वलोक चला गया। इस प्रकार सम्राट् विक्रम ने अनायास बेतालसिद्ध कर लिया था।

इन वर्णनों में विक्रम के दान का, उसकी परोपकारिता, उदारता, क्षमा, आत्म-बलिदान का वर्णन है। दूसरे की थोड़ी-सी भलाई के लिए वह अपने को संकट में डालने से नहीं चूकता था, करोड़ों की संख्या में दान देता था। इनमें विक्रमादित्य की दिग्विजय का भी वर्णन है और उसके राज्य की दशा का भी। राज्य की दशा का जो चित्रण किया गया है वह आदर्श राम-राज्य को भी मात देता है। इस कथा के अनुसार विक्रम के शासनकाल में प्रजा पूर्णरूप से आनन्दित थी। अन्न आदि प्रचुर मात्रा में था। आवश्यकतानुकूल वर्षा होती थी। इसलिए वृक्ष फल-फूलों से लदे रहते थे। लोगों में पाप की ओर बिल्कुल प्रवृत्ति नहीं थी। वृद्धों, गुरुजनों, अतिथियों की सेवा होती थी। लोग दीर्घायु थे। सभी लोग अपने-अपने काम निष्ठा के साथ करते थे और सदाचारी थे।

अरबी के प्रसिद्ध कवि जर्हम बिनतोई ने अपनी एक कविता में राजा विक्रमादित्य की प्रशंसा में लिखा है—

‘वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य-काल में उत्पन्न हुए, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा और प्रजा-पालक था, परन्तु ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूल कर भोग-विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सबसे बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश में अविद्या ने अंधकार फैला रखा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फँसकर छट-पटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फँसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात की तरह अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदायी प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ, यह उसी धर्मात्मा राजा विक्रम की कृपा है, जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दयादृष्टि से वंचित नहीं किया, और पवित्र धर्म का सन्देश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहाँ भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन पुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना और सत्य-गामी हुए, वे लोग राजा विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।

(अरबी में लिखी 'जर्हम बिनतोई' पुस्तक से)

इतिहासप्रसिद्ध मालवगणनायक विक्रम पर दुःखभंजक, जनमनरंजक, दानी, संवत् - प्रवर्तक और वीर के रूप में जब लोक-मस्तिष्क में गहराई से प्रविष्ट हो गया, तब लोकमानस उसे गणनायक के रूप में भूल गया और उसे सम्राट् के रूप में पूजने लगा। सम्राट् विक्रमादित्य के नाम का लोकमानस पर जादू का-सा प्रभाव देखकर भारत के अनेक विजेताओं ने अपने नाम के साथ 'विक्रमादित्य' जोड़ लिया। जिस किसी शक्तिशाली सम्राट् ने इस देश से विदेशियों को निकाला और उन्हें पराजित किया, उसने अपने नाम के पीछे 'विक्रमादित्य' की उपाधि लगा ली। प्रायः विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले सम्राट् यशस्वी, वीर और अपने युग के लोकप्रिय जननेता रहे हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय, समुद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, यशोधर्मन देव आदि ऐसे ही सम्राट् थे। यहाँ तक कि हेमू ने भी, जब उसे यह भ्रम हुआ है कि मुगल-सम्राज्य को उखाड़ फेंकेगा, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

आज यद्यपि जनमानस के विख्यात विद्याप्रेमी परदुःख भंजक, बेतालसिद्ध, न्यायादर्श शकारि सम्राट् विक्रमादित्य का क्रमबद्ध इतिहास हमें प्राप्त नहीं है, फिर भी अनुश्रुतियों, जनश्रुतियों, इधर-उधर बिखरी सामग्री से मातृभूमि के इस महान् रक्षक का जो चित्र सामने आता है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि शकों को परास्त करने के उपलक्ष्य में उसके नाम से जो संवत्सर चलाया गया, वह जनता की उस महान् व्यक्ति के प्रति मूक श्रद्धांजलि थी।



‘राखी हिन्दुआनी, हिन्दुआन को तिलक राख्यो,
स्मृति पुरान राख्यौ, बेदबिधि सुनी मैं।
राखी रजपूती, रजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, गुन राख्यो गुनी में॥

‘भूषन’ सुकवि जीति हृद मरहट्टन की,
देश देश कीरति बखानी तब सुनी मैं॥

साह के सपूत सिवराज! समसेर तेरी,

दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी में।’

—भूषण

शिवाजी के सम्बन्ध में उनके परम शत्रु बादशाह औरंगजेब ने एक बार कहा था, ‘मेरा शत्रु महान् सेनानी है। मैंने उन्नीस साल तक उसके विरुद्ध युद्ध का संचालन किया, परन्तु उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई।’

वस्तुतः छत्रपति शिवाजी ने अत्यन्त निराशाजनक परिस्थिति में स्वदेश तथा स्वधर्म की स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा का व्रत लेकर देश-प्रेम, अतुल प्रतिभा, विजिगीषु राजनीति, असाधारण साहस तथा दृढ़ निश्चय के बल पर यवन राजकीय सत्ता का आह्वान किया और कर्तव्य से विजय की अक्षुण्ण परम्परा निर्माण कर हिन्दू-राष्ट्र का स्वप्न साकार किया।

जिस समय छत्रपति शिवाजी का जन्म हुआ, उस समय देश की अत्यन्त दुरवस्था हो रही थी। यवनों के निरन्तर आक्रमण और अत्याचार से संत्रस्त होकर जनता ‘विष्णु पृथ्वीपति’ कहकर उन्हें ही परमात्मा द्वारा प्रेषित समझने लगी थी। महापराक्रमी और बलशाली योद्धा भी परकीय सत्ता की सेवा करने में अपने आपको धन्य मानने लगे थे। अपनी आन के पक्के राजपूत तलवार के पानी को छोड़ यवन-सम्राटों को अपनी बहिन अथवा पुत्री देकर उनसे सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे और स्वयं सुरा में मस्त तथा सुन्दरी के पग-नुपूरों के झंकार में आनन्द-विभोर हो रहे थे। बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित ‘दिल्लीश्वर’ को ‘जगदीश्वर’ की उपमा देकर उसका ऐसा गुणगान करते थे कि मानो ‘मनोरथ पूर्ण करने में दिल्लीपति अथवा भगवान् के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं है।’

‘दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।

अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्।’

हिन्दू-समाज मुर्दा हो चुका था। हिन्दुओं की बहू-बेटियों का प्रत्यक्ष रूप में अपमान होता था। मुगल-साम्राज्य में साँस लेने के लिए भी हिन्दुओं को जजिया देना पड़ता था। देवमन्दिर गिराकर मस्जिदें बनवाई जा रही थीं। हिन्दू-जनता की श्रद्धा-बिन्दु गौ का वध हो रहा था। सारांश यह कि हिन्दू-समाज की प्रत्येक मान्यता और श्रद्धा-केन्द्र को नष्ट

अथवा अपवित्र करने में ही यवन सम्राट् अपने कर्तव्य की पूर्ति समझते थे। पंडित जवाहरलाल जी भी लिखते हैं, 'औरंगजेब उल्टी चाल चलने वाला आदमी था और अपनी समस्त योग्यता और उत्साह के रहते हुए भी उसने अपने बाप-दादा के नाम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मान्ध व्यक्ति था। उसे कला और साहित्य से कोई प्रेम न था।'

शिवाजी का जन्म १० अप्रैल, सन् १६२७ ई. को हुआ। उनके पिता का नाम शाहजी भोंसले और माता का नाम जीजाबाई था। शाहजी भोंसले चित्तौड़ के महाराज सज्जनसिंह के वंशज थे, जिन्होंने विक्रम सम्वत् १३६७ में चित्तौड़ छोड़कर दक्षिण भारत को अपना निवास बनाया था। इस प्रकार शिवाजी में भी उस सर्वश्रेष्ठ मानधनी सिसौदिया-कुलीय राजपूती रक्त का संचार हो रहा था। जहाँ भी उस रक्त ने अपने को प्रकट किया, उसका शौर्य अदम्य रहा।

शिवाजी के नामकरण के बारे में इतिहासकारों के दो मत मिलते हैं। प्रथम मत के समर्थकों का कहना है कि युद्धों में व्यस्त शाहजी को एक रात स्वप्न में एक साधु दिखाई दिया। उसके हाथ में एक आम था। उसने कहा कि तुम यह आम अपनी पत्नी को खिला दो, कुछ समय बाद तुम ऐसे पुत्र के पिता बनोगे जो स्वयं भगवान् शिव का अवतार-स्वरूप होगा। जब शाहजी की स्वप्ननिद्रा भंग हुई, तो उन्हें वस्तुतः आम की प्राप्ति हुई। जीजाबाई को उन्होंने यह आम खिलाया और पुत्र-रत्न उत्पन्न होने पर भगवान् शिव के नाम के आधार पर उसका नाम 'शिवाजी' रखा गया। दूसरे मतानुसार, जीजाबाई अपने पिता और पति के परस्पर संघर्ष से खिन्न और उद्विग्न होकर शिव की उपासिका बन गई थीं। अतः उन्होंने अपने पुत्र का नाम शिवाजी रखा। कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद है कि शिवाजी के नामकरण के मूल में शिवभक्ति का भाव विद्यमान है।

शाहजी युद्धों में व्यस्त रहते थे। अतः उन्होंने जीजाबाई को उत्तर की ओर कोंकण प्रदेश में दादाजी कोंडदेव की रक्षा में शिवनेरी किले में भेज दिया। शाहजी ने दीपाबाई नाम की दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया और जीजाबाई की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। कुछ इतिहासकार इसे शाहजी द्वारा श्वसुर जाधवराव से बदले की भावना का साकार रूप मानते हैं और कुछ इसे राजाओं की परम्परा में गिनते हैं। एक अन्य मत के अनुसार शाहजी के एक शत्रु मल्हारखाँ ने अहमदनगर पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण से शाहजी तो बचकर भाग गए, किंतु जीजाबाई कैद कर ली गई। बीजापुर रियासत के साथ मल्हारखाँ की सन्धि पर ही जीजाबाई मुक्त हुई। इस बीच शाहजी ने बीजापुर दरबार में नौकरी कर ली थी और अन्य स्त्री से शादी भी कर ली थी।

पति-परित्यक्ता जीजाबाई का ध्यान पुत्र पर केन्द्रित हो गया। उसने पुत्र में वीरोचित भावना उत्पन्न करने एवं युद्ध और सन्धिचक्रों की शिक्षा देने के लिए रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनाई। बीजापुर की ओर से शाहजी को पूना और सूपा का राज्य मिलने पर शाहजी ने जीजाबाई तथा शिवाजी को पूना-सूपा भेज दिया। दादाजी कोंडदेव इस जागीर के प्रबंधक नियुक्त हुए। दादाजी कोंडदेव जैसे परम नीतिज्ञ एवं सूरमा के संरक्षण में शिवाजी ने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की। राम की भाँति उन्होंने वानर-जाति के वीर पुरुषों के उत्तराधिकारी, पर्वतों तथा कोंकण की घाटियों में विचरने वाले मावलियों को अपनाया, उन्हें अपना सखा

बनाया और एक मण्डली बना ली। शनैः शनैः शिवाजी ने मावली शूरों का नेतृत्व संभाला और धर्म, राष्ट्र एवं संस्कृति के परित्राण के लिए 'भवानी' (शिवाजी की तलवार) की शरण ली।

एक बार शाहजी शिवाजी को बीजापुर दरबार में ले गए। दरबार में ले जाने का कारण सम्भवतः 'पूना-सूपा की जागीर शिवाजी के नाम कराना' था। दरबार में यवन-नरेश को अपना अधिपति देखकर बालक शिवाजी के मन में घृणा और रोष के भाव उत्पन्न हो गए। उन्होंने बादशाह को 'मुजरा' (झुककर प्रणाम) न किया। शाहजी ने 'बालक नाबालिग है' कहकर मामले को शांत कर दिया, किन्तु शिवाजी के मन में विदेशी राज्य और बादशाह के प्रति घृणा घर कर गई थी।

उन्होंने मावली जनता का संगठन कर सेना बनाई तथा यवन-किलों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। जब शाहजी को इन कृत्यों की सूचना मिली, तो उन्होंने शिवाजी को बीजापुर नरेश का भक्त बनकर सांसारिक ऐश्वर्य उपभोग करने की प्रेरणा दी। 'माता की स्वतन्त्र लोरियों तथा पहाड़ी प्रदेशों की उत्तुंग चोटियों की स्वाभाविक स्वतन्त्र पवन में विकसित उमंगें दरबार के सुनहरे ऐश्वर्यों से तृप्त न हो सकती थीं।' इन्हीं दिनों सन् १६४७ में दादाजी कोंडदेव की मृत्यु हो गई। दादाजी की मृत्यु के पश्चात् शिवाजी स्वतन्त्र हो गए और उन्होंने जागीर का प्रबन्ध तथा शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली।

बीजापुर का बादशाह आदिलशाह दस वर्ष बीमार रहा। इसलिए दरबार तथा राज्य का काम-काज बड़ी बेगम देखती थीं। शिवाजी ने उपयुक्त समय समझकर यवन-किलों पर आक्रमण शुरू कर दिए। सर्वप्रथम सन् १६४६ में उन्होंने तोरण का किला जीता, तत्पश्चात् राजगढ़, चाकण, कोंडाना, पुरन्दर, सूर्यगढ़, वीरवाड़ी, ताला, धोसलगढ़, भूरप, मंगोही किलों के साथ रायगढ़ के अभेद्य किले को भी जीत लिया। इस जीत में शिवाजी को पर्याप्त धन-सम्पत्ति तथा अनेक शस्त्रास्त्र प्राप्त हुए।

शिवाजी के इन कार्यों से बीजापुर दरबार में खलबली मच गई। शाहजी को कैद कर लिया गया और अफजलखाँ को शाहजी की सम्पत्ति जब्त करने का आदेश दिया गया। बीजापुर दरबार की ओर से बाजी श्यामराज शिवाजी को कैद करने आया, किन्तु वह उन्हें कैद न कर सका। उल्टा शिवाजी ने छापा मारकर उसकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। तदनन्तर शिवाजी ने शाहजी के जीवन-काल तक बीजापुर-दरबार के प्रदेशों पर आक्रमण न करने का वचन देकर शाहजी को रिहा करवा दिया। शाहजी कैद से छूटकर तुंगभद्रा प्रदेश में रहने लगे।

सन् १६४९ से १६५५ तक शिवाजी ने बीजापुर-दरबार के किसी प्रदेश पर आक्रमण नहीं किया। इसी बीच वे अपने शक्ति-संचय एवं सैन्य-प्रशिक्षण में लगे रहे।

सतारा जिले के उत्तर-पश्चिम में जावली नामक स्थान है। सामरिक दृष्टि से यह स्थान शिवाजी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। अतः शिवाजी ने इस प्रदेश पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। यहाँ से दो मील दूर उन्होंने प्रतापगढ़ नामक पहाड़ी पर एक दुर्ग बनवाया और वहाँ अपनी आराध्य देवी 'भवानी' की प्रतिष्ठा की।

शिवाजी ने कूटनीति खेली। वह मुगल दरबार से मिलकर बीजापुर दरबार से छीने

गए प्रदेशों को हस्तगत करना चाहते थे। उधर, बीजापुर-दरबार को जब पता लगा तो उसने शिवाजी को मुगलों पर आक्रमण करने को उकसाया। शिवाजी ने चमार-गुण्डा और रायसीन एवं चुन्नर शहर पर आक्रमण कर, उन्हें खूब लूट। यह देख बीजापुर-दरबार ने मुगलों से सन्धि कर ली। परिणामस्वरूप शिवाजी को कुचलने के लिए अफजलखाँ को भेजा गया।

अफजलखाँ दस हजार सैनिक लेकर शिवाजी पर आक्रमण करने चला। वह चाहता था कि शिवाजी मैदान में आकर लड़ें, इसलिए उसने पंढरपुर के देवालय का विनाश एवं शिवाजी की आराध्य देवी तुलजापुर की भवानी के मन्दिर का ध्वंस किया। अनेक गाँव उजाड़ दिए; स्त्री-पुरुषों की मान-मर्यादा का भंग आदि कितने ही महा-भीषण और हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित किए, किंतु शिवाजी जानते थे कि मैदान में लड़ना अपनी पराजय को निमंत्रण देना है। अतः वे शांत हृदय से सब कुछ देखते रहे। अन्ततः अफजलखाँ को एक चाल सूझी, उसने कृष्णाजी भास्कर के द्वारा शिवाजी को एकांत-मिलन का संदेश भेजा। शिवाजी ने फुसलाकर कृष्णाजी भास्कर से यह पता लगा लिया कि अफजलखाँ की नीयत साफ नहीं है। शिवाजी ने भी पूरा जोखम उठाकर मिलने की स्वीकृति दे दी। मिलन-स्थल के चारों ओर शिवाजी ने अपनी सेना को छिपा दिया और स्वयं शरीर पर कवच आदि धारण कर और उनके ऊपर साधारण वस्त्र पहन कर तथा हाथ में बघनख छिपाकर अफजलखाँ से मिलने गए। भुजा फैलाकर मिलते समय अफजलखाँ ने शिवाजी को अपने पकड़ में लेकर उनकी पीठ पर तलवार का वार किया। शिवाजी पहले से ही उद्यत थे। उन्होंने बघनख को अफजलखाँ के पेट में घुसेड़कर उसको परलोक भेज दिया। पहाड़ी पर छिपी मराठा सेना ने यवन-सेना पर आक्रमण कर दिया। पहाड़ी रास्तों से अपरिचित यवन-सेना कुछ मारी गई और कुछ बंदी हो गई। उसका खजाना तथा युद्ध-सामग्री भी मराठा सेना के हाथ लगी। बंदियों में अफजलखाँ की औरतें भी थीं, जिन्हें शिवाजी ने स-सम्मान वापिस भेज दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक स्वर्गीय श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर इस घटना को कि अफजलखाँ ने पहले वार किया और शिवाजी ने बाद में, सत्य नहीं मानते। उनका कहना है, 'यह तो सर्वमान्य बात है कि शिवाजी एक बड़े भारी राजनीतिज्ञ थे। मैं समझता हूँ कि ऐसा राजनीति-चतुर पुरुष इतने मजबूत दगाबाज शत्रु को अपने सामने पाकर भी उसके वार की प्रतीक्षा करता रहा होगा, इस पर विश्वास करना केवल मूर्खता-मात्र है। स्वयं शिवाजी ने मिर्जा राजा जयसिंह को अपने हाथ से लिखे पत्र में लिखा है, 'यदि मैं पहले हाथ न चलाता तो यह पत्र किसने लिखा होता? मैंने पहले वार कर उसका विनाश किया अन्यथा उसके एक ही वार में मेरे टुकड़े हो जाते। ऐसी स्थिति में अपना विनाश कराने के लिए उसे मौका देने का समय मेरे पास नहीं था।' इस प्रकार जैसे ही वह मिलने आया, इन्होंने उसका आलिंगन किया, गले लगाया और उसे मौत के आलिंगन का अनुभव करा दिया।'

अफजलखाँ की मृत्यु पर बीजापुर दरबार ने कर्नूल के जागीरदार सीदी जौहर से सन्धि करके उसे शिवाजी पर आक्रमण करने भेजा। इधर, मुगल सेना शिवाजी के किले छीनने

में लगी हुई थी। शिवाजी दुविधा में पड़ गए। उनकी सेना घिर गई। हताश शिवाजी ने सीढ़ी जौहर से सन्धि कर ली। दोनों ने एक दूसरे की रक्षा का वचन दिया।

बीजापुर-दरबार को जब यह पता लगा तो बादशाह स्वयं विशाल सेना लेकर दोनों पर आक्रमण करने चला। शिवाजी मैदान में नहीं लड़ सकते थे। अतः एक रात्रि अपनी सेना को, जो अभी पन्हाला किले में ही थी, लेकर विशालगढ़ किले की ओर निकल गए। शिवाजी ने बाजीप्रभु को एक सैनिक टुकड़ी देकर आदेश दिया कि जब तक वे विशालगढ़ के किले में पहुँचकर तोपों की गड़गड़ाहट नहीं करते, तब तक वह यवन-सेना को आगे न बढ़ने दे। बादशाही सेना को जब शिवाजी के निष्क्रमण का पता लगा तो उसने शिवाजी का पीछा किया, किन्तु मार्ग में बाजीप्रभु और उसके साथियों ने मृत्यु-पर्यन्त बादशाही सेना को आगे न बढ़ने दिया। उधर, विशालगढ़ किले से तोपों की गड़गड़ाहट हुई, इधर घायल बाजीप्रभु अपने कर्तव्य की पूर्ति करता परमलोक को सिधार गया। हताश मुगलसेना बीजापुर से वीर बाजीप्रभु के रक्तामृत से सिंचित घाटी को पार न कर सकी और वहाँ से वापस चली गई।

अब तक औरंगजेब अपने भाइयों को परास्त कर एवं पिता को बन्दी बनाकर दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका था। सर्वप्रथम उसकी दृष्टि बीजापुर दरबार के आन्तरिक कलह और शिवाजी की ओर गई। वह शिवाजी की वीरता, चतुराई, स्फूर्ति एवं रण-कौशल को अच्छी तरह जानता था। अतः उसने प्रसिद्ध सेनापति शाइस्तख़ाँ को राजा यशवन्तसिंह सहित भारी सेना लेकर शिवाजी पर आक्रमण-हेतु भेजा।

शाइस्तख़ाँ ने बुद्धिमानों और रण-कौशल से काम लेते हुए शिवाजी के अनेक किले जीत लिए। पूना, रायगढ़, पुरन्दर, कोंकण आदि अनेक किले शिवाजी के हाथ से निकल गए। अब चाकण किले की बारी थी। शिवाजी उसे नहीं देना चाहते थे। अतः वे किले का भार पिताजी के समय के अनुभवी सरदार फिरंगजी नरसाला को सौंप स्वयं बीजापुर दरबार की सेनाओं से लड़ने चले गए। नरसाला के अत्यन्त शौर्य और पराक्रमपूर्ण युद्ध के बावजूद किला हाथ से निकल गया। चाकण किले को जीतकर शाइस्तख़ाँ पूना चला आया। वहाँ आमोद-प्रमोद से रहने लगा। जीवन को पूर्ण खतरे में डालकर शिवाजी ने चार सौ विश्वस्त शूरवीर सैनिकों सहित बरात के रूप में पूना में प्रवेश किया। वे पूना-किले की ईंट-ईंट से परिचित थे। अंग-रक्षकों और अन्य कर्मचारियों को मौत के घाट उतारते हुए शिवाजी जिमणाजी बापू सहित शाइस्तख़ाँ के शयनागार में प्रविष्ट हुए, मानों हनुमान रावण के शयनागार में पहुँच गया। भयभीत स्त्रियों ने नवाब को जगाया। इससे पहले कि नवाब अपनी तलवार पकड़े, शिवाजी ने वार किया, जिससे नवाब के हाथ का अंगूठा कट गया। वह खिड़की से कूदकर प्राण बचाकर भाग गया। शाइस्तख़ाँ तो बच निकला, किन्तु मराठा-सैनिकों से युद्ध करते हुए उसका बेटा अब्दुलफतह मारा गया। यह घटना ५ अप्रैल, १६६३ को घटी थी।

औरंगजेब को जब यह पता लगा तो वह बहुत क्रोधित हुआ। उसने शाहजादा मुअज्जम को दक्षिण का शासक बनाकर मिर्जा राजा जयसिंह के साथ भारी सेना लेकर शिवाजी को कैद करने भेजा।

इधर, शिवाजी ने धन-संग्रह की दृष्टि से सूरत पर, जो उस समय एक समृद्धिशाली

शहर तथा समुद्री व्यापार का मुख्य-केन्द्र माना जाता था, आक्रमण कर दिया। आक्रमण सफल हुआ और उन्होंने वहाँ से लूट का बहुत माल प्राप्त किया।

मिर्जा राजा जयसिंह ने रण-चातुरी से काम लिया। उसने मोर्चाबन्दी इस प्रकार की कि बीजापुर दरबार और शिवाजी आपस में न मिल सकें। दूसरी ओर, उसने शिवाजी के एक के बाद एक किले जीतने शुरू कर दिए। युद्ध में दोनों ओर हिन्दुओं का ही रक्तपात अवश्यंभावी जानकर हिन्दू-गौरवाभिलाषी शिवाजी ने मिर्जा जयसिंह को एक पत्र लिखा। यह पत्र शिवाजी की राजनीतिज्ञता का आदर्श है। पत्र का प्रभाव न पड़ा। इधर, शिवाजी मराठा सरदारों को मिलते रहे, उधर जयसिंह किले जीतता रहा। अन्ततः उसने पुरन्दर के किले पर आक्रमणार्थ वज्रगढ़ का किला जीत लिया। पुरन्दर के किले के सरदार मुरार बाजीप्रभु ने घमामान युद्ध किया। इसमें मुरार बाजीप्रभु की रण-चातुरी और शौर्य सराहनीय थे। युद्ध करता हुआ बाजीप्रभु मुगल सेनापति दिलेरखाँ के सामने आ गया और उससे लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। शिवाजी को इससे घोर निराशा हुई। उन्होंने जयसिंह से सन्धि कर ली। सन्धि की शर्त के अनुसार शिवाजी को २३ किले दिल्लीश्वर को देने पड़े। सन्धि के पश्चात् शिवाजी ने औरंगजेब की सेना को बीजापुर के किले जीतने में सहायता दी। राजा जयसिंह और औरंगजेब के आग्रह पर शिवाजी ने दरबार में उपस्थित होना स्वीकार कर लिया।

उन दिनों औरंगजेब का दरबार आगरे के किले में लगता था। शिवाजी पर प्रभाव डालने के लिए दरबार खूब सजाया गया था। शिवाजी अपने पुत्र और दस सेनापति सरदारों सहित दरबार में उपस्थित हुए। शिवाजी की ओर से एक हजार सुनहरी मुहरें और दो हजार रुपये भेंट के रूप में तथा पाँच हजार रुपये न्यौछावर के रूप में अर्पित किए गए। औरंगजेब ने भेंट स्वीकार करते हुए उन्हें पाँच हजारी सरदारों में बैठने का इशारा कर दिया। यह शिवाजी का अपमान था। वे इसे सह न कर सके, किन्तु शेर अब पिंजरे में बन्द हो चुका था। शिवाजी बन्दी बना लिए गए।

शिवाजी ने आगरे से बाहर निकलने के लिए पहले तो औरंगजेब को किले जीतने में सहायतार्थ प्रस्ताव रखे, किन्तु औरंगजेब उनके मन्तव्य को ताड़ गया था। वह तो शिवाजी को आगरा में कैद रखकर स्वयं दक्षिण विजय को जाना चाहता था। अतः उसने सब प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए। अन्ततः शिवाजी ने बीमारी का बहाना किया। वैद्य-हकीम आने लगे। फिर, बादशाह को समाचार भिजवाया गया कि शिवाजी अच्छे हो गए हैं, इस खुशी में वे फल और मिठाइयाँ बाँटना चाहते हैं। बादशाह ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह कूटनीतिज्ञ महापुरुष एक दिन अपने पुत्र सहित फल-मिठाई के टोकरे में बैठकर बादशाह की कैद से बाहर हो गया। जब औरंगजेब को इस पलायन का पता लगा, तब तक पिता-पुत्र बहुत दूर निकल चुके थे। औरंगजेब ने जयसिंह को दक्षिण से वापिस बुला लिया और उसके पुत्र रामसिंह के दरबार-प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

अब शिवाजी यवनों के कट्टर शत्रु बन गए। उन्होंने यवन किलों पर पुनः आक्रमण कर उन्हें हस्तगत करना शुरू कर दिया। शिवाजी रायगढ़ किले में रहते थे। माता की प्रेरणा पर उन्होंने सिंहगढ़ के किले पर आक्रमण कर दिया। सिंहगढ़ मुगल राज्य के अधीन था।

सिंहगढ़ पर विजय तो शिवाजी की हुई, किन्तु इस संघर्ष में उनके बाल-सखा ताना जी मालसुरे मारे गए। शिवाजी को इस पर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने कहा—‘*गढ़ आला पण सिंह गेला।*’ अर्थात् गढ़ आ गया, परन्तु सिंह चला गया।

युद्धों में निरत रहने के कारण शिवाजी का राजकोष खाली हो रहा था। इस कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने सूरत को लूटा। इस लूट में लाखों रुपए की सम्पत्ति उनके हाथ लगी। इसके बाद शिवाजी ने बुलगाना और बरार पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन कर लिया और उनसे ‘चौथ’ लेना प्रारम्भ कर दिया।

मीड़ि राखे मुगल मरोडि राखे पातसाह

बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।

राजन की हद्द राखी तेगबल सिवराज,

देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर में॥

—भूषण

६ जून, १६७४ को रायगढ़ के किले में शिवाजी का राज्याभिषेक किया गया। हिन्दू जाति को पुनः प्रतिष्ठा प्रदान कराने वाले, हिन्दू जनता में आशा का संचार करने वाले, विजय की उपासना का सन्देश देने वाले, चारों ओर फैले विदेशी बादलों को निरस्त करने वाले वीर शिवाजी को जनता-जनार्दन ने अपना नरेश स्वीकार किया। यह दिवस ‘हिन्दू-पद पादशाही’ के नाम से आज भी मनाया जाता है। शिवाजी के राज्याभिषेक के बारह दिन पश्चात् १८ जून को राजमाता जीजाबाई का देहावसान हो गया।

शिवाजी की राज-मुद्रा पर यह श्लोक अंकित था—

प्रतिपच्चंद्ररेखेव वर्धिष्णु विश्ववन्दिता।

शाह सूनो, शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते॥

प्रतिपदा के चंद्रमा की रेखा के समान बढ़ने की इच्छा वाली, विश्ववन्द्य, शाह के पुत्र शिव की यह (एषा) मुद्रा कल्याणार्थ शोभित होती है।

राजतिलक-समारोह में दान और व्यय के कारण राजकोष पुनः खाली हो गया। शिवाजी ने कर्नाटक पर धावा बोला। इसमें पर्याप्त सम्पत्ति उनके हाथ लगी। हैदराबाद के हसन कुतुबशाह ने माथा टेक दिया। बिल्लौर ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कर्नाटक, हैदराबाद और मैसूर राज्यों को अधीन करते हुए शिवाजी सन् १६७८ में महाराष्ट्र वापिस आ गए।

शिवाजी ६ वर्ष तक सुदृढ़ राज्य कर ५ अप्रैल, १६८० ई. चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन ५३ वर्ष की आयु में स्वर्ग सिधारे। महाराणा प्रताप की भाँति मृत्यु के समय शिवाजी भी दुखी थे। स्वयं जीवन-पर्यन्त युद्ध में लगे रहने के कारण वे अपने पुत्र सम्भाजी को आर्योचित एवं वीरोचित शिक्षा न दे सके। इसलिए वह विलासी, व्यभिचारी और कायर बन गया था।

प्रसिद्ध इतिहासकार डेनिस किन्केड ने शिवाजी के व्यक्तित्व का चित्रण इस प्रकार किया है—‘औसत यूरोपियों की तुलना में वह छोटे कद का था, किन्तु साथ ही अत्यन्त पृथु और सशक्त। उनकी भुजाएँ असामान्य रूप से लम्बी थीं। उसने अपनी दाढ़ी और मूछें बढ़ा रखी थीं और उसकी पगड़ी के नीचे से निकल कर उसके घुंघराले वालों की एक

लट उसके चेहरे के एक ओर रहती। उसकी आँखें बहुत चमकीली और दिव्य थीं और गरुड़ की चोंच के समान उसकी वक्र नासिका के ऊपर अपने विषादोन्मादपूर्ण सौन्दर्य में विशेष आकर्षण उपस्थित करती थी।'

शिवाजी के गृहस्थ जीवन, उनकी पत्नियों, पुत्रों एवं पुत्रियों का परिचय देते हुए प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है—शिवाजी के पाँच विवाह हुए थे—

प्रथम पत्नी का नाम सईबाई था। ये निम्बालकर की कन्या थीं। शम्भूजी इन्हीं के पुत्र थे। द्वितीय पत्नी सोयराबाई थीं, जो शिर्के की कन्या थीं। शिवाजी को विष पिलाकर मार डालने का आरोप लगाकर शम्भूजी ने इनकी हत्या की थी। इनके पुत्र थे राजाराम। तृतीय पत्नी पुतलीबाई मोहिते की कन्या थीं। इसने स्वामी के साथ चिता में जलकर प्राण विसर्जित किए थे। चतुर्थ पत्नी साकोवारबाई गायकवाड़ की कन्या थीं। मुगलों के रायगढ़ पर अधिकार करने के बाद ये कैद हो गई थीं और इन्हें कई वर्ष तक औरंगजेब के शिविर में कैद रहना पड़ा था। पंचम पत्नी का नाम काशीबाई था।

शिवाजी के दो पुत्र—शम्भूजी और राजाराम तथा तीन पुत्रियाँ—सखुबाई, अम्बिकाबाई और राजकुमारीबाई—थीं।

वीर शिवाजी का शासन एक सफल शासन सिद्ध हुआ। उन्होंने राज्य में अनेक सुधार किए जिससे प्रजा सन्तुष्ट थी। वह अपने को राज्य का स्वामी न मानते थे। उनके विचार से राज्य तो समर्थ गुरु रामदास का था, जिनके चरणों में वे सब कुछ समर्पित कर चुके थे। वे तो एक प्रतिनिधि मात्र थे।

कट्टर हिन्दू होते हुए भी शिवाजी दूसरे धर्मों का आदर करते थे। खफ़ीखाँ लिखते हैं, 'शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद, कुरान अथवा किसी अन्य धर्म को मानने वाली स्त्री को हानि नहीं पहुँचाई। यदि उनके हाथ कोई कुरान की प्रति लग जाती, तो वे उसे तुरन्त आदरपूर्वक किसी मुसलमान को दे देते।' परस्त्री मात्र में शिवाजी के मातृ-भाव का उज्ज्वल आदर्श तब मिलता है, जब लूट में प्राप्त यवन अनिन्द्य सुन्दरी को देखकर उन्होंने कहा था, 'यदि मेरी माता ऐसी सुन्दर होती, तो मैं इतना कुरूप न होता।'।

उन्होंने कला और कवि की पूजा की। उनके राज्य में 'भूषण' कवि आए। उन्होंने हिन्दू-धर्म-रक्षक के नाते शिवाजी की ख्याति और यश पर दो ग्रन्थ लिखे—१. शिवा-बावनी, और २. शिवराज-भूषण। शिवाजी ने इनका बड़ा सम्मान किया और सहस्रों रुपए देकर पुरस्कृत किया।

शिवाजी ने सदा अत्याचार और अधर्म के विरुद्ध तलवार उठाई और हिन्दू-संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा की। यदि उस वीर नर-केसरी को औरंगजेब की उम्र मिल जाती तो सम्भवतः भारत को आने वाले दुर्दिन न देखने पड़ते।

शिवाजी के प्रभाव का वर्णन करते हुए कवि 'भूषण' ने उचित ही लिखा है—

‘इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावण सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।

दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुंड पर,
 'भूषण' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
 तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
 त्यों मलेच्छ बंस पर सेर शिवराज है॥

मैथिलीशरण गुप्त तो छत्रपति शिवाजी से इतना प्रभावित थे कि वे उन्हें 'सिंह' मानते थे—

फिर भी दिखाई देश में जिसने महाराष्ट्र छटा,
 दुर्दान्त आलमगीर का भी गर्व जिससे था घटा।
 उस छत्रपति शिवराज का है नाम ही लेना अलम्।
 है सिंह परिचय के लिए बस 'सिंह' कह देना अलम्॥

श्री गुरु जी के शब्दों में, 'निराशा के अंधकार से उबार कर स्वातंत्र्य-सूर्य का दर्शन कराने वाले अतुलित साहसी श्री शिवाजी ने मानो असम्भव को संभव कर दिखाया। निष्प्राण जाति में नवजीवन फूँककर उनके अवरुद्ध पौरुष-प्रवाह को बहाया।'

शिवाजी (श्याम नारायण पाण्डेय) की भूमिका पृष्ठ ११



(१) हिन्दू केसरी वीर छत्रसाल

और राव राजा एक मन में न लाऊँ अब ।

साहू को सराहों कै, सराहों छत्रसाल को ॥ — भूषण (छत्रसाल दशक)

क्रूर, आतताई तथा हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी मुगल बादशाह औरंगजेब के विरुद्ध जिस प्रकार छत्रपति शिवाजी ने दक्षिण में हिन्दू पद पादशाही की स्थापना की, उसी प्रकार उन्हीं दिनों भारत के हृदय-प्रदेश बुन्देलखंड में हिन्दू-साम्राज्य की पताका फहराने वाले थे हिन्दू कुल-गौरव वीर छत्रसाल ।

महान् इतिहासकार डॉ. यदुनाथ सरकार लिखते हैं, 'उनका इक्यासी वर्ष का जीवन मुगल-सत्ता के बुन्देलखण्ड में पूर्णतः विनष्ट होने के साथ ही सन् १७३१ में समाप्त हो गया ।'

लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,

कहाँ लौं बखान करों तेरी करवाल को

प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि;

कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥

— भूषण

इतिहासकार श्री रघुवीर सिंह छत्रसाल का महत्त्व दो कारणों से मानते हुए लिखते हैं—

'प्रथम तो मुगल साम्राज्य के विरुद्ध समय-समय पर चलते रहने वाले विद्रोहों की परम्परा में छत्रसाल के विरोध तथा विद्रोहों का बहुत ही उल्लेखनीय स्थान है । औरंगजेब जैसे दृढ़ निश्चयी चतुर प्रबल सम्राट् की दमनपूर्ण धर्मप्रधान कट्टर नीति से उत्तरी भारत में अवर्णनीय भय, विवशता एवं निराशा विशेष रूपेण व्याप्त हो गये थे । तब छत्रसाल के विद्रोहों ने बुँदेलों के साथ ही अन्य जनसाधारण में भी एक नई आशा तथा उत्साह का संचार किया था ।'

'दूसरे, औरंगजेब की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद मुगल साम्राज्य का जो विशृंखलन प्रारंभ हुआ, छत्रसाल ने उसको विशेष गति ही नहीं दी अपितु उस प्रदेश में सर्वथा नई शक्तियों का प्रवेश कराकर अनजाने ही उसने उसकी सारी दिशा को भी बहुत कुछ बदल दिया । छत्रसाल की प्रार्थना पर बुँदेलखंड पहुँच कर बाजीराव पेशवा ने मुहम्मद बंगश को उस प्रदेश से निकाल बाहर करने में उसकी पूरी-पूरी सहायता की जिससे मुगल साम्राज्य के सब ही विरोधियों को बहुत बल मिला । पुनः इसी सफल सहायता के बदले में छत्रसाल ने अपने राज्य का एक तिहाई भाग पेशवा बाजीराव को दे दिया और यों इस प्रदेश में मराठों का एक स्थायी सुदृढ़ केन्द्र स्थापित हो गया जिससे आगे चलकर मालवा पर अधिकार जमाने तथा दिल्ली और अन्तर्वेद तक जा पहुँचने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं रह गई ।'

(भूमिका : बुँदेलकेसरी महाराजा छत्रसाल बुँदेल)

(८७)

पिता के विद्रोही जीवन के कारण छत्रसाल विधिवत् शिक्षा तो प्राप्त नहीं कर सके, किन्तु धनुष-वाण, तलवार, बंदूक तथा गदा के प्रयोग में सिद्धहस्त हो गए। मल्ल-युद्ध, घुड़सवारी तथा चौगान उनके प्रिय खेल थे। बचपन में छत्रसाल कुछ समय तक अपने मामा के यहाँ रहे। वहाँ शस्त्र-विद्या के साथ थोड़ी शिक्षा भी प्राप्त की।

कुछ समय पश्चात् चम्पतराय ने सहारा को असुरक्षित समझा और मोरन गाँव की ओर जाने लगे तो पिता की आज्ञा से छत्रसाल अपने बहनोई ज्ञानशाह की ओर चल दिए। मार्ग में छत्रसाल को तेज बुखार हो गया।

‘दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहचानि।’

x x x

'कौन होता है बुरे वक्त की हालत का शरीर।'

मरते दम आँख को देखा है—कि फिर जाती है ॥'

चम्पतराय का कारुणिक अंत

Digitized by Panjab Digital Library | www.panjabdigilib.org

इस समय चंपतराय कुछ धँधरे सैनिकों के संरक्षण में मोरनगाँव की ओर जा रहे थे। उनके साथ केवल उनकी रानी लालकुँवर थीं। वृद्धावस्था से जर्जरित और ज्वर से क्षीण चंपतराय सर्वथा शिथिल हो चुके थे और उन्हें एक चारपाई पर ले जाया जा रहा था। संकेत पाते ही धँधरे सैनिक चंपतराय पर टूट पड़े। पति की रक्षा के लिए लालकुँवर ने वेग से उनकी ओर अपना घोड़ा बढ़ाया, परन्तु एक सैनिक ने उनके घोड़े की लगाम पकड़ कर उसे रोक दिया। तब लालकुँवर ने अपना उदर विदीर्ण कर अपनी इहलीला समाप्त कर दी। वस्तुस्थिति समझने में चंपतराय को अब देरी नहीं लगी। उन्होंने अपने पेट में कटार भोंक कर आत्महत्या कर ली।

धँधरों ने चम्पतराय का सिर काट कर औरंगजेब की सेवा में भेज दिया। ७ नवम्बर १६६१ को यह सिर औरंगजेब के दरबार में प्रस्तुत किया गया।

मुगलों की शरण में

सहारा से छत्रसाल देवगढ़ गए। वहाँ अपने अग्रज अंगद से मिले। उन्हें माता-पिता की आत्म-हत्या का समाचार सुनाया। दोनों ने पिता का बदला लेने का प्रण किया। हिन्दू-वीर जुझार सिंह, पृथ्वीराज तथा चम्पतराय के कारुणिक अंत से बुन्देलखंड की वीरता को लकवा मार गया था, इसलिए कोई भी राजा या सामंत मुगलों के क्रोध का पात्र नहीं बनना चाहता था। चहुँ ओर हताशा और असहयोग के कारण छत्रसाल ने निराश होकर मुगल सेना में नौकरी करने का मन बना लिया। इस बीच पवार वंश की कन्या देवकुँवर से उनका विवाह से गया।

छत्रसाल और अंगद अपने चाचा जामशाह के साथ राजा जयसिंह से मिले। राजा जयसिंह ने तीनों को अपनी सेना में शामिल कर लिया। पुरंधर के घेरे में वीरता दिखाने के उपलक्ष्य में छत्रसाल को ८ सदीजात तथा ६०० सवार, अंगद को ढाई सदीजात तथा १०० सवार और चाचा जामशाह को ४ सदीजात और ३०० सवार के मनसब प्रदान किए गए। इसके पश्चात् छत्रसाल ने बीजापुर आक्रमण में भाग लिया।

छत्रपति शिवाजी से भेंट तथा स्वतंत्रता का पथ प्रशस्त

बीजापुर आक्रमण ने छत्रसाल का शिवाजी से भेंट का मार्ग प्रशस्त किया। शिवाजी की मुगलों पर विजय ने उत्तर भारतीय राजा और सामंतों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला। छत्रसाल में पिताश्री के वध का बदला लेने की भावना जोर पकड़ने लगी। मुगलों के लिए हिन्दू-रक्त बहाने में उन्हें लज्जा आने लगी, आत्म-हीनता प्रकट होने लगी। एक दिन शिकार के बहाने छत्रसाल पत्नी सहित मुगल सेना से निकल भागे।

छत्रसाल की शिवाजी से भेंट हुई। कुछ समय वे शिवाजी के पास पूना रहे। छत्रसाल की इच्छा थी कि वे शिवाजी के साथ रहकर मुगलों से भारत को मुक्त कराएं। शिवाजी ने उन्हें समझाया कि उत्तर भारत में बुन्देलखंड से यह युद्ध आप शुरू करो। इस प्रकार दक्षिण के स्वातंत्र्य-युद्ध की चिंगारी बुन्देलखण्ड लाई गई और उससे नर्मदा के उत्तर में विद्रोह की वह अग्नि धधक उठी जो औरंगजेब के साथ ही उसके सारे उत्तराधिकारियों के लिए कठिनाई से समझ में आने योग्य मुसीबत बन गई। इधर, छत्रसाल ने पूना में रहकर शिवाजी

का युद्ध-कौशल, कूट-रणनीति तथा शासन-व्यवस्था की जानकारी प्राप्त कर ली थी।

प्रकृति का सहयोग : मंदिर ध्वंस के हुक्म से हिन्दू राजाओं में रोष

छत्रसाल एकाकी थे। भविष्य अंधकारमय था। उनके पास न साधन थे, न सहयोगी और न सैनिक ही। बुन्देलखंड की एक इंच भूमि भी ऐसी नहीं थी, जिसे वे अपना कह सकते, किन्तु मन में दृढ़ संकल्प था। महान् संकल्प ही महान् फल का जनक होता है। दृढ़ संकल्प में प्रकृति भी सहयोग देती है।

१. ४. १६६९ को औरंगजेब ने हिन्दुओं के मंदिरों, पूजा स्थलों को तोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने का हुक्मनामा जारी कर दिया। इससे हिन्दू राजाओं और सामंतों में रोष फैल गया। इस हुक्मनामे का सक्रिय विरोध करने वाले लोग छत्रसाल की सेना में भर्ती होने लगे। इतना ही नहीं छोटे-छोटे सामंत और जागीरदार छत्रसाल के झण्डे के नीचे एकत्र होने लगे। छत्रसाल के पिता का घोर शत्रु तथा प्राण-हरण के कारक राजा सुजानसिंह ने भी छत्रसाल को उनके देश-भक्ति पूर्ण कार्यों में यथाशक्ति सहयोग का वचन दिया। इस प्रकार अपनी विशाल शक्ति खड़ी करके उन्होंने मुगल सत्ता को चुनौती देने की क्षमता उत्पन्न कर ली।

रणनीति

गौर वर्ण, ऊँचा कद, चौड़ी छाती तथा सुगठित शरीर के स्वामी थे युवक छत्रसाल। अदम्य साहसी, निर्भीक तथा दुर्धर्ष वीर थे। अस्त्र संचालन में अत्यन्त निपुण। धनुष-बाण, तलवार, भाला, बंदूक तथा तमंचे में उनका निशाना अचूक था। खतरों का सामना करना उनके लिए खिलवाड़ था। प्रत्युत्पन्न मति थी उनकी। जब वे केवल १६-१७ वर्ष के थे, तब उन्होंने पुरंधर के घेरे (१६६५ ई.) और बीजापुर के आक्रमण (१६६६ ई.) में असाधारण वीरता का परिचय दिया था। बाँसा के प्रसिद्ध योद्धा केशवराय दाँगी की चुनौती स्वीकार कर उसे यमलोक भेज देना छत्रसाल जैसे वीर के लिए सम्भव था। अस्सी वर्ष की आयु में भी मोहम्मद ख़ाँ बंगश के विरुद्ध वे मैदान में आए बिना न रह सके।

देव-द्विज-द्रोहिन के आँसुनि उसाँसुनि सौं,

मातृभूमि गान को संताप सियराऊँ मैं।

कहै 'रत्नाकर' बुंदेला भट मानी महा,

जवन-निसानी-असि-पानी सो बहाऊँ मैं।

श्री पति सहाय सों दिलीपति को छत्र सालि

छत्रसाल नाम निज सारथ बनाऊँ मैं॥

चपल चकत्ता की महत्ता अरु सत्ता चाँपि,

चम्पत को नन्दन अमन्द कहवाऊँ मैं॥

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(१) वे शत्रु की असावधानता तथा कमजोरी का भरपूर लाभ उठाते। बिजली की गति से आक्रमण करते और उसे धर दबोचते।

(२) बुंदेलखंड पहाड़ी तथा घने जंगलों से आच्छादित घाटियों का प्रदेश होने के कारण छत्रसाल अधिकतर छापामार युद्ध का सहारा लेते थे। मुगल सेना से खुले मैदान में युद्ध

बहुत कम करते थे। उनके सैनिक भी छापामार युद्ध के चतुर योद्धा थे।

(३) छत्रसाल दुर्धर्ष योद्धा थे और शत्रु का रक्त बहाने में किञ्चिन्मात्र भी विचलित न होते थे। पर पराजित शत्रु के प्रति क्षत्रियोचित उदारता दिखाना और उसकी वीरता एवं शौर्य का सम्मान करना भी वे पूरी तरह जानते थे। केशवराय की बांसा वाली जागीर उन्होंने उसके पुत्र को लौटा दी और साथ ही उसे कुछ और जागीर तथा खिताब भी देकर संतुष्ट कर दिया।

(४) छत्रसाल विरोधियों को पराजित करके प्रायः उनकी पुत्रियों से विवाह कर लेते थे। उन्होंने इस प्रकार बुंदेलखंड के कई छोटे-छोटे राजाओं और जागीरदारों से निकट संबंध जोड़ लिए थे, जिससे वे उनका सहयोग और सहायता प्राप्त करने में सफल हो सके।

(५) वे अपने पड़ोस के ओरछा, दतिया, चंदेरी आदि बुंदेला राज्यों पर कभी आक्रमण नहीं करते थे। वे व्यर्थ में ही उनसे शत्रुता लेने के पक्ष में नहीं थे। हाँ, यदि वे शासक मुगलों से मिलकर छत्रसाल का दमन करने को कटिबद्ध हो जाते तो छत्रसाल उन्हें भी सबक सिखाना में नहीं चूकते।

(६) समय-समय पर जब उनके युद्ध साधनों में कमी हो जाती थी या स्थानीय मुगल फौजदारों और सेनापतियों की शक्ति बढ़ जाती थी तो वे विरोध त्याग कर रणनीति बदल लेते थे। तुरन्त मुगल अधीनता स्वीकार कर लेते थे। जैसे ही स्थिति सुदृढ़ हुई, अवसर मिलता, वे तुरन्त युद्ध छेड़ देते थे। कूटनीतिक दृष्टि से उन्हें सबसे बड़ा लाभ यह मिलता था कि वे मुगलों की व्यूह-रचना और आंतरिक शक्ति से परिचित हो जाते थे। मुगल-सेना में सम्मिलन उन्होंने एक या दो बार नहीं अनेक बार किया।

उनकी यह नीति औरंगजेब तथा उसके उत्तराधिकारी शाहजादा आजम तथा बहादुरशाह से रही। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली की डाँवाडोल स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्होंने बहादुरशाह के ज्येष्ठ पुत्र मुइजुद्दीन जहाँदारशाह का साथ नहीं दिया।

(७) छत्रसाल के हिन्दु-राज्य संस्थापन में स्वामी प्राणनाथ का विशेष महत्त्व है। सन् १६८३ में छत्रसाल जब आखेट पर थे तब मऊ के निकट एक जंगल में उनकी भेंट स्वामी जी से हुई थी। छत्रसाल और प्राणनाथ जी के संबंधों के बारे में छत्रसाल जीवनी के शोधकर्ता डॉ. भगवानदास गुप्त लिखते हैं—

‘छत्रसाल और स्वामी प्राणनाथ के संबंध शिवाजी और समर्थ गुरु रामदास जैसे ही थे। प्राणनाथ ने छत्रसाल को नैतिक और आध्यात्मिक बल देकर उनके राजनीतिक उद्देश्यों का महत्त्व बुंदेलखंडियों की दृष्टि में बहुत बढ़ा दिया। शिवाजी पर स्वामी रामदास का प्रभाव तो राजनीतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक था, परंतु प्राणनाथ राजनीतिक क्षेत्र में भी छत्रसाल के बहुत बड़े सहायक सिद्ध हुए। उन्होंने बुंदेलखंड में औरंगजेब की हिंदू विरोधी प्रतिक्रियावादी नीति की अपने उपदेशों में स्पष्ट रूप से कठोर निंदा कर छत्रसाल के पक्ष में सुदृढ़ जनमत का निर्माण किया और जनता को उनके स्वतंत्रता संग्राम में पूर्ण योग देने को सफलतापूर्वक उकसाया।’

‘प्राणनाथ के वर्गविहीन संप्रदाय के सिद्धान्तों और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये थे। इनमें से बहुत से छत्रसाल की सेना में भर्ती हो गये। प्राणनाथ स्वयं कभी-कभी छत्रसाल के सैनिक अभियानों में उनके सैनिकों का साहस

बढ़ाने के लिए साथ हो लिया करते थे। इतना ही नहीं उन्होंने छत्रसाल के राजनीतिक उद्देश्यों में धार्मिकता की पुट दी और उनमें आध्यात्मिक दैवी शक्ति एवं व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा कर बुँदेलखंडियों के हृदय में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा उत्पन्न कर दी। प्राणनाथ ने ही छत्रसाल को पन्ना की हीरे की खानों की जानकारी देकर उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ कर दी थी। धन के अभाव में छत्रसाल के संघर्ष में जो बाधा पड़ रही थी, वह अब कुछ दूर हो गई। प्राणनाथ ने तब छत्रसाल को पन्ना अपनी राजधानी बनाने की सलाह दी और उनकी स्थिति बुँदेलखंड में सम्माननीय करने के लिए उनका राज्याभिषेक भी करा दिया। इस प्रकार स्वामी प्राणनाथ छत्रसाल के लिए प्रेरणा तथा शक्ति के स्रोत होने के साथ ही उनके गुरु, मित्र और प्रधान सहायक, सभी कुछ थे।'

(बुँदेलखंडी महाराजा छत्रसाल बुँदेल, पृष्ठ ८८, ९९)

छत्रसाल ने वृद्धावस्था में हिन्दू-हित के लिए एक अनुपम कार्य किया। वह था, राज्य सुरक्षा की दृष्टि से मराठों से मित्रता। वैसे, पेशवा बाजीराव प्रथम ने मुहम्मद खाँ बंगश के विरुद्ध सहायता देकर छत्रसाल को कृतार्थ भी कर दिया था। उन्होंने कृतज्ञता और राजनीतिक कारणों से पेशवा को अपना पुत्र मानकर राज्य का तीसरा भाग देने का वचन दिया तथा इतिहास-प्रसिद्ध नर्तकी मस्तानी भेंट में दे दी।

छत्रसाल का साम्राज्य

छत्रसाल साम्राज्य का प्रामाणिक विवरण देते हुए डॉ. भगवानदास गुप्त लिखते हैं—

‘छत्रसाल की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्रों और पेशवा बाजीराव प्रथम को जो प्रदेश मिले, अगर उनसे छत्रसाल के राज्य की सीमाओं को निर्धारित किया जाए, तो उनके राज्य का विस्तार उत्तर में यमुना तट पर कालपी से दक्षिण में सिरोंज और सागर तक और पश्चिम में ओरछा, दतिया तथा ग्वालियर की सीमाओं से लेकर पूर्व में बघेलखंड के जसो, मैहर और बीरसिंहपुर के इलाकों तक था। इस विस्तृत भूखंड में उत्तरप्रदेश के झाँसी जिले का कुछ भाग, जालौन, बाँदा और हमीरपुर के जिले आधुनिक मध्यप्रदेश में विलीन हुई अजयगढ़, चरखारी, पन्ना, बिजावर, शाहगढ़, छतरपुर, सरीला, अलीपुर आदि रियासतें सागर तथा सिरोंज भी शामिल थे। छत्रसाल के राज्य का विस्तार पूर्वी और उत्तरी बुँदेलखंड में ही अधिक था। यह प्रदेश घने जंगलों, गहरी घाटियों और पर्वतश्रेणियों से आवृत होने के कारण ‘डूँगैया’ राज्य कहा जाता था।

छत्रसाल के लूट का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत था। उन्होंने कई बार सूबा मालवा तक छापे मारे और भेलसा से चौथ वसूल की। नरवर और चँदेरी को भी कई बार लूटा। बघेलखंड में रीवाँ तक के प्रदेश को हिरदेसाह ने बंगश युद्ध के समय १७२६ ई. में जीत ही लिया था। पर तुरन्त ही छत्रसाल के आदेशानुसार हिरदेसाह विजित प्रदेश को पुनः रीवाँ के शासक को लौटा कर बंगश का मुकाबला करने जैतपुर चला आया था। छत्रसाल की सैनिक टुकड़ियाँ ग्वालियर तक जा पहुँची थीं और निकटवर्ती गाँवों को लूट डालती थीं। अपने सीमाप्रांत के शाही प्रदेशों पर छापे मारकर शिवाजी की तरह अपने युद्धों को आर्थिक रूप से उपयोगी बनाते थे।’

छत्रसाल का चरित्र

छत्रसाल बहुत उदार हृदय, संवेदनशील तथा उज्ज्वल चरित्र के नायक थे। युवावस्था में उनके सौंदर्य और वीरता पर रीझ कर एक सुन्दर युवती उनसे एकांत में मिली। उसने निवेदन किया, 'मेरी कामना है कि आपके द्वारा आपके जैसा वीर पुत्र प्राप्त करूँ।'

छत्रसाल ने तुरन्त उत्तर दिया : हे माता ! मैं तेरा ही तो पुत्र हूँ।' उत्तर सुनकर वह प्रणयी हक्की-बक्की रह गई। जब सम्भली तो ऐसा श्रेष्ठ पुत्र पाकर वह सुन्दरी अपने को धन्य समझने लगी। छत्रसाल ने इस माता के रहने के लिए पन्ना में एक हवेली बनवा दी और भरण-पोषण के लिए एक जागीर लगवा दी। यह हवेली आज भी पन्ना में 'बउआ जूँ की हवेली' के नाम से प्रसिद्ध है।

इतना ही नहीं घायल मुगल सेनापति को बंदी बनाने के बावजूद चिकित्सा के लिए उसके परिवार वालों के पास पहुँचा देते थे।

वे प्रजा से पुत्रवत्प्यार करते थे। इनके शासन में कोई कर्मचारी प्रजा पर अन्याय-अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की पीड़ा को सुनने के लिए सदा तत्पर रहते थे। इसलिए उनके राज्य में प्रजा सुखी थी। अपने अनेक दोहों में प्रजा-सुख को महत्त्व देते हुए वे लिखते हैं—

रैयत सब राजी रहै, ताजी रहै सिपाहि।

छत्रसाल तेहि राज कौ, बार न बाँको जाहि॥

जिस राज्य में सम्पूर्ण प्रजा सुखी और सुरक्षित रहती है तथा जहाँ के सैनिक संतुष्ट, चुस्त और फुर्तीले रहते हैं, उस राज्य का कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

एक अन्य स्थल पर वे पुनः कहते हैं—

'छत्रसाल जन-पालिबौ, अरिहिं गालिबौ दोय।

नहि बिसारियौ धारियौ, धरा-धरन कोउ होय।'

राजा को दो काम कभी नहीं भूलने चाहिए। एक तो अपनी प्रजा का पालन और दूसरा काम शत्रु का विनाश। राजा के ये दो ही कर्तव्य हैं।

छत्रसाल हिन्दू-मुस्लिम युद्ध को शाश्वत मानते थे। मुस्लिमों या आतताई को क्षमा करने के वे विरुद्ध थे। एक कुंडलिया में वे लिखते हैं—

आपुनो मन-भायौ कियौ, गहि गोरी सुलतान।

सात बार छाँड़्यौ नृपति, कुमति करी चहुवान॥

कुमति करी चहुवान, ताहि निन्दत सब कोऊ।

असुर बैर इक बार, पकरि काढ़े दृग दोऊ॥

दोऊ दीन कौ बैर, आदि अंतहि घलि आयौ।

कहि नृप छता विचारि, कियौ अपुनौ मन भायौ॥

(छत्रप्रकाश)

पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी के बीच कई युद्ध हुए, और सात बार पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को पकड़ा और छोड़ दिया। यह उन्होंने बड़ी नासमझी का काम किया। उधर, गोरी ने पृथ्वीराज को एक बार पकड़ा, किन्तु छोड़ा नहीं, आँखें निकलवा दीं। पृथ्वीराज की इस नासमझी की सब निन्दा करते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों का संघर्ष युगों से चला आ रहा है। दुष्ट, अत्याचारी को कभी क्षमा नहीं करना चाहिए।

लोक-प्रिय शासक होते हुए भी महाराज छत्रसाल को गर्व छू तक नहीं सका। स्वामी प्राणनाथ की पालकी में अपना कंधा लगाकर उन्होंने गुरुभक्ति तथा अहंकार शून्यता का परिचय दिया। उस काल के प्रसिद्ध राष्ट्रकवि 'भूषण' की पालकी में भी कंधा लगाकर छत्रसाल ने अपनी गुण-ग्राहकता तथा विनम्रता का प्रमाण दिया।

छत्रसाल-परिवार

लाल कवि द्वारा लिखित 'छत्र प्रकाश' में छत्रसाल के तीन विवाहों का उल्लेख है—(१) प्रथम विवाह पँवार कुमारी देवकुँवर से। यही पटरानी थी। (२) दूसरा विवाह धँधेरी की कन्या से तथा (३) साबर में हुआ था।

छत्रसाल प्रायः जिन विरोधियों को पराजित करते थे, उनकी पुत्रियों से विवाह कर लेते थे। इस आधार पर श्री वियोगी हरि उनकी १३ रानियाँ मानते हैं। जबकि अन्य इतिहासकार १७ या १८ रानियों के नाम गिनवाते हैं।

कहा जाता है कि छत्रसाल की एक रानी गड़ेरिन थी, जिसके पुत्र मोहनसिंह को महोबा से १० मील दूर श्रीनगर की जागीर दी गई थी। एक मुसलमान उपपत्नी से भी छत्रसाल के शमशेर खाँ और खाँजहाँ नामक दो पुत्र और एक पुत्री थी। जनश्रुति है कि यही पुत्री पेशवा बाजीराव प्रथम को भेंट की जाने वाली प्रसिद्ध मस्तानी थी।

इसी प्रकार छत्रसाल-पुत्रों की संख्या १३ से ६८ तक मानी जाती है। निश्चित सूचना के अभाव में पुत्रों की वास्तविक संख्या तय करना कठिन है, पर इतना तो तय है कि उनके पुत्रों की संख्या काफी अधिक थी।

इनमें से चार मुख्य पुत्र थे—हिरदेसाह, जगतराज, पदमसिंह और भारतीचंद। वरिष्ठता क्रम में जगतराज प्रथम तथा हिरदेसाह तीसरा पुत्र था, किन्तु पटरानी-पुत्र होने के नाते छत्रसाल ने उसे ही राज्य के सबसे बड़े भाग का स्वामी और पन्ना का उत्तराधिकारी बनाया। इस पर जगतराज का हिरदेसाह से वैर हो गया। छत्रसाल ने मृत्यु से कुछ दिन पूर्व चारों को मऊ में अपने पास बुलाकर राज्य की सुरक्षा के लिए मिल-जुलकर रहने की प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु के पश्चात् फिर कोई कटुता उनके आपसी संबंधों में दिखाई न पड़ी। यहाँ तक कि हिरदेसाह और जगतराज का विद्वेष भी लगभग समाप्त-सा ही हो गया। इस प्रकार अपने अन्तिम समय में छत्रसाल राज्य की चिन्ताओं से मुक्त हो गये। ४ दिसम्बर १७३१ को साढ़े इक्यासी वर्ष की आयु में शांतिपूर्वक यह शरीर त्याग दिया।

धार्मिक दृष्टिकोण

वीर छत्रसाल सनातन धर्म के पालक थे। देवी-देवताओं पर विश्वास करते थे। जादू-टोनों को मानते थे। उन्हें स्वप्नों में प्रायः देवी के दर्शन होते रहते थे। देवी की प्रसन्नता के लिए बलि भी चढ़ाते थे।

परमेश्वर पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। इसलिए उनकी धारणा थी कि हर बात प्रभु इच्छा का परिणाम है।

वे इस्लाम से घृणा नहीं करते थे। इसलिए उन्होंने कहीं भी मस्जिदों या मुस्लिम धर्म-ग्रंथों का अपमान नहीं किया। आम मुसलमानों का उत्पीड़न नहीं किया। यह धार्मिक उदारता स्वामी प्राणनाथ के सम्पर्क का प्रभाव मान सकते हैं।

हाँ, वे सभी धर्मों की मौलिक-एकता की बात से सहमत नहीं थे। इस्लाम को सनातनधर्म का विरोधी धर्म समझते थे।

कवि छत्रसाल

छत्रसाल तलवार के ही नहीं कलम के भी धनी थे। वे मुख्यतः ब्रजभाषा के कवि थे, किंतु उनकी रचनाओं में अवधी, बुंदेलखंडी तथा फारसी शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। कवित्त के अतिरिक्त दोहा, सवैया, कुंडलिया, छप्पय, दंडक आदि छंदों में उन्होंने पद्य लिखे हैं।

छत्रसाल-ग्रंथावली की भूमिका में श्री वियोगी हरि लिखते हैं— 'महाराज छत्रसाल एक ऊँचे कवि थे। प्रेम और भक्ति, इनकी रचनाओं में कूट-कूट कर भरी है। इनकी रचना में तन्मयता भी अच्छी मात्रा में है। इनकी दृष्टि निस्संदेह कवि-दृष्टि थी। काव्यकला की ओर यद्यपि इन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, तथापि उसका सर्वथा अभाव नहीं है। ब्रजभाषा के साहित्य में महाराज की रचनाएँ प्रेम और आदर की दृष्टि से देखी जायेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।'

भक्ति के आवेश में अपनी तुलना भगवान् कृष्ण से करते हुए लिखते हैं—

तुम घनस्याम हम जाचक मयूर मत्त,

तुम सुचि स्वाति हम चातक तुम्हारे हैं ॥

चारु चंद्र प्यारे तुम लोचन चकोर मोर,

तुम जग तारे हम छतारे उधारे हैं ॥

छत्रसाल, मीत मित्रता के तुम ब्रजराज!

हमहूँ कलिंदजा के कूल पै पुकारे हैं ॥

तुम गिरि-धारी हम कृष्ण व्रतधारी, तुम,

दनुज प्रहारे हम यवन प्रहारे हैं ॥ १० ॥ (छत्र. ग्रं. पृ. ४-५)

हे कृष्ण! आप श्याम घन (बादल) हैं तो मैं उन बादलों को देख मस्ती में नाचने वाला मोर हूँ। आप निर्मल स्वाति बूँद हैं तो मैं उसकी चाह रखने वाला चातक हूँ। प्रियवर! आप स्वच्छ चन्द्र हैं तो मेरी आँखें उस चन्द्र को देखने को उत्सुक चकोर हैं। प्रभो! आप जगत् के तारक हैं तो मैं क्षत्रियों का उद्धारक हूँ। हे ब्रजराज! आप पवित्र यमुना के मित्र हैं, तो हम उस यमुना तट पर आपको बार-बार पुकारते हैं। हे कृष्ण! आप गोवर्द्धनगिरि को धारण करने वाले हैं तो मैं कृष्ण प्रेम का व्रतधारी हूँ। प्रभो! आपने राक्षसों का संहार किया है तो मैंने भी आततायी यवनों का संहार किया है।

छत्रसाल स्वयं श्रेष्ठ कवि ही नहीं थे, बल्कि कवि-प्रिय भी थे। वे कवियों का सदा आदर करते थे। उनके दरबार में अनेक कवियों ने आश्रय प्राप्त किया है। इनमें कविवर भूषण, लाल कवि, हरिकेश, निवाज और ब्रजभूषण के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जिस प्रकार श्री राम ने सैन्य और शस्त्र विहीन होते हुए भी महाबलशाली लंकेश्वर रावण से लोहा लेकर उसे परास्त किया, उसी प्रकार साधन-विहीन छत्रसाल ने हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी औरंगजेब की सुदृढ़ सल्तनत से हिन्दू धर्म की रक्षा ही नहीं की, बल्कि उसका अंत-सा ही कर दिया। छत्रपति शिवाजी समान एक स्वतंत्र हिन्दू राज्य भी स्थापित किया।



(१०) वीर-शिरोमणि महाराणा प्रताप

तुरक कहासी मुख पतो, इण तनसूँ इकलिंग।

उगै जहाँई ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥

प्रातः स्मरणीय मेवाड़ाधिपति वीर-शिरोमणि हिन्दू मुकुटमणि महाराणा प्रताप का नाम भारत के इतिहास में अमर रहेगा। राजस्थान के इतिहास को उज्ज्वलतर बनाने का प्रमुख श्रेय उन्हें ही है। 'वह स्वदेशाभिमानी, स्वतन्त्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थ-त्यागी, नीतिज्ञ, दृढ़-प्रतिज्ञ, सच्चा वीर तथा उदार क्षत्रिय था। स्वदेश-प्रेम, स्वतन्त्रता और स्वदेशभिमान उसके मूल-मन्त्र थे।

राणा प्रताप-समान तब भी शूरवीर यहाँ हुए,

स्वाधीनता के भक्त ऐसे श्रेष्ठ और कहाँ हुए?

सुख मानकर बरसों भयंकर सब दुःखों को सहा

पर, व्रत न छोड़ा शाह को बस तुर्क ही मुख से कहा।

—मैथिलीशरण गुप्त : भारत-भारती, पृष्ठ ८३

स्वर्ण-भू भारत पर आक्रमण करके उसके धन-वैभव को लूटने, उसको अपने आधिपत्य में रखने एवं यहाँ के उद्भट ज्ञान से कुछ प्राप्त न करने अथवा उसे भी नष्ट करने की चेष्टा और लालसा गत दो सहस्र वर्षों से दिखाई देती है, किन्तु भारत वसुन्धरा भी वीर-प्रसू है। जब-जब भी इस पर विदेशियों के आक्रमण हुए, तब-तब यहाँ के नरेशों, धन-पतियों तथा जनता-जनार्दन ने तन-मन से माँ की रक्षा करने का भरसक प्रयास किया और अपने जीवित रहते विदेशियों के अपवित्र चरण माँ के वक्ष पर नहीं पड़ने दिए। ऐसे वीर सेनानियों में महाराणा प्रताप का नाम श्रद्धा से लिया जाएगा।

राणा प्रताप के अद्भुत त्याग, देश के प्रति अटूट ममत्व और कष्टसहन की शक्ति से हजारों-लाखों भारतीयों ने प्रेरणा प्राप्त कर अंग्रेजों से टक्कर ली। स्वातन्त्र्य संग्राम में लड़ते-लड़ते जीवन को पुष्प समझकर भारत माँ के चरणों में निःसंकोच चढ़ा दिया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय लिखते हैं, 'महाराणा प्रताप भारत के उन स्वाभिमानी, तपस्वी, स्वातन्त्र्य प्रेमी वीरों में से हैं, जिनके उज्ज्वल त्याग और महान् पराक्रम की कहानियाँ सुन-सुन कर हम लोगों को अपने विद्यार्थी-जीवन में विदेशी राज्य से, विदेशियों की गुलामी से, अपने को छुड़ाने, उससे लोहा लेकर भारत-माता को आजाद कराने की प्रेरणा मिलती थी। जब हम पढ़ते थे या सुनते थे कि महाराणा प्रताप सपरिवार अरावली के जंगलों-पहाड़ों में भूखे-प्यासे भटकते रहे, फिर भी सम्राट् अकबर के सामने सिर नहीं झुकाया, तो हमारा मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता था और हम भी सोचते थे कि यदि हमारे जीवन में भी ऐसा सुअवसर

आए तो हम अंग्रेजों के सामने उसी तरह अकड़कर, सीना तानकर, सिर ऊँचा करके खड़े रहें और कह दें कि हट जाओ, चले जाओ हमारे देश से। हम तुमको सलाम नहीं करेंगे, तुम्हारे सिंहासन के सामने सिर नहीं झुकाएँगे।'

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के मतानुसार ९ मई, सन् १५४०, विक्रम सम्वत् १५९७ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया की वह तिथि धन्य है, जब मेवाड़ की वीर भूमि पर मेवाड़-मुकुट-मणि प्रताप का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम महाराणा उदयसिंह और पितामह का नाम मेवाड़चूड़ामणि महाराणा सांगा था। जहाँ महाराणा सांगा के शरीर पर शस्त्रों के आघातों के अस्सी भयंकर चिह्न थे, उनका एक नेत्र, एक हाथ, एक पैर संग्राम को समर्पित हो चुके थे, फिर भी जीवित रहते उन्होंने इस परम पावन भारत-भूमि को यवनों के अपवित्र शासन से मुक्त रखा, वहाँ राणा उदयसिंह ने अकबर से भयभीत हो मेवाड़ छोड़कर अरावली पर्वत पर डेरा डाला और उदयपुर नामक स्थान पर राजधानी बनाई। इसीलिए महाराणा प्रताप कहा करते थे कि 'यदि मेरे पितामह और मेरे मध्य मेरे पिता न आए होते, तो दिल्ली चित्तौड़ के चरणों में होती', धन्य है उस वीर का आत्म-विश्वास।

राजपूताने के इतिहास की यही परम्परा रही है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासनारूढ़ होगा, किन्तु महाराणा उदयसिंह अपनी छोटी रानी को अत्यधिक प्रेम करते थे, अतः मरते समय उन्होंने छोटी रानी के पुत्र जगमल को ही अपना उत्तराधिकारी चुना। सामन्तों ने इस बात को अस्वीकार कर दिया। उसके दो कारण थे। प्रथम, जगमल राणा प्रताप से छोटे थे और दूसरे, अकबर जैसे प्रबल मुगल सम्राट् से मेवाड़ की रक्षा कर पाना जगमल के बूते के बाहर था। अतः सामन्तों ने मिलकर बप्पा रावल के कुल की अक्षुण्ण कीर्ति की उज्ज्वल पताका, राजपूती आन तथा शौर्य के पुण्य प्रतीक एवं महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पौत्र प्रताप को विक्रम सम्वत् १६२८ फाल्गुन शुक्ल १५ (पूर्णिमा) तदनुसार १ मार्च, सन् १५७३ को मेवाड़ के सिंहासन पर बैठा दिया। सबने हार्दिक आशीर्वाद दिया और महाराणा के रूप में उनका अभिनन्दन किया। यह है प्रताप की योग्यता और लोकप्रियता का प्रथम प्रमाण।

महाराणा प्रताप के सिंहासनारूढ़ होने के समय देश की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार और आलोचक श्री ओझाजी लिखते हैं, 'वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा, जबकि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समतल भूमि पर विदेशियों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े-बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में उसका विध्वंस करने के लिए उसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का बुद्धि-बल, बाहु-बल और धन-बल लगा दिया था। बहुत से राजपूत राजा भी अकबर के सहायक बने हुए थे। यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परन्तु वह स्वतन्त्रता का पुजारी केवल थोड़े स्वदेश-भक्त कर्त्तव्य-परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया।'

इधर, महाराणा प्रताप के जीवन में एक दुर्घटना घटी। एक बार प्रताप और शक्तिसिंह,

दोनों भाई शिकार खेलने गए। शिकार में विधि-संयोग से एक सूअर पर एक ही समय दोनों ने तीर छोड़ा। एक तीर सूअर को चीरता हुआ निकल गया। प्रताप उस तीर को अपना बताते थे और शक्तिसिंह अपना। इसी बात पर वे परस्पर झगड़ पड़े और दोनों ने तलवारें निकाल लीं। राजवंश का पुरोहित दोनों भाइयों का परस्पर लड़ना उचित न समझ बीच में कूद पड़ा। बहुत समझाने पर भी वे न माने। उधर, शक्तिसिंह की तलवार का वार महाराणा पर लगने की बजाय अकस्मात् पुरोहित पर पड़ा। पुरोहित तत्काल मर गया। महाराणा प्रताप ने ब्राह्मण-वध के अपराध में शक्तिसिंह को देशनिर्वासन का आदेश दे दिया और वह यवन-सम्राट् अकबर से जा मिला।

सम्राट् अकबर की कूटनीति व्यापक थी। उसने अपना राज्य राजपूत-नरेशों से सन्धि एवं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सुदृढ़ एवं विस्तृत कर लिया था। धर्म के सम्बन्ध में भी अपने 'दीन-ए-इलाही' द्वारा हिन्दू धर्म के प्रति जनता की श्रद्धा और आकर्षण कम करने का प्रयास अकबर का नहीं था, यह कहना कठिन है। ऐसे कूटनीतिज्ञ एवं शक्तिशाली बादशाह से लड़ने के लिए महाराणा प्रताप के पास न शक्ति थी और न धन। फिर भी उन्होंने अपने सामन्तों और सैनिकों के विश्वास पर उससे लोहा लेने का निश्चय कर लिया। 'उन्होंने राजकीय वैभव-विलास को एवं प्रभूत प्रतिष्ठा के प्रलोभनों को सदा के लिए तिलांजलि दे दी और प्रतिज्ञा की कि जब तक देश का उद्धार न होगा, तब तक राजमहलों का त्याग करके पहाड़ों में रहूँगा, पलंग छोड़कर तृण की शैय्या पर सोऊँगा और षट्स भोजन छोड़कर जंगली कन्द-फल-मूल का आहार करूँगा। उनके इस दृढ़ निश्चय, त्याग और कष्ट-सहन ने ही उनमें पर्वतों को हिला देने और तूफान का सामना करने की शक्ति उत्पन्न कर दी।'

मूँछ न तौ लौं ऐंठिहों हों प्रताप भुज-हीन।

करि पायौ जौ लौं न मैं गढ़ चितौर स्वाधीन॥

महल नाहिं पगुधारिहों रहिहों कुटी छवाय।

हों प्रताप जौ लौं न ध्वज दर्द फेरि फहराय॥

—वियोगी हरि (वीर सतसई, तृतीय शतक, ३०)

उदयपुर पर यवन आसानी से आक्रमण कर सकते हैं, ऐसा विचार कर एवं सामन्तों के परामर्श से प्रताप ने उदयपुर छोड़कर कुम्भलगढ़ और गोगूदा पहाड़ी प्रदेश को अपना केन्द्र बनाया। राजपूत वहाँ के चप्पे-चप्पे से परिचित थे और यवन अपरिचित। शस्त्रास्त्र और धनाभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने मेवाड़ के रास्ते सूरत जाते हुए मुगल व्यापारियों को लूटने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार उनके पास धन एवं शस्त्र भी पर्याप्त हो गये। अकबर इस समाचार को सुनकर चिन्तित रहने लगा।

अकबर के महासेनापति मानसिंह शोलापुर विजय करके लौट रहे थे। महाराणा ने उनके स्वागत का प्रबन्ध उदयसागर पर किया। स्वागत-सत्कार एवं परस्पर बातचीत के बाद भोजन का समय आया। मानसिंह भोजन के लिए पधारे, किंतु महाराणा को न देखकर आश्चर्यान्वित हुए और उन्होंने महाराणा के पुत्र अमरसिंह से इसका कारण जानना चाहा। उसने बताया कि पिता जी के सिर में दर्द है, वे भोजन पर आपका साथ देने में असमर्थ

हैं। उधर, महाराणा ऐसे देश-द्रोही, आर्यकुल-कलंक मानसिंह के साथ जिसकी बुआ मुगल अंतःपुर को सुशोभित कर रही हो भोजन नहीं करना चाहते थे। मानसिंह इस बात को समझ गया और अपने अपमान का बदला लेने का निश्चय कर, वहाँ से उठ खड़ा हुआ।

महाराणा प्रताप इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि मानसिंह का अपमान करना युद्ध को निमंत्रण देना है। उन्होंने जोर-शोर से युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी। मेवाड़ युद्ध के लिए मतवाला हो उठा।

मानसिंह ने बादशाह अकबर को अपनी अपमान की गाथा सुनाकर प्रताप पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। अकबर तो पहले ही यह चाहता था। अतः उसने स्वीकृति दे दी।

मानसिंह ने एक विशाल सेना लेकर, जिसकी संख्या इतिहासकार अस्सी हजार से एक लाख तक बताते हैं, खमणेर के समीप, हल्दीघाटी से कुछ दूर बनास नदी के किनारे अपना डेरा डाल दिया।

भयंकर युद्ध से पूर्व एक ऐसा प्रसंग आया जिसने महाराणा प्रताप की कीर्ति और चरित्र को और भी उज्ज्वल कर दिया। एक बार मानसिंह एक हजार सैनिकों सहित शिकार खेलने अपने डेरे से बहुत दूर चला आया। प्रताप के सामन्तों को इस बात की सूचना मिल गई। उन्होंने महाराणा से शत्रु पर आक्रमण कर मानसिंह को बन्दी बनाने के सुअवसर से लाभ उठाने की प्रार्थना की, किन्तु आर्य-धर्मी प्रताप ने इसे अधर्म बताकर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया।

इतिहासकारों के अनुसार महाराणा प्रताप मातृभूमि की रक्षार्थ केवल २०-२२ हजार सैनिकों के साथ राजपूताने की उस पावन बलिदान-भूमि में, जिसकी समानता में विश्व में इतना पवित्र बलिदान-स्थान कोई नहीं मिलता, हल्दीघाटी में एक लाख यवन सैनिकों के संहारार्थ कूद पड़ा। 'इतिहास के पृष्ठ उस शौर्य एवं तेज की भव्य गाथा से रंगे पड़े हैं। भीलों का अपने देश और नरेश के लिए वह अमर बलिदान, राजपूत वीरों की वह तेजस्विता और महाराणा का वह लोकोत्तर पराक्रम इतिहास का, वीर-काव्य का परम उपजीव्य है।'

*'धड़ कहीं पड़ा, सिर कहीं पड़ा, कुछ भी उनकी पहचान नहीं।
शोणित का ऐसा वेग बढ़ा, मुरदे बह गये, निशान नहीं।
मेवाड़-केसरी देख रहा, केवल रण का न तमाशा था।
वह दौड़-दौड़ करता था रण, वह मान-रक्त का प्यासा था।।'*

—पं. श्यामनारायण पांडे

मेवाड़ के उष्ण रक्त ने श्रावण, सम्वत् १६३३ विक्रमी में हल्दीघाटी का कण-कण लाल कर दिया। महाराणा ने दूर से मानसिंह को हाथी पर सवार देखा। उनका प्रिय चेतक राणा के संकेत मात्र से दौड़कर मानसिंह के हाथी के पास पहुँच गया।

*'क्षण भर दल-बल कर लड़ा अड़ा। दो पैरों पर हो गया खड़ा।।
फिर अपने दोनों पैरों को। हाथी मस्तक पर दिया अड़ा।।'*

महाराणा प्रताप ने हाथी का मस्तक एक ही आघात से फोड़ दिया। फिर, उन्होंने मानसिंह को मारने के लिए भाले का वार किया, किन्तु मानसिंह हौदे के नीचे छिप गया।

मानसिंह तो बच गया, किन्तु महावत मारा गया। बिना महावत के घायल हाथी चिंघाड़ मारकर भाग गया। इधर, यवन-सेना राणा पर टूट पड़ी। राणा ने अतुल पराक्रम से युद्ध किया, किन्तु बहुसंख्यक यवन-सेना से वे घिर गए और बुरी तरह आहत हो गए। उसी समय झाला नरेश ने देखा कि प्रताप के प्राण संकट में हैं। वे प्रताप की सहायतार्थ दौड़े और उनका राज-मुकुट अपने सिर पर धारण कर वीर प्रताप के समान युद्ध करने लगे और उन्होंने राणा को युद्ध-क्षेत्र से निकल जाने का अवसर दे दिया।

शक्तिसिंह ने यह सब देख लिया था। उसने राणा का पीछा किया। पीछा करने वाले दो और यवन सैनिक भी थे। अकस्मात् शक्तिसिंह का हृदय परिवर्तित हुआ। उसने यवन सैनिकों को मार गिराया, राणा को रोका और अपने कुकृत्य के लिए क्षमा-याचना की। दोनों बन्धुओं का पुनर्मिलन हुआ। चेतक अपने स्वामी को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा स्वर्ग सिधार गया। जिस स्थान पर घायल चेतक गिरा, वहाँ आज स्वामिभक्त चेतक का चबूतरा बना हुआ है।

भयंकर युद्ध था हल्दीघाटी का। 'चित्तौड़ भस्म हो गया, खेत उजड़ गए, कुएँ भर दिए गए और ग्रामों के लोग जंगल एवं पर्वतों में अपने समस्त पशु एवं सामग्री के साथ अदृश्य हो गए। शत्रु के लिए इतना विकट उत्तर, यह उस समय महाराणा की अपनी सूझ थी। अकबर के साम्राज्य में राष्ट्रीयता का स्वप्न देखने वालों को इतिहासकार आसफखाँ बदायूनी के ये शब्द स्मरण कर लेने चाहिए 'किसी की ओर से सैनिक क्यों न मरे थे, वे हिन्दू ही थे और प्रत्येक स्थिति में विजय इस्लाम की ही थी।' यह कूटनीति अकबर की थी और महाराणा इसके समक्ष अपना राष्ट्रगौरव लेकर अडिग भाव से उठे थे।

विजय और पराजय का निष्कर्ष छोड़ अकबर की स्थिति पर विचार कीजिए। वह इस विजय में भी अपना अपमान समझता था। वह तो राणा प्रताप के प्राणों का प्यासा था। निदान संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली और ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् अकबर राणा से लोहा लेने, उसे बन्दी बनाने, अपने चरणों पर झुकाने स्वयं चल पड़ा, एक विशाल सैन्य सहित। गोगूँदा पर उसने पड़ाव डाला। महाराणा प्रताप ने अब सामने आकर युद्ध-नीति को श्रेयस्कर न समझा। उन्होंने गुरिल्ला युद्ध-नीति अपनाई। राजपूतों ने पहाड़ी इलाकों में मुगल सेना को तंग और नष्ट किया। इस पर शाही सेना घबरा गई और उसने अजमेर की ओर कूच किया। अपनी असफलता पर बादशाह और भी चिढ़ गया। अबुलफजल के मतानुसार अकबर ने महाराणा के न पकड़े जाने के अपराध में अपने अनेक सेनापतियों की ड्यौढ़ी बन्द कर दी। छह मास तक अकबर वहाँ रहा और फिर बाँसवाड़े की ओर चला गया।

एक बार पुनः राजपूती सेना ने शाही सेना पर आक्रमण कर दिया। इस बार बैरमखाँ के पुत्र मिरजा खानखाना की स्त्रियाँ महाराणा प्रताप के पुत्र कुँवर अमरसिंह द्वारा पकड़ी गईं। महाराणा ने उनके साथ पुत्रीवत् व्यवहार किया और उन्हें स-सम्मान मुगलों के शिविरों में पहुँचवा दिया। इस पर अब्दुलरहीम खानखाना के मुँह से निकल पड़ा—

'जगत् की वस्तुएँ अनित्य हैं। एक दिन राज्य और धन अवश्य लुप्त होंगे, लेकिन महाराणा प्रताप जैसे महान् पुरुष की कीर्ति सदैव अखण्ड बनी रहेगी। इसी महाराणा ने क्षत्रिय कुल के गौरव की रक्षा की है।'

बनवासी राणा को इधर-उधर भटकना पड़ रहा था। धनाभाव, दैनिक युद्ध के झटके एवं भय से परिवार एवं जन-गण की रक्षा की चिन्ता, सभी असीम कष्टदायक थे। 'महारानी, सुकुमार राजकुमारी और राजकुमार घास की रोटियों और निर्झर के जल पर किसी प्रकार जीवन व्यतीत करने को बाध्य हुए। अरावली की गुफाएँ ही आवास थीं और शिला ही शय्या थी। उधर, दिल्ली का सम्राट् सादर सेनापतित्व देने को प्रस्तुत था, उससे भी अधिक वह केवल चाहता था कि प्रताप अधीनता स्वीकार कर ले, तो उसका दम्भ सफल हो जाए। हिन्दुत्व पर दीन-ए-इलाही स्वयं विजयी हो जाए। प्रताप राजपूत की आन का वह सम्राट्, हिन्दुत्व का वह गौरव-सूर्य इस संकट, त्याग, तप में अम्लान रहा, अडिग रहा। धर्म के लिए, आन के लिए अकल्पित है वह तपस्या।

महाराणा प्रताप की अदम्य वीरता और कीर्ति को उज्ज्वल रखने वाला दृढ़ साहस नेपोलियन के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के महापुरुष में नहीं पाया जाता। अरावली में कोई भी ऐसी घाटी नहीं जो प्रताप के किसी-न-किसी वीर कार्य से उज्ज्वल या उससे भी अधिक कीर्तियुक्त पराजय से पवित्र न हुई हो।

कहते हैं कि एक बार बनवासी राणा की सुपुत्री के हाथ से बिलाव घास की रोटि छीन कर ले गया। बुभुक्षित कन्या के रोदन से द्रवित हो राणा ने अकबर को सन्धि-सन्देश भिजवाया। सन्धि-सन्देश पढ़ते ही अकबर का दिल खुशी से झूम उठा, किन्तु बीकानेर के एक क्षत्रिय वीर कवि पृथ्वीराज को, जो महाराणा के निकट सम्बन्धी थे, उस पर हार्दिक दुःख हुआ। उसने इस पत्र को 'धोखा' बताया और कहा कि मैं महाराणा की लिपि को भली-भाँति पहचानता हूँ, यह उनके हाथ का लिखा हुआ पत्र नहीं है। उसने वास्तविकता का पता लगाने के लिए अकबर से महाराणा प्रताप के पास दूत भेजने की अनुमति माँगी। आज्ञा मिलने पर पत्र लेकर प्रताप के पास एक दूत^१ भेजा गया। दूत के हाथ पृथ्वीराज ने एक गुप्त पत्र भी दिया; जिसमें निम्नलिखित आशय के दोहे थे—

'महाराणा प्रताप यदि अपने मुँह से अकबर को बादशाह कह कर पुँकारें, तो कश्यप-पुत्र सूर्य पूर्व की बजाए पश्चिम में उदय होने लग जाएगा। हे दीवाण (प्रताप) मैं मूँछों पर ताव दूँ या तलवार का प्रहार अपने ही शरीर पर करूँ। इन दोनों बातों में से एक बात लिख दीजिए।'२

१. कुछ इतिहासकारों का मत है कि दूत के रूप में पृथ्वीराज की पत्नी (महाराणा की भतीजी) ही पुरुष-वेष बनाकर गई थी।

२. पातल जो पतसाह, बोलैं मुख हूँतां बयण।
मिहर पछम दिस माँह, उगे कासप राब उत॥
पटकूँ मूँछाँ पाण कै, पटकूँ निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक॥

(मलसोसर ठाकुर भूरसिंह शेखावत : महाराणा यश-प्रकाश, पृष्ठ ८७)

पृथ्वीराज ने यह भी लिखा—

ध्रम रहसी, रहसी धरा, खिस जासे खुरसाण ।

अमर विसंभर अपण राखियो निहचो राण ॥ १

पत्रवाहक महाराणा प्रताप के पास पहुँचा। मुसीबतों और चिन्ताओं के जिन बादलों ने प्रताप के प्रताप को छिपा दिया था, पृथ्वीराज के इस पत्र ने उन बादलों को छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने पृथ्वीराज को उत्तर लिख भेजा, जिसका आशय इस प्रकार था—

‘भगवान् एकलिंगजी इस मुख से तो अकबर को तुर्क ही कहलाएँगे। सूर्य जिस पूर्व दिशा में उगता है, वहीं उगेगा। हे कमध पृथ्वीराज, जब तक प्रताप की तलवार यवनों के सिर पर है, तब तक प्रसन्नता से अपनी मूछों पर ताव देते रहो। प्रताप सिर पर सांग का प्रहार भी सहन करेगा, क्योंकि उसके लिए बराबर वालों का यश विष के बराबर है। इसलिए वीर पृथ्वीराज, तुम तुर्क वाद-विवाद में विजय प्राप्त करो।’

डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा अपनी पुस्तक ‘वीर शिरोमणि प्रताप (पृष्ठ ३४-३५) पर लिखते हैं—

यह सम्पूर्ण कथन (महाराणा का अकबर को पत्र लिखना) अतिशयोक्तिपूर्ण और कपोल-कल्पना मात्र है। कारण, महाराणा को कभी ऐसी कोई आपत्ति सहनी नहीं पड़ी थी। उत्तर में कुंभलगढ़ से लगाकर दक्षिण में ऋषभदेव से परे तक अनुमानतः ८० मील लम्बा और पूर्व में देवारी से लगाकर पश्चिम में सिरौही की सीमा तक खरीब ७० मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश, जो एक के पीछे एक पर्वतश्रेणियों से भरा हुआ है, महाराणा के अधिकार में था। महाराणा तथा सरदारों के जनाने (महिलाएं) एवं बालबच्चे आदि इसी सुरक्षित प्रदेश में रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए अन्न आदि लाने को गोड़वाड़, सिरौही, ईडर और मालवे की तरफ के मार्ग खुले हुए थे। उक्त पहाड़ी प्रदेश में जल तथा फलवाले वृक्षों की बहुतायत होने के अतिरिक्त बीच-बीच में कई जगह समान भूमि आ गई है और वहाँ सैकड़ों गाँव आबाद हैं। ऐसे ही वहाँ कई पहाड़ी किले तथा गढ़ भी बने हुए हैं और पहाड़ियों पर हज़ारों भील बसते हैं। वहाँ मक्का, चने, चावल आदि अन्न अधिकता से उत्पन्न होते हैं और गायें, भैंसें आदि जानवरों की बहुतायत के कारण घी, दूध आदि पदार्थ आसानी से पर्याप्त मिल सकते हैं। ऐसे ही छप्पन तथा बानसी से लगाकर धर्यावद के परे तक का सारा पहाड़ी प्रदेश भी उस (महाराणा) के अधिकार में था। शाही सेना से केवल मेवाड़ का उत्तर पूर्वी प्रदेश ही घिरा हुआ था वह अपने सरदारों सहित विस्तृत पहाड़ी प्रदेश में निडर रहता था और उसके स्वामिभक्त एवं वीर प्रकृति के हज़ारों भील लोग, जो बन्दरों की तरह पहाड़ लाँघने में कुशल होते हैं, शत्रु-सैन्य के हलचल की ४०-५० मील दूर तक की खबरों को ७-८ घंटों में उसके पास पहुँचा देते थे, जिससे वह शत्रु पर कहाँ हमला करना ठीक होगा, यह सोचकर अपने राजपूतों सहित पहाड़ों की ओट में घात लगाये रहा करता और मौका पाते ही उस पर टूट पड़ता था। इसी से अकबर की सेना

१. धर्म रहेगा और पृथ्वी भी रहेगी, (पर) मुगल-साम्राज्य एक दिन नष्ट हो जाएगा। अतः हे राजा! विश्वम्भर भगवान् के भरोसे अपने निश्चय को अटल रखना।

ने पहाड़ों में दूर तक प्रवेश करने का एक बार भी साहस न किया। भील लोग महाराणा की भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा करने के अतिरिक्त मौका पड़ने पर शाही सेना की रसद को भी लूट लिया करते।'

कर्नल टॉड ने महाराणा की आपत्ति का जैसा चित्र खींचा है, वैसा ही हुआ होता, तो अबुलफजल जैसा लेखक, जो पग-पग पर बादशाह की खुशामद किया करता है और ज़रा-ज़रा सी बात को बढ़ा-बढ़ा कर लिखता है, इस बात को राई का पर्वत बनाकर न मालूम कितना ही लिख मारता, परंतु उसके अकबरनामे तथा अन्य फ़ारसी तवारीखों में आपत्तियों के बारे में महाराणा के अधीनता स्वीकार करने के लिए अकबर को पत्र लिखने का उल्लेख कहीं नहीं है।

इधर धन का सर्वथा अभाव और उधर पराधीनता-स्वीकृति से स्पष्ट इन्कार! अन्ततः मेवाड़ छोड़ने का निश्चय किया गया, किन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था। 'मेवाड़ के गौरव भामाशाह ने महाराणा के चरणों में अपनी अतुल सम्पत्ति रख दी। महाराणा इस प्रचुर सम्पत्ति से पुनः सैन्य-संगठन में लग गए। चित्तौड़ को छोड़कर महाराणा ने अपने समस्त दुर्गों का शत्रु से उद्धार कर लिया। उदयपुर उनकी राजधानी बना। अपने २५ वर्षों के शासन काल में उन्होंने मेवाड़ की केशरिया पताका सदा ऊँची रखी।'

यज्ञ-अनल-सा धधक रहा था, वह स्वतन्त्र अधिकारी।

रोम-रोम से निकल रही थी, चमक-चमक चिंगारी।।

अपना सब कुछ लुटा दिया, जननी पद नेह लगाकर।

कलित कीर्ति फैला दी है, निद्रित मेवाड़ जगाकर।

भामाशाह द्वारा निजी सम्पत्ति महाराणा को अर्पित करने के बारे में राजस्थान के इतिहासज्ञ डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं, 'इन्हीं दिनों भामाशाह ने मालवे पर चढ़ाई कर वहाँ से २५ लाख रुपए और २० हजार अश्वफ़ियों दंड में लेकर चूलिया ग्राम में महाराणा को भेंट कीं।'

(वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप पृष्ठ २७)

इतना ही नहीं, 'महाराणा प्रतापसिंह और अमरसिंह के समय मुसलमानों से लगातार लड़ाइयाँ होने के कारण चतुर मंत्री भामाशाह राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानों में गुप्त रूप से रखवाया करता था, जिसका ब्यौरा वह अपनी एक बही में रखता था। उन्हीं स्थानों से आवश्यकतानुसार द्रव्य निकालकर वह लड़ाई का खर्च चलाता था। अपने देहान्त से पूर्व उसने उपर्युक्त बही अपनी स्त्री को देकर कहा कि इसमें राज्य के खजाने का ब्यौरेवार विवरण है, इसलिए इसको महाराणा के पास पहुँचा देना।'

(वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप, पृष्ठ ४२)

महाराणा प्रताप की ग्यारह रानियाँ तथा सत्तरह पुत्र थे। इनके नाम हैं—(१) अमर सिंह (२) भगवानदास (३) सहसमल (४) गोपाल (५) कचरा (६) साँवलदास (७) दुर्जन सिंह (८) कल्याण दास (९) चंद्रसिंह (१०) शेका (११) पूरणमल (१२) हाथी (१३) रामसिंह (१४) जसवंतसिंह (१५) माना (१६) नाथा और (१७) रायभाण।

जीवन में विपत्तियों, बाधाओं और अभावों के रहते भी जो शूरवीर शत्रु-सेना के आगे नहीं झुका, वह अपनी मृत्यु के समय घोर निराश हुआ। सलुम्बर के राव द्वारा पूछे जाने

पर राणा ने कहा, 'मैं अपने पुत्र अमरसिंह का स्वभाव जानता हूँ। वह कुछ आराम-पसंद है। इसलिए मुझे उससे आशा नहीं कि वह विपत्ति सहकर देश और वंश के गौरव की रक्षा कर सके। यदि आप मेरे पीछे मेरे राजकीय गौरव की रक्षा करने का प्रण करें, तो मेरी आत्मा शान्ति के साथ इस शरीर को छोड़ सकती है।' इस पर सरदारों ने बाप्पा रावल की गद्दी की शपथ खाकर मातृभूमि की रक्षा की प्रतिज्ञा ली। इस प्रतिज्ञा से आश्वस्त हो महाराणा प्रताप ने विक्रम संवत् १६५३, माघ शुक्ल ११; तदनुसार १९ जनवरी, सन् १५९७ को शांतिपूर्वक शरीर त्याग दिया।

चावंड के अनुसार डेढ़ मील पर बंडोली गाँव के निकट बहने वाले एक नाले के तट पर महाराणा की अन्त्येष्टि हुई। उनके स्मारक-स्वरूप इस स्थान पर श्वेत पाषाण की आठ स्तम्भ वाली एक छोटी-सी छत्री बनी हुई है।

अपूर्व साहसी, अतुल पराक्रमी, प्रचण्ड शौर्ययुक्त, हिमाद्रि सदृश धीरता और दृढ़ता से युक्त, स्वदेशाभिमानी, तपस्वी, रणकुशल, दृढ़-प्रतिज्ञ एवं मातृभूमि की गौरव-गरिमा और स्वाधीनता की रक्षा हेतु अपने युग के सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य की संगठित शक्ति से अकेले ही जूझने-टकराने वाले अमर सेनानी महाराणा प्रताप की चेतक पर सवार विशाल ताँबे की प्रतिमा राजस्थान के स्वर्ग उदयपुर के मोती नगरी में अवस्थित है। गहनों से सजे-धजे चेतक का तीन पाँव पर खड़ा होना जहाँ अत्यन्त शोभन है, वहाँ प्रताप की कमर पर लटकती तलवार, हाथ का भाला और युद्ध-पोशाक में वीरता टपकती है। द्वार पर ये शब्द अंकित हैं, 'जो राखै दृढ़ धर्म को, तेहि राखै करतार।'।

महाराणा प्रताप के बलिदान और इस स्मारक ने 'शताब्दियों तक पतितों, पराधीनों और उत्पीड़ितों के लिए प्रकाश का काम दिया है, दे रहा है और आगे भी देगा।' चित्तौड़ की उस पवित्र भूमि में युगों तक मानव-स्वराज्य एवं स्वधर्म का अमर संदेश झंकृत होता सुना जा सकता है—

'माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप।

अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणै साँप॥'

पृथ्वीराज राठौर (राजस्थानी कवि)



(११) शक्ति और भक्ति के उपासक गुरु गोविन्द सिंह

जहाँ जहाँ तुम धरम विचारों/दुसट देखियत पकरि पछारो।
यही काज हम धरा जनम/समझ लेऊ सब मन मम।
धरम चलावन सन्त उबारन/दुसट सबन को मूल उपारन॥

गुरु गोविन्दसिंह सांस्कृतिक चेतना की प्रतिमूर्ति थे। निष्प्राण, शौर्यहीन, सुषुप्त एवं मुमूर्षु हिन्दु जाति के त्राता थे। वे न केवल संत और समाज-सुधारक ही थे, बल्कि एक राष्ट्र-निर्माता भी थे। एक ओर वे महान् योद्धा थे तो दूसरी ओर थे काव्य-शक्ति के स्वामी। उनका जीवन महान् संघर्षमय, त्यागमय और सेवामय था। वस्तुतः वे पूर्ण निष्काम कर्मयोगी थे।

गुरु गोविन्द सिंह ने भली-भाँति समझ लिया था कि हिन्दुओं में राजनीतिक जागरूकता तथा चेतना का अभाव है। राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक है जातिव्यवस्था। इस दृष्टि से उनके द्वारा 'खालसा पंथ' का निर्माण उनके जीवन की सर्वोपरि सफलता है। उन्होंने खालसा पंथ को न केवल बाह्य दृष्टि से शक्तिशाली बनाया, अपितु आंतरिक दृष्टि से आत्मविश्वास भी फूँका। परिणामतः 'सिक्ख' वीरता का प्रतीक बने।

दशमगुरु ने खालसा पंथ को बाह्य-दृष्टि से शक्तिशाली बनाने के लिए सात कार्य प्रतिपादित किए—(१) सभी सिक्ख समान हैं, उनकी एक जाति है और वह है सिंह, अतः सभी के नाम के आगे 'सिंह' लगाया जाए; (२) सभी एक ढंग से 'सत् श्री अकाल' कहकर नमस्कार करें; (३) 'गुरु ग्रन्थ साहिब' को छोड़कर अन्य बाह्य वस्तुओं की पूजा न की जाए; (४) केवल एक 'अमृतसर' ही तीर्थ हो; (५) सिर में साफा बाँधना आवश्यक हो; (६) कोई भी 'सिंह' तम्बाकू का सेवन न करे तथा (७) प्रत्येक 'सिंह' केश, कंधा, कृपाण, कड़ा और कच्छ धारण करे।

आन्तरिक दृष्टि से इस प्रकार सिंहों को दृढ़ करने के लिए उन्होंने घोषित किया कि—(१) प्रत्येक 'सिंह' के ऊपर परमात्मा की छत्रछाया है, जहाँ कहीं भी उनकी जमात एकत्र होगी, वहीं परमात्मा और गुरु रहेगा; (२) प्रत्येक 'सिंह' विजय प्राप्ति के लिए उत्पन्न हुआ है और उसका नारा है—'वाह गुरुजी का खालसा, वाह गुरुजी की फतेह।' (३) वीर-रस के साहित्य का अध्ययन प्रत्येक 'सिंह' के लिए आवश्यक है।

(हिन्दी साहित्य कोश भाग २ : पृष्ठ १३८)

सिक्ख-पंथ के व्यावहारिक रूप का आदर्श प्रस्तुत किया : अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध जीवन-पर्यन्त जूझने का। एक-एक को सवा लाख से जुझाते रहे। उन्होंने अपने चारों पुत्रों को देश और धर्म पर न्यौछावर कर दिया और उनके मुँह से निकला—

इन पुत्र के कारणे वार दिये सुत चार।

चार मुए तो क्या हुआ, जीवित कई हजार॥

‘मैंने अपने चारों पुत्रों की बलि इसलिए चढ़ा दी कि मेरे सहस्रों पुत्र आनन्दपूर्वक जीवन यापन कर सकें।’

धार्मिक दृष्टि से उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया—श्रीमद्भगवद्गीता के प्रस्तुत आदर्शों को पंजाब में पुनः जागृत किया। दूसरे, लोक-परलोक तथा व्यवहार और अध्यात्म में अपूर्व सामंजस्य स्थापित किया।

उनका ब्रजभाषा में रचित ‘दशम ग्रंथ’ शांत और वीर रस का अद्भुत काव्य है। परमात्मा की स्तुति में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की मंदाकिनी है। हिन्दु पौराणिक कथाओं, धर्म, दर्शन, इतिहास और साहित्य का ज्योतिर्मय ग्रंथ है।

जन्म तथा शैशव

गोविन्द सिंह का जन्म पौष सुदी सप्तमी संवत् १७२३ तदनुसार २६ दिसम्बर १६६६ को पटना (बिहार) में हुआ। पिता थे श्री गुरु तेगबहादुर तथा माता का नाम था ‘गूजरी’। बालक का नाम रखा गया गोविन्द राय। गुरु तेगबहादुर उन दिनों पूर्वी भारत की यात्रा पर थे। उन्हें पुत्र-जन्म का समाचार ढाका में प्राप्त हुआ। वहाँ से वे उत्तर-प्रदेश से होते हुए असम चले गए। गुरु तेगबहादुर दो वर्ष तक असम में रहे। वहाँ से वे पंजाब लौटे, किन्तु परिवार पटना में ही रहने दिया।

गुरु तेगबहादुर का बलिदान

औरंगजेब भारत में मुस्लिम (सुन्नी राज्य) स्थापित करना चाहता था, इसलिए उसने धर्म-परिवर्तन का आन्दोलन छेड़ रखा था। इसकी शुरुआत की कश्मीर से। कश्मीर के सूबेदार शेर अफगान खान के अत्याचारों से पीड़ित कश्मीरी ब्राह्मणों का एक समूह आनन्दपुर में गुरु तेगबहादुर के पास आया। उसने गुरु जी को हिन्दुओं पर होने वाले अत्याचारों की व्यथा-कथा सुनायी। इस पर गुरु जी दुःखी और उदास हुए। उन्होंने कहा, इस समय धर्म-रक्षार्थ एक ही उपाय है कि कोई महान् धर्मात्मा पुरुष अपना बलिदान दे।’

कहते हैं, नौ वर्षीय गोविन्दराय वहीं बैठा था। चर्चा सुनकर वह बोला, ‘इस समय आपसे बढ़कर धर्मात्मा पुरुष और कौन है?’ गुरु तेगबहादुर अपने पुत्र के इस उत्तर से प्रसन्न हुए। उन्होंने कश्मीरी पंडितों को कहा, ‘जाओ औरंगजेब से कहो कि यदि हमारे गुरु तेगबहादुर इस्लाम स्वीकार कर लेंगे तो हमें भी अपना धर्म-परिवर्तन करने में कोई संकोच नहीं होगा।’

कश्मीर में इस्लाम का खुला विरोध करने के कारण औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली बुला लिया। दिल्ली बुलाए जाने पर उन्हें इस्लाम धर्म ग्रहण करने के लिए विवश किया गया। अस्वीकार करने पर पाँच दिन तक यातनाएं दी गईं और ११ नवम्बर १६७५ को गुरु तेगबहादुर का चाँदनी चौक, दिल्ली में वध कर दिया गया। चाँदनी चौक में बलिदान-स्थान पर निर्मित शीशगंज का भव्य गुरुद्वारा आज भी गुरुतेगबहादुर के बलिदान का साक्षी है।

गोविन्दराय गुरु बने

पिताश्री के बलिदान के बाद गोविन्दराय गुरु बने। वे लगभग आठ वर्ष तक आनन्दपुर में रहे। पंजाबी, फारसी तथा संस्कृत के अध्ययन के साथ ही उन्होंने शस्त्र शिक्षा प्राप्त की। दूसरी ओर, सिक्ख-समुदाय को 'हुक्मनामे' भेजकर उनसे धन और अस्त्र-शस्त्र का संग्रह किया। एक छोटी-सी सेना बनाई और उसे युद्ध-नीति में पारंगत किया। तीन वर्ष के लिए गोविन्दराय 'पाँवटा' चले गए। यहाँ रहकर उन्होंने 'कृष्णावतार' की रचना की। डॉ. गोकुलचन्द नारंग का मत है कि गोविन्दराय की ऐकान्तिक साधना के अनेक निम्नलिखित शुभ परिणाम निकले—(१) उन्होंने फारसी और संस्कृत के ऐतिहासिक-पौराणिक ग्रन्थों का विशद अध्ययन कर लिया; (२) हिन्दी कवियों द्वारा उन्होंने पंजाब में पहली बार वीर-रस के काव्य का प्रणयन कराया और स्वयं भी काव्य-रचना की; (३) घुड़सवारी और तीरन्दाजी में असाधारण निपुणता प्राप्त कर ली; (४) आखेट विद्या में दक्षता प्राप्त की और कठोर जीवन व्यतीत करने का अभ्यास किया; (५) हिन्दू जाति की दयनीय दशा को देखते हुए यह अनुभव किया कि परमात्मा ने मुझे देश, जाति और धर्म का उत्थान करने के लिए भेजा है। इसी समय उन्होंने अपना भावी कार्यक्रम बना लिया। ('ट्रांसफार्मेशन आफ सिक्खिज्म', पृ. १२७-१२८)।

युद्ध की चुनौतियाँ

समाज में निम्न कही जाने वाली जातियों को ऊपर उठाने के प्रयासों और उन्हें अपने संगठन में सवर्ण कहे जाने वाले वर्गों के बराबर स्थान देने के क्रांतिकारी प्रयासों के कारण परम्परागत जाति अभिमानी प्रदेश के राजपूत नरेश गुरुजी से नाराज हो गए थे और वे गुरु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने को प्रेरित हुए।

गुरु जी का पहाड़ी राजाओं से पहला युद्ध भंगाणी में सन् १६८९ में हुआ। इसमें गुरु जी ने स्वयं भाग लिया और वे विजयी हुए।

दूसरा युद्ध, मुगल-सेना से नादौन में हुआ। राजा भीमचंद के निमंत्रण पर गुरुजी ने यह युद्ध लड़ा था। इसमें भी वे विजयी रहे। तीसरा युद्ध भी मुगलों से सीधा संघर्ष नहीं था। राजा गोपाल ने गुरुजी से सहायता माँगी। उन्होंने अपनी सेना भेजी। 'हुसैनी युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध इस युद्ध में भी मुगल सेना पराजित हुई।

औरंगजेब ने पंजाब प्रांत की स्थिति संभालने के लिए ज्येष्ठ पुत्र मुअज्जम (बहादुरशाह) को भेजा। उसने लाहौर में डेरा डाला। उसने विद्रोही पहाड़ी राजाओं को बुरी तरह कुचल दिया। गुरु जी का एक शिष्य था भाई नंदलाल। वह शाहजादा मुअज्जम का व्यक्तिगत सचिव (मीर मुंशी) था। उसी के सत्प्रयासों से गुरुजी पर आँच नहीं आई। गुरुजी ने इस काल में संगठन की स्थिति मजबूत की और साहित्य रचना की ओर अग्रसर हुए।

खालसा पंथ की स्थापना

गुरु गोविन्द सिंह अच्छी तरह जानते थे कि मुगल शासन से सशस्त्र संघर्ष अवश्यंभावी है। इसलिए हिन्दू-समाज को संगठित करना होगा। संगठन में सबसे बड़ी बाधा है जाति-

प्रेम। जाति-प्रेम को जड़ से समाप्त करने के लिए उन्होंने 'खालसा पंथ-स्थापना' का निश्चय किया।

वैसाखी के ऐतिहासिक अवसर पर संगत इकट्ठी थी। देश और धर्म पर छाये काले बादलों को हटाने के लिए उन्होंने बलि माँगी। यह वाक्य सुनते ही सभा में सन्नाट छा गया। उन्होंने अपनी बात तीन बार दोहराई। इस पर लाहौर का खत्री दयाराम खड़ा हुआ। गुरुजी उसे एक तम्बू में ले गए, जहाँ पहले ही कुछ बकरे बंधे हुए थे। दयाराम को वहाँ बैठाया और एक बकरे का सिर काट दिया। खून से सनी तलवार को लेकर बाहर संगत में आए। दूसरी बलि माँगी। इस आह्वान पर दिल्ली का जाट धर्मदास उठा। गुरुजी ने उसके साथ भी यही व्यवहार किया। बलि की माँग तीन बार और की, जिसमें द्वारका का धोबी मोहकमचन्द्र, जगन्नाथ पुरी का रसोइया हिम्मत और बीदर के नाई साहबचन्द्र ने अपने को प्रस्तुत किया।

गुरुजी ने इन पाँचों आत्म-उत्सर्गियों को सुन्दर वस्त्रों से विभूषित कर संगत के सामने प्रस्तुत किया। इन्हें 'पंच प्यारे' कहकर संबोधित किया। नए पंथ में उनको दीक्षित किया। खालसा को 'गुरु' का स्थान दिया और 'गुरु' को खालसा का।

इन पंच प्यारों के सामने कर-बद्ध खड़े होकर गुरुजी ने स्वयं को इस पंथ में दीक्षित करने की प्रार्थना की। इस प्रकार वे स्वयं दीक्षित हुए। जो प्रतिज्ञाएं उनसे करवाई थीं, वे ही स्वयं कीं। पंद्रह दिन में आनन्दपुर में लगभग अस्सी हजार लोगों ने खालसा पंथ की दीक्षा ली।

खालसा की पहचान

खालसा की पहचान बताते हुए गुरुजी दशम ग्रंथ में लिखते हैं—

जागत जोत जपै निस बासर एक बिना मन नैक न आनै।

पूरन प्रेम प्रतीत सजै व्रत गोर मड़ी मठ भूल न मानै।

तीरथ दान दया तप संजम एक बिना नइ एक पछानै।

पूरन जोत जगै घट में तब खालस ताहि न खालस जानै।

(सवैया ३३, पृष्ठ ७१२)

जो सत्य की ज्योति को सदैव प्रज्ज्वलित रखता है, एक ईश्वर के अतिरिक्त और किसी को नहीं मानता, उसी में उसका पूर्ण प्रेम और विश्वास है और भूल कर भी मृत व्यक्तियों की समाधियों-दरगाहों पर नहीं जाता। ईश्वर के निश्छल प्रेम में ही उसका तीर्थ, दान, दया, तप और संयम समाहित है, इस प्रकार जिसके हृदय में पूर्ण ज्योति का प्रकाश है, वह पवित्र व्यक्ति ही 'खालसा' है।

उन्होंने सिखों में आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए जयघोष दिया, 'वाहे गुरु जी का खालसा। वाहे गुरुजी की फतह।' अर्थात् खालसा ईश्वर का है और ईश्वर की विजय निश्चित है।

डॉ. गोकुलचन्द नारंग के शब्दों में, 'किसी व्यक्ति में इस बात का दृढ़ विश्वास होना कि वह परमात्मा का विशेष उपकरण है तथा विश्वास से उत्पन्न हुई श्रद्धा, ये दोनों विजय-

प्राप्ति की सबसे बड़ी गारंटी हैं और गुरु ने अपने अनुयायियों को यह गारंटी दी।'

(ट्रांसफोरमेशन ऑफ सिक्खिज्म, पृष्ठ १३७)

कंघा, केश, कच्छ, कड़ा तथा कृपाण की अनिवार्यता ने सिख की पहचान को प्रकट किया। नाम के आगे 'सिंह' शब्द जोड़ने का आदेश दिया। स्वयं भी गोविन्दराय से गोविन्दसिंह बने। (दीक्षा) प्रथा का शुभारम्भ किया। 'पहुल' संस्कार में सभी व्यक्ति उस जल को चखते हैं, जिसे एक विशेष प्रक्रिया के पश्चात् 'अमृत' नाम से पुकारा जाता है।

युद्ध का प्रारम्भ

जाति-विहीन समाज से चिढ़कर पहाड़ी राजाओं ने मुगल सरदारों से मिलकर आनन्दपुर को घेर लिया। इस युद्ध में विजय गुरुजी की रही। विजयी खालसा सेना ने शत्रुओं का रोपड़ तक पीछा किया। यह युद्ध सन् १७०० में हुआ था।

पराजित हिन्दु राजाओं ने गुरुजी के विरुद्ध औरंगजेब के कान भरे। औरंगजेब उस समय दक्षिण के युद्धों में व्यस्त था। संभवतः उसने वहीं से सरहिन्द और लाहौर के सूबेदारों को गुरु पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। युद्ध हुआ और विजयश्री ने पुनः गुरुजी को वरण किया। इस युद्ध में एक विचित्र बात यह हुई कि मुगल सरदार सैयदबैग अपने सैनिकों सहित गुरु के पक्ष में आ मिला।

निर्णायक आक्रमण

इस बार २२ पहाड़ी राजाओं ने सरहिन्द, लाहौर तथा जम्मू के सूबेदारों की सेना ने मिलकर गुरु पर आक्रमण किया। आनन्दपुर को घेर लिया। इस बार के विशाल आक्रमण ने सिखों का मनोबल तोड़ दिया। दूसरी ओर, शनैः शनैः रसद बंद हो गई। पानी की विकट समस्या उत्पन्न हो गई। गुरु जी ने आनन्दपुर छोड़ने का निश्चय कर लिया। २१ दिसम्बर १७०४ की रात्रि में गुरु गोविन्द सिंह ने शेष सेना और परिवार सहित दुर्ग छोड़ दिया। वहाँ भी मुगलों ने आक्रमण कर दिया। वे चमकौर की गढ़ी पहुँचे।

एक-एक करके गुरुजी के अधिकांश साथी समाप्त हो गए। अंत में चमकौर त्याग देने का निश्चय किया। रात्रि के अंधकार में बचे हुए अपने तीन साथियों सहित वे मुगल सेना की आँखों में धूल झाँकर निकल गए।

इस युद्ध में गुरुजी की बड़ी हानि हुई। दो पुत्र अजीतसिंह तथा जोरावरसिंह शहीद हुए। उनकी दोनों पत्नियाँ : सुन्दरी और साहिब देवी उनसे बिछुड़ गईं और किसी प्रकार दिल्ली पहुँचीं। शेष पुत्र : ९ वर्षीय जोरावर सिंह और ७ वर्षीय फतहसिंह गंगाराम रसोइए की बदनीयती से सरहिंद के सूबेदार वजीर खान के हाथ लग गए। इस्लाम धर्म स्वीकार न करने के कारण २७ दिसम्बर १७०४ को उन्हें जीवित दीवार में चिनवा दिया गया। माता गूजरी ने इस शोक में अपने प्राण त्याग दिए।

इधर-उधर भटकने तथा शत्रु सेना से बचते गुरु जी कुछ पठान मित्रों की कृपा और सहायता से जतपुरा पहुँचे। वहाँ से दीना गए। धीरे-धीरे बहुत से शिष्य आ मिले। और अनेक स्थानों पर रुकते पुनः शक्ति संगठित करते हुए वे खिदराणा पहुँच गए। सरहिंद के सूबेदार वजीरखान की सेना से खिदराणा में युद्ध हुआ। वजीरखान बुरी तरह हारा।

‘इस युद्ध में उन चालीस सिखों ने अद्भुत पराक्रम का प्रदर्शन कर वीरगति प्राप्त की जो आनन्दपुर में क्षुधा से व्याकुल हो गुरु का साथ छोड़ आए थे। इस युद्ध में प्राण देकर उन्होंने अपने उस कृत्य का प्रायश्चित्त किया। तब से सिखों की दैनिक प्रार्थना में इन्हें ‘चालीस मुक्ते’ कहकर बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है। खिदराणा को तब से ‘मुक्तसर’ कहते हैं और इस युद्ध की स्मृति में प्रतिवर्ष माघ में यहाँ एक बड़ा मेला लगता है। खिदराणा के युद्ध के पश्चात् गुरु गोविन्दसिंह स्थान-स्थान पर कुछ समय तक विचरण करते रहे फिर तलवंडी साबू पहुँचे जिसे आज ‘दमदमा’ कहते हैं। यहाँ गुरु का एक घनिष्ठ मित्र डल्ला रहता था जिसने उनकी पूरी सहायता की।’ यहाँ गुरु जी के दिन शांति से बीते और शिष्य संख्या बढ़ी।

‘दमदमा का यह निवास गुरु गोविन्दसिंह के जीवन के साहित्यिक पहलू की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गुरु ग्रंथ साहिब का आज जो रूप उपलब्ध है, वह गुरु गोविन्द सिंह के निर्देश में यहीं उसे प्राप्त हुआ। लगता है, गुरु ग्रन्थ साहिब को पुनः संपादित कराने के कार्य में यहाँ उन्हें काफी समय लगा होगा। धीरे-धीरे यह स्थान अध्ययन का केन्द्र बन गया और इसीलिए इसे ‘सिखों की काशी’ कहा जाने लगा।’

—डॉ. महीप सिंह (गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता, पृष्ठ ४६, ४७)

औरंगजेब से संधि

गुरु जी ने औरंगजेब को दो पत्र फारसी में लिखे। ‘दशम ग्रंथ’ में ये पत्र संग्रहीत हैं। इतना ही नहीं औरंगजेब से मिलने दक्षिण की ओर चले। दिल्ली में गुरु जी को औरंगजेब की मृत्यु (२०. २. १७०७) का समाचार मिला। गुरुजी ने दक्षिण प्रस्थान का विचार छोड़ दिया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसकी गद्दी के उत्तराधिकार के लिए जो युद्ध हुआ उसमें गुरुजी ने बहादुरशाह का पक्ष लिया। उसके बादशाह बनने पर २ अगस्त १७०७ को गुरु जी की उससे भेंट हुई।

बहादुरशाह गुरु जी से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने गुरु जी को एक मूल्यवान खिलअत, एक धुगधुगी और एक कलगी भेंट की।

पुनः दक्षिण की ओर

राजपूत राजाओं के विद्रोह को दबाने में लगे बहादुरशाह को जब छोटे भाई कामबख्श के दक्षिण में विद्रोह का पता चला तो उसने सेना का मुख दक्षिण की ओर मोड़ दिया। शाही सेना का साथ देने के लिए गुरु जी भी सेनासहित दक्षिण की ओर चल पड़े।

नांदेड (महाराष्ट्र) में गुरु जी के भेंट माधोदास नामक एक वैरागी से हुई। गुरु जी ने उसकी आंतरिक शक्ति को पहचान कर उस पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह अपने को गुरु का ‘बंदा’ कहने लगा। गुरु जी ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और पंजाब की ओर भेजा। यही माधोदास ‘बंदा वैरागी’ के नाम से इतिहास-पुरुष बना।

सरहिन्द के सूबेदार वजीरखान ने गुरु हत्या के लिए एक पठान को नान्देड़ भेजा। कई दिन तक वह गुरु जी की टोह लेता रहा। अवसर देखकर एक दिन उसने गुरुजी पर छुरे

से वार कर दिया। गुरु जी उस समय विश्राम कर रहे थे। फिर भी, गुरु जी ने तलवार से उसका खात्मा कर दिया।

‘उसी समय घाव धोकर सी दिये गये, परन्तु जब उन्होंने उठने का प्रयास किया तो धागे टूट गये। घाव फिर सी दिये गये और उन पर मलहम लगा दी गयी। तीन-चार दिन व्यतीत हुए। बहुत से सिक्ख उनके दर्शन के लिए आ रहे थे। उनकी प्रार्थना पर गुरु दरबार में आए। फिर कुछ दिन व्यतीत हुए। सिक्खों में आनन्द छा गया, परन्तु गोविन्द सिंह जी समझ गये थे कि उनका अन्त समय निकट आ गया है। एक रात्रि को थोड़ा भोजन करके वे लेट रहे। आधी रात से चार घड़ी समय अधिक व्यतीत हुआ कि उन्होंने सब सिक्खों को बुलाया। सभी सिक्ख उनके निकट एकत्र हो गये और गुरु गोविन्दसिंह जी ने उनसे अन्तिम बार ‘वाहे गुरु जी की फतेह’ कही और उनकी आत्मा ने अपनी नश्वर देह को छोड़ दिया।’ (सेनापति : गुरु शोभा पृष्ठ १०४। डॉ. महीपसिंह कृत ‘गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता’, पृष्ठ ५८ से उद्धृत।)

इस प्रकार लगभग ४२ वर्ष की आयु में ७ अक्टूबर १७०८ को नान्देड में उनका देहान्त हुआ।

साहित्य सेवा

गुरु गोविन्दसिंह रचित १६ पुस्तकें प्राप्त हैं। ये कृतियाँ हैं—(१) जपुजी (२) अकाल स्तुति (३) विचित्र नाटक (आत्म-कथा) (४) चण्डी चरित उक्ति-विलास (५) चण्डी चरित (६) वार श्री भगउतीजी की (चण्डी दी वार) (७) ज्ञान-प्रबोध (८) चौबीस अवतार (९) महंदी मीर (१०) ब्रह्मावतार (११) रुद्रावतार (१२) स्फुट सवैये (१३) शास्त्र नाम माला (१४) चरितोपाख्यान (१५) जफरनामा (१६) हिकायतें।

‘गुरु गोविन्दसिंह के ‘जपु साहिब’ में परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन है। इसमें कुल १९९ छन्द हैं। ‘अकाल उसतति’ अकाल पुरुष की स्तुति है। ‘विचित्र नाटक’ पौराणिक काव्य-रचना है। इसमें गुरु गोविन्दसिंहजी ने अपने जीवन की बातें कही हैं तथा अपने पूर्व-जन्म की बातें भी बतायी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। ‘चण्डी चरित्र’ दुर्गा-सप्तदशती के आधार पर लिखा गया है। इसमें २२७ छन्द हैं। ‘ज्ञान प्रबोध’ में दान, धर्म एवं राजधर्म का वर्णन है। ‘शास्त्र नाम माला’ में शास्त्रों के नाम के माध्यम द्वारा परमात्मा का स्मरण है। चौपाई में ‘दूलह दर्ई’ और ‘श्वास वीर्य’ राक्षस के युद्ध का वर्णन है। ‘जफरनामा’ सन् १७०६ ई. में औरंगजेब को लिखा हुआ पत्र है, जिसमें गुरु गोविन्दसिंहजी के आदर्शों की व्याख्या है। उनकी वाणी में परमात्मा की भक्ति तथा देश भक्ति का अलौकिक वर्णन है।

गुरु गोविन्द सिंह जी की वाणी में शान्त एवं वीर-रस की प्रधानता है। परमात्मा की स्तुति में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है। युद्धों के वर्णन में वीर-रस प्रधान है। रौद्र और बीभत्स रस उसके अंगीभूत हैं।

गुरु गोविन्द सिंह की भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा है, किन्तु बीच-बीच में अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दों की भी प्रचुरता है। उनकी भाषा में सरिता का प्रवाह एवं निर्झर का कलकल निनाद है।’

(हिन्दी साहित्य कोश भाग २, पृष्ठ १३९)



‘धर्मवीर हकीकत प्यारा, एक-दूज का चन्द्र था मानो।

बढ़ा नहीं पर पूर्ण हो गया, दैव इच्छा अनुसार।’—कविता का अंश
धन्य है वीर हकीकतराय, जिसने अपनी किशोरावस्था में ही अपना जीवन-पुष्प हिन्दू-धर्म पर न्यौछावर कर दिया। जीवन के ऐश्वर्य, परिवार के सुख तथा सांसारिक भोग की कामनाएँ इसलिए ठुकरा दीं क्योंकि वह हिन्दू-धर्म-त्याग को पाप समझता था। उसकी धारणा थी, ‘मरणं धम्मिकं सेय्यो, यं चे जीवे अधम्मिकं।’ अधर्म से जीने की अपेक्षा धर्म से मरना ही श्रेष्ठ है।

प्रभु ने मुझे हिन्दू समाज में जन्म दिया है। इसलिए मैं इसका घटक हूँ। हिन्दू धर्म का दर्शन और सिद्धांत इस्लाम से श्रेष्ठ हैं, इसलिए मैं इसका उपासक हूँ। इसका वाङ्मय जीवन की सार्थकता के कपाट खोलता है, इसलिए मैं इसका अनुयायी हूँ। ऐसे श्रेष्ठ धर्म को छोड़कर मुस्लिम-धर्म क्यों स्वीकार करूँ ?

दूसरे, हिन्दू धर्म सृष्टि का आदि धर्म है, यही सनातन धर्म है। अपौरुषेय होने के कारण ईश्वरीय धर्म है, जबकि इस्लाम मानव प्रणीत है। इसके प्रवर्तक मुहम्मद साहब हैं। मानव चाहे कितना भी महान् हो, वह मानव ही रहेगा। मानव सदा अपूर्ण है, प्रकृति के सम्मुख बौना है। इसलिए इस्लाम भी अपूर्ण है। ईश्वरीय धर्म छोड़कर मानव-निर्मित धर्म स्वीकार करने से अच्छा है जीवन-उत्सर्ग। ‘प्राण जाएं पर धर्म न जाहिं।’

जो जल्लाद ने तेग अपनी उठाई।

हकीकत ने खुद अपनी गरदन झुकाई॥

फिर एक वार जालिम ने ऐसा लगाया।

हकीकत के सिर को जुदा कर गिराया॥ —डॉ. गोकुलचन्द नारंग

सतरहवीं शताब्दी में भारत पर मुगलवंश का राज्य था। मुगलवंश के २४वें बादशाह मुहम्मदशाह ने सन् १७१९ से १७४८ तक राज्य किया। मुहम्मदशाह नाम के तीन अन्य राज्यकर्ता भी हुए हैं, पर वे बहमनीवंश के सुलतान थे। उनका कार्यकाल भी सन् १३५८ से १३७३ तक, १३७८ से १३९७ तक तथा १४६३ से १४८२ तक था।

अविभक्त भारत के पंजाब प्रांत का एक नगर है सियालकोट, जो अब पाकिस्तान का एक भाग है। इस पर मुगलवंश का शासन था। भागमल नामक एक व्यापारी सियालकोट का निवासी था। हिन्दू धर्म, वाङ्मय, मान्यताओं सिद्धांतों में उसकी अगाध श्रद्धा और विश्वास था। मुस्लिम शासन में वह मध्यवर्गीय जीवन प्रेमपूर्वक जी रहा था। सन् १७१९ में इस परिवार में एक बालक का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया हकीकतराय।

ग्यारह वर्ष की आयु होने पर शिक्षार्जन हेतु हकीकत को तत्कालीन प्रथा अनुसार मदरसे में भेज दिया गया। वह दो वर्ष इस मदरसे पढ़ता रहा। बुद्धिमान्, योग्य और समझदार होने के कारण मुल्ला जी का प्रिय शिष्य बन गया।

तेरह वर्ष का होने पर दो घटनाओं ने उसके जीवन की धारा को न केवल बदला, अपितु अवरुद्ध भी कर दिया।

पहली घटना थी, हकीकत का विवाह। तेरह वर्ष की अल्पायु में उसका विवाह पंजाब प्रांत के ही बटाला नगर की 'लक्ष्मी' नामक कन्या से कर दिया गया। परिवार में खुशियों की बारिश हुई। हकीकत के जीवन में आनन्द ने दस्तक दी।

विवाहोपरान्त भी हकीकत का मकतब में जाना जारी रहा। अध्यापक के प्रिय छात्र से कक्षा के छात्र प्रकट या अप्रकट ईर्ष्या रखते हैं। यही स्थिति हकीकत के साथ थी। हकीकत के विवाह ने मुस्लिम साथियों को छेड़ने, तंग करने का अवसर प्रदान कर दिया। इस छेड़छाड़ ने दूसरी घटना को जन्म दे दिया।

एक दिन कक्षा में मुल्ला जी नहीं थे। स्वभाव के अनुसार मुस्लिम छात्र पढ़ाई छोड़ खेलकूद में लग गए। हकीकत ने खेलकूद में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। वह अध्ययन रत रहा। मुस्लिम साथियों ने उससे साथ खेलने को कहा। उसने मना कर दिया। छेड़छाड़ और जबरदस्ती करने पर उसके मुँह से निकल पड़ा, 'कसम दुर्गा भवानी की, मुल्ला जी के आने पर तुम सबकी शिकायत कर दूँगा।'

'दुर्गा भवानी' की कसम विवाद का कारण बन गया। मुस्लिम साथियों ने 'दुर्गा भवानी' के प्रति अपशब्द कहने शुरू किए तो हकीकत को यह बरदाश्त नहीं हुआ। उसने भी वही अपशब्द 'फातिमा' के लिए प्रयुक्त कर डाले। 'फातिमा' के प्रति अपशब्द ही उसकी मौत का कारण बने।

मुस्लिम-जगत् में 'फातिमा' कौन है? इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब का प्रथम विवाह खदीजा बीबी से हुआ था। खदीजा बीबी के मोहम्मद से विवाह के समय पूर्व पति से तीन संतानें थीं—दो लड़के तथा एक लड़की। इस लड़की का नाम ही 'फातिमा' था। इस प्रकार 'फातिमा' मोहम्मद साहब के संरक्षण में पलने वाली (पालिता) पुत्री थी।

मुस्लिम-धर्म की यह विशेषता है कि उसके अनुयायी आज भी अपने धर्म में हस्तक्षेप को बरदाश्त नहीं करते। इतना ही नहीं धर्म का बहाना ढूँढकर शासन और हिन्दू-धर्म को नीचा दिखाने की चेष्टा करते रहते हैं। इसके लिए दो उदाहरण पर्याप्त हैं—

पहली घटना का चित्रण करते हुए श्री गुरुदत्त लिखते हैं—सन् १९२२ में कांग्रेस के एक मुसलमान नेता सेफुद्दीन किचलू ने हिन्दुओं के देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाई थी। उसने रावलपिण्डी की एक सार्वजनिक सभा में कहा था, 'हिन्दुओं को अब अपने काले-कलूटे देवताओं को छोड़कर अक्ल की बात करनी चाहिए।' इस कथन की हिन्दू-क्षेत्रों में बहुत चर्चा हुई, विशेषतया पंजाब में।

उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप आर्यसमाज के एक नेता ने एक पुस्तिका लिखी जिसमें यह उल्लेख किया गया कि हिन्दुओं के राम-कृष्ण रंग के साँवले अवश्य थे, किन्तु वे चरित्र के उज्ज्वल थे। इसके विपरीत हज़रत मोहम्मद तो चरित्र के भी बहुत ही हीन थे। उस

पुस्तिका में मोहम्मद के जीवन की कुछ निजी घटनाओं का भी उल्लेख किया गया था। उस पुस्तिका का नाम था 'रंगीला रसूल'। यह प्रकाशित कर दी गई।

मुसलमानों का खून खौल उठा। उन्होंने इसे इस्लाम का अपमान समझा और इसके लिए प्रकाशक पर इस्लाम के अपमान का अभियोग दायर कर दिया। पुस्तक में लेखक का नाम नहीं था। यह अभियोग नीचे के न्यायालयों से होता हुआ उच्च न्यायालय तक गया। वहाँ न्यायाधीश ने प्रकाशक को दोषमुक्त घोषित कर दिया। न्यायाधीश का कहना था कि जो कुछ हज़रत मोहम्मद के विषय में 'रंगीला रसूल' में लिखा गया है वह सब हज़रत साहब की जीवनी में और हदीसों में लिखा हुआ पाया जाता है और वे सब प्रकाशित हैं और बाजार में बिकती हैं। इस कारण इस पुस्तिका के प्रकाशक ने कोई नई बात नहीं लिखी है।

पुस्तिका पर किसी लेखक का नाम नहीं था। इस कारण अभियोग केवल प्रकाशक पर ही चल रहा था।

न्यायालय ने तो प्रकाशक दो दोषमुक्त कर दिया, किन्तु मुसलमानों ने उस प्रकाशक को क्षमा नहीं किया। एक दिन अवसर पाकर एक मतान्ध मुसलमान ने छुरा मार, उसकी हत्या कर दी।

(धर्मवीर हकीकत राय : पृष्ठ ३३, ३४)

दूसरी घटना स्वतंत्र भारत के कर्णाटक प्रांत की है। इसमें झगड़े करने तथा प्रांतीय सरकार को सबक सिखाने का क्या सुन्दर बहाना बनाया गया। एक दैनिक ने एक कहानी छपी, जिसका नायक 'मोहम्मद' था। बस, फिर क्या था? कर्नाटक में आग लग गई। करोड़ों की प्रेस सम्पत्ति तथा सरकारी गैर सरकारी सम्पत्ति आग के हवाले कर दी गई। मजे की बात यह कि कसूरवार पत्र का सम्पादक ही ठहराया गया। जबकि यह कथा पहले भी अन्य अनेक पत्रों में छप चुकी थी। दूसरे, क्या 'मुहम्मद' नाम के नागरिक इस विश्व में नहीं हैं? क्या कहानी-उपन्यासों में 'मुहम्मद' नाम के पात्र नहीं मिलते? अस्तु।

फातिमा के प्रति अपशब्द सुनकर मुस्लिम छात्रों ने पहले तो हकीकत की पिटाई कर दी और बाद में मुल्ला जी के आने पर उसकी शिकायत कर दी। मुल्ला जी दो वर्ष से हकीकत को पढ़ा रहे थे। वे हकीकत के स्वभाव से पूर्णतः परिचित थे। उन्होंने बच्चों को समझाने की चेष्टा की, किन्तु वह मुस्लिम ही क्या जो दीन (धर्म) के नाम पर समझौता कर ले? फातिमा को गाली मजहबी विवाद माना गया। मुल्ला जी को मजबूरन इस विवाद को काजी तक पहुँचाना पड़ा।

हकीकत का स्पष्टीकरण कि पहले मुसलमान छात्रों ने मेरे इष्टदेव को गाली दी थी तब मैंने दी है, नकार दिया गया। हज़रत मोहम्मद के किसी रिश्तेदार को गाली देना इस्लाम की तौहीन मान लिया गया। 'शरा' के अनुसार हकीकत राय को 'मृत्युदण्ड' सुना दिया गया। मुसलमान लड़कों के अपराध को कसूर नहीं माना गया, क्योंकि 'शरा' में मुसलमान पर किसी प्रकार के दोष का उल्लेख नहीं है।

काजी की अदालत से हकीकत राय को सियालकोट के हाकिम के सम्मुख उपस्थित किया गया। हकीकत को देखकर काजी के फतवे पर हाकिम को कुछ संदेह और कठोरता नजर आई। उसने 'शरा' के अनुसार इसमें संशोधन कर दिया, 'यदि हकीकत राय इस्लाम

स्वीकार कर ले तो इसका अपराध क्षमा-योग्य घोषित किया जा सकता है।' साथ ही अन्तिम निर्णय के लिए केस लाहौर के न्यायाधीश के पास भेज दिया।

लाहौर में काजी ने हकीकत राय की किशोरावस्था देखी तथा उसकी पत्नी तथा परिवार का विचार कर हकीकत को मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के लिए न केवल समझाया, अपितु आग्रह भी किया, अनेक प्रलोभन भी दिये।

किन्तु हकीकत टस से मस नहीं हुआ। वह इस्लाम कबूल करने या धर्म-परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हुआ। उसकी धारणा थी कि मेरा जीवात्मा ईश्वरांश है। उसमें आत्मा का अस्तित्व है। ये धर्मान्ध मुसलमान मेरी काया को क्षति पहुँचा सकते हैं, किन्तु आत्मा तो पुनर्जन्म लेकर शरीर धारण करेगी ही। फिर, धर्म परिवर्तन क्यों?

उसने काजी को ललकारते हुए कहा, 'अपने धर्म को त्याग कर पाई गई जिन्दगी से मौत हजार गुणा श्रेष्ठ है। मैं अपने प्राण दे दूँगा, किन्तु धर्म-परिवर्तन कदापि स्वीकार नहीं करूँगा।'

मृत्यु की भीति से अपने स्वधर्म को न बदलूँगा।

मरूँगा जान दे दूँगा, स्वधर्म से मुँह न मोड़ूँगा।।

अन्ततः लाहौर के काजी को भी हकीकत राय को 'प्राण दण्ड' के फतवे पर मोहर लगानी पड़ी।

लाहौर नगर से लगभग तीन मील दूर रावी के तट पर वसंतपंचमी के दिन हकीकत का सिर तलवार से काटकर 'मृत्युदंड' फतवे का पालन किया गया। उपस्थित सहस्रों हिन्दू दहाड़ें मार कर रो पड़े।

हत्या के बाद हकीकत का शव उसके संबंधियों को सौंप दिया गया। उन्होंने वहीं रावी के तट पर धर्मवीर हकीकत राय का दाह-संस्कार कर दिया।

डॉ. हरभजन सिंह हंसपाल का विचार है, 'हकीकत राय के बलिदान के पश्चात् उसकी पत्नी लक्ष्मी ने पति के साथ सती होकर अपने प्राण त्याग दिए।'

(हकीकत राय : पृष्ठ ४०)

लाहौर नगर में रावी के तट पर खोजेशाह के कोट-क्षेत्र में हकीकत की समाधि बनाई गई। प्रतिवर्ष वसन्त पंचमी के दिन इस समाधि पर मेला लगने लगा। सहस्रों नर-नारी प्रतिवर्ष एकत्रित होकर उस धर्मवीर को श्रद्धांजलि देते थे।

भारत-विभाजन अर्थात् सन् १९४७ तक यह क्रम चलता रहा। तत्पश्चात् हिन्दू महासभा भवन, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली में अनुपम बलिदानी वीर हकीकत राय की प्रतिमा स्थापित की गई। हकीकत राय की पत्नी बटाला की थीं। अतः उनकी समाधि बटाला (वर्तमान पंजाब प्रांत का एक नगर) में बनाई गई।

जिनकी चढ़ती हुई जवानी, खोज रही अपनी कुर्बानी।

जलन एक जिनकी अभिलाषा, मरण एक जिनका त्यौहार।।

नमन उन्हें मेरा शत बार।।

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

(१३) धर्मनिष्ठ दो वीर बालक : जोरावर सिंह और फतेहसिंह

जोरावरसिंह और फतेहसिंह सिक्खों के दशम गुरु गोविन्द सिंह के पुत्र थे। आनन्दपुर पर मुगलों के घेरे से जब भोजन और जल संकट उत्पन्न हुआ तो गुरु जी ने आनन्दपुर दुर्ग छोड़ने का निश्चय किया।

२१ दिसम्बर १७०४ की रात्रि को गुरु गोविन्द सिंह ने अपनी बची हुई सेना, माता दोनों पत्नियों तथा चारों पुत्रों सहित दुर्ग छोड़ा। सरसा नदी के तट पर मुगल-सेना ने उन पर हमला कर दिया। कुछ सिक्खों ने मुगल सेना को लड़ाई में घेरे रखा। उधर गुरु जी अपने दो पुत्रों अजीत सिंह और जुझार सिंह सहित चमकौर की गढ़ी पहुँच गए। अपनी माता तथा शेष दो पुत्रों जोरावर सिंह (९ वर्ष) तथा फतेहसिंह ७ वर्ष) को रसोइए गंगाराम के साथ उसके गाँव भेज दिया।

गंगाराम के मन में लोभ उत्पन्न हुआ। उसने गुरु जी के साथ विश्वासघात कर जोरावर सिंह और फतेहसिंह को सरहिंद के मुगल सूबेदार वजीर खान को सौंप दिया।

महान् शत्रु-पुत्रों को पाकर वजीर खान की खुशी का आर-पार न रहा। उसने उन पुत्रों के सम्मुख जीवन-दान की एक ही शर्त रखी, मुस्लिम-धर्म स्वीकार करना। जिसे दोनों भाइयों ने अस्वीकार कर दिया।

अब बालकों को प्रलोभन दिए गए। धन-दौलत और रंग-रेलियों के लिए हूर की परी देने की बात कही गई। उत्तर में दोनों किशोरों का कहना था, प्रभु कृपा से हम नरेश हैं। धन दौलत हमारे पास भी है। रही हूर की परियों की बात, जब शादी का वक्त आएगा और हमने चाहा तो हूर की परी हिन्दुओं में भी मिल जाएगी।

वजीर खान ने जब कहा कि इस्लाम धर्म स्वीकार करोगे तो खुदा तुम्हें आशीर्वाद देगा कि तुमने सच्चा धर्म अपनाया है। इस पर बड़े पुत्र ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा, 'इस्लाम केवल एक सत्य को मानता है, पहचानता है, जबकि हिन्दू धर्म सत्य को विविध रूपों में देखता है। इसमें इस्लाम की संकीर्णता प्रकट होती है। संकीर्णता में पूर्ण सत्य सम्भव नहीं।'।

वजीर खान को क्रोध आ गया और पूछा कि क्या तुम्हें जीवन से मोह नहीं। इस पर जोरावर सिंह का उत्तर था—'जीवन नश्वर है। नश्वर के प्रति मोह कैसा?'

निरुत्तर सूबेदार के क्रोध का पारा चढ़ गया। उसने किसी की बात नहीं मानी। फलतः दोनों गुरु-पुत्रों की मौत का हुकम सुना दिया। मौत भी गला काटकर नहीं, जिन्दा दीवार में चुनकर।

इस हुकम से न केवल हिन्दुओं में रोष फैला बल्कि मुसलमानों ने भी इस हुकम का विरोध किया। पंजाब में एक रियासत थी मलेरकोटला। उस मलेरकोटला के मुसलमानों

ने तो विधिवत् सूबेदार वजीर खान को अपने विरोध से सूचित भी किया। सूबेदार ने किसी की भी न सुनी।

२७ दिसम्बर १७०४ के दिन दोनों गुरु पुत्रों को दीवार में चुनवा दिया गया।

दीवार जब छाती तक पहुँची तो सूबेदार ने देखा कि जोरावरसिंह की आँखें नम हैं। उसने कारीगरों को काम रोक देने की आज्ञा दी। काम बंद हो गया तो सूबेदार ने जोरावर सिंह से कहा, 'तुम्हारी आँखों में आँसू देखकर मुझे लगा कि तुम मौत से डर कर रो रहे हो।'।

जोरावरसिंह ने जोर से दहाड़ते हुए कहा, 'बिलकुल नहीं।'।

'तो तुम रो क्यों रहे थे?' सूबेदार ने पूछा।

'आँखों में आँसू इसलिए आ गए कि मेरा छोटा भाई जो मेरे बाद पैदा हुआ वह स्वर्ग में मुझ से पहले जा रहा है। उसकी दीवार मेरी दीवार से ऊँची चुनी जा चुकी है।'।

जोरावरसिंह के उत्तर से सूबेदार की बोलती बंद हो गई।

और उस बेरहम इस्लामी दीवार ने किशोर जोरासिंह और फतेहसिंह की जिन्दगियों का खात्मा कर दिया।

बालकों की दादी गूजरी ने जब यह सुना तो इस हृदय विदारक आघात में अपने प्राण त्याग दिए।

गुरु गोविन्द सिंह जी को जब इस बलिदान की खबर मिली तो उन्हें दुःख तो हुआ, किन्तु वे, वीरे वाणी में बोले, 'नहीं! मेरे पुत्र मरे नहीं हैं। उन्होंने धर्म का सौदा करने से इंकार कर दिया। वे अमर हो गए हैं।' कहते-कहते उन्होंने धरती पर लगा पौधा उखाड़ दिया और घोषणा की, 'शत्रु भी इसी प्रकार उखाड़ दिया जाएगा।'।

—ए शोर्ट हिस्ट्री ऑफ सिख्स : तेजासिंह गंडासिंह, पृष्ठ ७४

नेपोलियन के विचार से गुरु-पुत्र शहीद हुए क्योंकि 'It is the cause & not the death, that makes the martyr.' यह ध्येय है, मृत्यु नहीं जो मनुष्य को शहीद बना देता है।

(१४) आदर्श भारतीय चरित्र के प्रस्तोता महर्षि वाल्मीकि

‘सदूणाणापि निर्दोषा सखरापि च कोमला ।

नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥’^१

वैदिक साहित्य की परम्परागत लीक से हटकर, नई भाषा लौकिक संस्कृत में, नए कथ्य, नई भावभूमि तथा नए छंद (अनुष्टुप्) में लौकिक काव्य का प्रथम प्रबंध-काव्य ‘रामायण’ लिखने के कारण वाल्मीकि आदि कवि कहलाए।

दूसरी ओर, उन्होंने रामायण के माध्यम से भारतीय संस्कृति की समृद्ध परम्परा को प्रवहमान बनाकर भारत की भावी पीढ़ी तथा मानवता का पथ-प्रदर्शन किया। ‘रामायण’ में वर्णित ऐसा आदर्श चरित्र विश्व-साहित्य में दुर्लभ है।

तीसरी ओर, महर्षि ने मानवता के लिए मर्यादा का ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया कि न केवल राम ही पुरुषोत्तम हुए, बल्कि उसके पालन से मानव-मात्र पुरुष से पुरुषोत्तम हो सकता है।

उनके राम ने अपने हित, निज सम्मान तथा यश का दाँव खेलकर भी मर्यादा की रक्षा की। राम ने स्वयं को मर्यादा का माध्यम बना डाला, जिसने उन्हें पुरुषोत्तम तो बना दिया, किन्तु हर संकट का समाधान मर्यादा पालन में ढूँढ़ने के कारण जीवन में वे एकाकी रह गए।

चौथी ओर, वाल्मीकि के राम के आदर्श चरित्र का भारतीय जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि राम की पूजा विष्णु के अवतार के रूप में हुई और राम-कथा हमारे जातीय जीवन का अभिन्न अंग बन गई।

‘वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। धर्म और सत्य रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज वाल्मीकि ने बोए हैं, वे आज भी फल-फूल रहे हैं। इस देव-पूज्य पुण्य-भूमि में रहने योग्य देव-कल्प मानव के निर्माण का श्रेय वाल्मीकि को ही है।’

परिचय

उत्तरकाण्ड के ९६वें सर्ग के १९वें श्लोक में अपना परिचय देते हुए वाल्मीकि लिखते हैं—

प्राचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।

न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ॥

(गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित रामायण खंड २, पृष्ठ ८०८)

१. जिसमें दूषण राक्षस का वर्णन है, किन्तु स्वयं साहित्य के दोषों से रहित है; जिसमें खर नामक राक्षस का वर्णन है, किन्तु जो अत्यन्त कोमल है। रामायण की इस प्रकार की सुन्दर कथा की रचना जिस वाल्मीकि ने की है, मैं उसे नमन करता हूँ।

(११८)

मैं प्रचेता (वरुण) का दसवाँ पुत्र हूँ। मेरे मुँह से कभी झूठ बात निकली हो, इसकी याद मुझे नहीं है। इस दृष्टि से वाल्मीकि को प्रचेता पुत्र मानने में शंका नहीं करनी चाहिए। इस प्रसंग में उत्तरकाण्ड के ९३वें सर्ग का १७वाँ श्लोक भी द्रष्टव्य है—

इति संदिश्य बहुशो मुनिः प्राचेतसस्तदा।

वाल्मीकि : परमोदारस्तूष्णीमासीन्महामुनिः ॥

(गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित रामायण खंड २, पृष्ठ ८०४)

इस तरह बहुत कुछ आदेश देकर वरुण के पुत्र परम उदार महामुनि वाल्मीकि चुप हो गए। यहाँ भी वाल्मीकि को वरुण-पुत्र कहा गया है।

जन्म और कुल

इसी श्लोक के आधार पर डॉ. राजबलि पाण्डेय लिखते हैं, 'महर्षि कश्यप और अदिति के नवम पुत्र वरुण से इनका जन्म हुआ। इनकी माता चर्षणी और भाई भृगु ऋषि थे। वरुण का नाम प्रचेता भी है। इसलिए वाल्मीकि प्राचेतस् नाम से विख्यात हैं।'

(हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ ५८७)

महर्षि वाल्मीकि के जन्म के सम्बन्ध में विभिन्न पुराणों में विभिन्न कथाएँ हैं, जिनका उल्लेख अधोलिखित है—

राणाप्रसाद शर्मा इन्हें सुमति नामक एक भृगुवंशी ब्राह्मण तथा कौशिक वंश की महिला से उत्पन्न मानते हैं तथा इनका वास्तविक नाम अग्नि शर्मा लिखते हैं। 'एक बार देश में अकाल पड़ने पर यह परिवार विदिशा के वन में चला गया तथा वहीं आश्रम बनाकर रहने लगा। अग्नि शर्मा का साथ डाकुओं से हो गया और यह एक प्रसिद्ध डाकू तथा लुटेरा बन गया। कुछ दिनों में उधर से सप्तर्षि आए जिन्हें इसने घेरा। अग्नि ऋषि की कृपा से इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और इसने १३ वर्षों तक अग्नि के आदेशानुसार 'राम' नाम जपकर सिद्धि प्राप्त की। तेरह वर्षों के पश्चात् सप्तर्षि पुनः आए और इनके ऊपर जमी बाँबी (वल्मीक) देख बोले—तुम दीर्घकाल तक वल्मीक में बैठे रहे हो, अतः तुम वाल्मीकि नाम से विख्यात होगे।' (पौराणिक कोश, पृष्ठ ५६२)

कल्याण का 'हिन्दू संस्कृति अंक' इन्हें ब्राह्मण पुत्र मानते हुए लिखता है, 'महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मण-संतान होने पर भी डाकुओं के संग से डाकू हो गए थे।' (पृष्ठ ८१७)

स्कन्दपुराण में इन्हें वल्मीक पुत्र बताया गया है। व्याध के वाल्मीकि होने का वृत्तान्त 'स्कन्दपुराण' के वैष्णवखण्ड के अन्तर्गत 'वैशाख-माहात्म्य' उपखण्ड में वर्णित है। २१वें अध्याय के श्लोक-संख्या ४५ से श्लोक-संख्या ६८ तक यह कथा कही गई है।

शंख मुनि ने हर्षयुक्त हृदय से व्याध को बुलाया। व्याध को बुलाकर उसे 'राम'—इस दो अक्षर वाला नाम दिया, जो वेद से भी अधिक शुभकारक है। शंख मुनि ने कहा—

तस्माद्रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्।

धर्मानेतान्कुरु व्याध यावदामरणांतकम् ॥

(अ. २१/५५)

इसलिए व्याध! तुम निरन्तर रामनाम का जप करो और मृत्युपर्यन्त मेरे बताये हुए धर्मों का पालन करते रहो। इस धर्म-पालन के प्रभाव से तुम्हारा वल्मीक ऋषि के घर जन्म होगा और तुम इस पृथ्वी पर वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध होओगे—

ततस्ते भविता जन्म वाल्मीकस्य ऋषेः कुले ।

वाल्मीकिरिति नाम्ना च भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि ॥

(२१/५६)

व्याध को ऐसा आदेश देकर शंख मुनि ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और व्याध वैशाखमास में पालनीय धर्मों का पालन करने लगा । वह प्रातःकाल स्नान करके दिन-रात रामनाम का जप करता था । इस प्रकार धर्मानुष्ठान करके वह दूसरे जन्म में वाल्मीक का पुत्र हुआ और महायशस्वी वाल्मीकि के नाम से विख्यात हुआ । इन्हीं वाल्मीकि ने अपनी मनोहर प्रबन्ध-रचना द्वारा संसार में दिव्य रामकथा को प्रकाशित किया है, जो समस्त कर्म-बन्धनों का उच्छेद करने वाली है—

वाल्मीकिरिति विख्यातो भुवनेषु महायशाः ॥ ६७

यो वै रामकथां दिव्यां स्वै प्रबन्ध मनोहरैः ।

लोके प्रख्यापयामास कर्मबन्ध निकृंतनीम् ॥ २१/६८

इस विषय में डॉ. राजबलि पाण्डेय का कहना है, 'ये पुराणवर्णित वाल्मीकि त्रेतायुग में हुए थे और प्राचेतस् वाल्मीकि से भिन्न प्रतीत होते हैं । परम्परागत कथनानुसार इनका प्रारम्भिक जीवन निकृष्ट था । कहते हैं कि ये रत्नाकर नामक दस्यु थे तथा जंगल में पथिकों का वध कर उनका धन छीन लेते और अपने परिवार का भरण-पोषण किया करते थे । एक दिन उसी मार्ग से महर्षि नारद का आगमन हुआ । वाल्मीकि ने उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करना चाहा । महर्षि ने उन्हें मना किया तथा कहा कि इन पापों के भागीदार तुम्हारे माता-पिता, स्त्री या बच्चे होंगे या नहीं, जिनके लिए तुम यह सब करते हो । वाल्मीकि को विश्वास न हुआ और वे नारद को एक वृक्ष के साथ बाँधकर अपने घर उपर्युक्त जिज्ञासा का उत्तर प्राप्त करने गये । किन्तु घर का कोई भी सदस्य उनके पापों का भागीदार होना न चाहता था । वे वन में लौट आये, नारदजी को मुक्त कर उनके चरणों में गिर गये और उनके उपदेश से अन्न-जल त्यागकर तपस्या में निरत हुए । उनके शरीर पर दीमकों ने घर बना लिया । दीमकों से बनाये टीले को 'वल्मीक' कहते हैं । उससे निकलने के कारण इनका वाल्मीकि प्रसिद्ध हो गया ।'

—'हिन्दू धर्म कोश', पृष्ठ ५८७

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा का कहना है, 'वाल्मीकि के डाकू होने की कथा प्रसिद्ध है, परन्तु उसका मूल कहीं नहीं मिलता । ('चरित्र कोश', पृष्ठ ४४६) ।

श्री जानकीनाथ शर्मा का निष्कर्ष है, 'इन्हें नीच जाति का मानना सर्वथा भ्रममूलक है ।'

व्याध द्वारा 'राम' नाम के जप पर एक शंका स्वतः उठती है, 'वाल्मीकि के अपने समय में हुए राम का नाम क्या इस कदर ईश्वरवाची हो गया था ?'

डॉ. सूर्यकांत बाली का कहना है, 'हो सकता है कि व्याध के रूप में वाल्मीकि को नाम जप के लिए ईश्वर का कोई नाम बताया गया हो और बाद के कवियों ने उसे 'रामनाम' कह दिया हो ।'

(भारत गाथा, पृष्ठ १११)

युद्ध कांड समाप्त करते हुए वाल्मीकि ने १२८वें सर्ग में दो दोहे दिए हैं—

रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा ।

प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः ॥

(क्रमांक ११९)

(गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित रामायण का द्वितीय खंड, पृष्ठ ५९६)

जो नित्य इस सम्पूर्ण रामायण का श्रवण एवं पाठ करता है, उस पर सनातन विष्णु स्वरूप भगवान् श्री राम सदा प्रसन्न रहते हैं। ध्यान रहे, यह स्वीकृति रामायण के अंत में है। अतः व्याध द्वारा 'रामनाम' जपने की बात संशयात्मक है।

आदिदेवो महाबाहुर्हरिनारायणः प्रभुः।

साक्षाद् रामो रघुश्रेष्ठः शेषो लक्ष्मण उच्यते ॥ १२० ॥

साक्षात् आदिदेव महाबाहु पापहारी प्रभु नारायण ही रघुकुल तिलक श्री राम हैं तथा भगवान् शेष ही लक्ष्मण कहलाते हैं।

ध्यान रहे, वाल्मीकि की यह स्वीकृति 'रामायण के अंत' में है जबकि व्याध द्वारा 'रामनाम' जाप का प्रसंग रामायण लिखने से पूर्ण का है। अतः यह 'व्याध-कथा' वरुण-पुत्र वाल्मीकि के प्रसंग में संशयात्मक ही है।

वाल्मीकि रामायण पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है राम कथा का समापन युद्धकाण्ड पर ही हो गया था। उत्तरकाण्ड लिखना गर्भिणी सीता का उनके आश्रम में प्रवेश तथा उसके जीवन की व्याकुलता है, जिससे वे मर्माहित हुए। इतना ही नहीं, सीता के पृथ्वी प्रवेश के बाद तो वाल्मीकि अवाक् हो गए। उसके बाद वाल्मीकि की काव्य-शक्ति का ही नहीं, उनका क्या हुआ? कोई नहीं जानता।

महान् घटना, जिसने वाल्मीकि को आदि कवि बनाया

महर्षि वाल्मीकि का आश्रम गंगा के निकट बहने वाली तमसा नदी के तट पर था। यहीं वे शिष्यों सहित अध्ययन, अध्यापन तथा तपस्या में मग्न रहते थे। एक बार नारद जी उनके यहाँ पधारे तो उन्होंने नारद जी से एक प्रश्न पूछा, 'इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य वक्ता, दृढ़ प्रतिज्ञ, सदाचार से युक्त, समस्त प्राणियों का हित साधक, विद्वान्, समर्थ जिसके दर्शन प्रिय हों, मन पर अधिकार रखने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कांतिमान्, किसी की निन्दा न करने वाला तथा संग्राम में उसके कुपित होने पर देवता भी डरते हों, ऐसा इस संसार में कौन है?'

इसके उत्तर में नारद जी ने कहा, 'इक्ष्वाकु वंश प्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः'।

(*वाल्मीकि रामायण, प्रथम भाग, पृष्ठ २७*)

इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगों में 'राम' नाम से विख्यात हैं। इसके पश्चात् उन्होंने राम-जन्म से लेकर रावण-युद्ध के पश्चात् स्व-राज्य प्राप्ति तक की कथा सुना दी।

नारद जी को देवलोक गए अभी थोड़ा समय ही हुआ था कि वाल्मीकि शिष्य भरद्वाज सहित तमसा की ओर गए। तमसा के स्वच्छ जल को देखकर उन्होंने स्नान हेतु भरद्वाज से वल्कल माँगा। वल्कल पहन के विशाल वन की शोभा को देखते हुए विचरने लगे। समीप ही क्रौंच पक्षी का काम-रत जोड़ा देखा। तभी एक निषाद ने नर पक्षी पर तीर चलाया। वह पक्षी खून से लथपथ होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और पंख फड़फड़ाता हुआ तड़पने लगा। क्रौंची करुणाजनक स्वर में चीत्कार कर उठी और पति से वियोग में रोने लगी।

वाल्मीकि का मन आहत हुआ। उसने महामुनि को द्रवित कर दिया। उनके मुख से

यह श्लोक फूट पड़ा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत् क्रौञ्चमिथुननादेकमवधीः काममोहितम् ॥

(बाल काण्ड सर्ग २, श्लोक १५)

‘निषाद! तुझे नित्य-निरन्तर—कभी भी शान्ति न मिले; क्योंकि तूने इस क्रौञ्च के जोड़े में से एक की, जो काम से मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराध के ही हत्या कर डाली’ ॥ १५ ॥

वाल्मीकि ने शिष्य भरद्वाज से कहा—

पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥

(बालकाण्ड, सर्ग २, श्लोक १८)

शोक से पीड़ित मेरे मुख से जो वाक्य निकला है, उसमें चार चरण हैं। प्रत्येक चरण में बराबर-बराबर (आठ अक्षर) हैं। इसमें तंत्री की लय गूँज रही है। अतः यह श्लोक के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। इस प्रकार क्रौंघ-वध की करुणा ने उन्हें आदि कवि बना दिया।

‘रामायण’ की रचना

इधर, ब्रह्मा जी जब वाल्मीकि से उनके आश्रम में मिलने आए तो उन्होंने ब्रह्मा जी के सम्मुख वह श्लोक दुहराया तथा शाप का अनौचित्य मान शोक और चिंता में डूब गए। ब्रह्मा जी ने उन्हें आश्वस्त कर इसी श्लोक शैली में सम्पूर्ण रामचरित का वर्णन करने को कहा, ‘रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम।’ (बालकाण्ड, सर्ग दो, श्लोक ३२)

ब्रह्मा जी के आदेश पर नारद जी से सुनी राम कथा लिखी और श्री राम के अयोध्या राज्यारोहण पर समाप्त कर दी।

राम द्वारा परित्यक्ता गर्भिणी सीता भटकती हुई उनके आश्रम में आ पहुँची तो उन्होंने उसे न केवल आश्रय ही दिया बल्कि सीता के दो जुड़वाँ पुत्रों लव और कुश को शिक्षा-दीक्षा दी तथा अस्त्र विद्या से योद्धा बना दिया।

सीता आगमन से, हृदय से अत्यन्त व्यथित वाल्मीकि को अपना काव्य अधूरा लगा। राम-सीता वियोग से दुःखित कवि हृदय ने पुनः कलम उठाई और ‘उत्तरकाण्ड’ की रचना कर डाली।

इस राम-कथा को वाल्मीकि ने लव और कुश को कंठस्थ करवाया और श्री राम के अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर इन दोनों सीता-पुत्रों ने यह कथा सुना दी।

इस प्रकार वाल्मीकि यथार्थतः आदि कवि और आदर्श भारतीय चरित्र के प्रस्तोता हैं।



(१५) ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि महर्षि वेदव्यास

महर्षि वेदव्यास हिन्दू जीवन परम्परा के देदीप्यमान प्रकाश-स्तम्भ हैं। भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं। हिन्दू संस्कृति का वर्तमान स्वरूप सम्भालने तथा पाँच हजार वर्ष पूर्व ज्ञान-विज्ञान को पीढ़ियों तक सँजोने वाले तपस्वी सम्पादक हैं। श्रुतियों में प्रतिपादित भगवान् के निर्निवेश रूप का दर्शन कराने वाले यशस्वी द्रष्टा हैं। अति श्रद्धावश कहे तो वे भगवान् विष्णु के एक अवतार हैं।

वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि, पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म के ज्ञाता, कवि (त्रिकालदर्शी) सत्यव्रत परायण तथा परम पवित्र हैं, प्रातःस्मरणीय व्यास जी के सम्बन्ध में कही गई अधोलिखित उक्तियाँ सर्वथा उचित और यथार्थ हैं—

कृष्णद्वैपायनो व्यासः विष्णुनारायणस्वयम् । — कूर्मपुराण (१।४९।४८)

कृष्ण द्वैपायन व्यास स्वयं नारायण विष्णु हैं।

कृष्णद्वैपायनं व्यासं सर्वभूतहिते रतम् ।

वेदाब्जभास्करं वन्दे शमादिनिलयं मुनिम् ॥

— शंकराचार्य (विष्णुसहस्रनामभाष्य)

सब प्राणियों के हित में संलग्न, वेदरूपी कमल के लिए सूर्य स्वरूप, शमादि के निलय, कृष्ण द्वैपायन व्यास मुनि की वन्दना करता हूँ।

व्यासः क्षमाभृतां श्रेष्ठो वन्द्यः स हिमवानिव ।

सृष्टा गौरीदृशी येन भवे विस्तारिभारती ॥

— त्रिविक्रम भट्ट (नलचम्पू, १।१२)

क्षमाभृतां (पर्वतों) में श्रेष्ठ तथा वन्दनीय हिमालय के समान व्यास क्षमाभृतां (क्षमाशीलों) में श्रेष्ठ तथा वन्दनीय हैं, जिन्होंने संसार में प्रसिद्ध कान्तिस्वरूपिणी इस प्रकार की गौरी (वाणी) की सृष्टि की।

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे ।

चक्रे पुण्यं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम् ॥

— बाणभट्ट (हर्षचरित)

उस सर्वज्ञ, कवि ब्रह्मा व्यास को नमस्कार है, जिसने सरस्वती से पवित्र भारतवर्ष के समान पवित्र भारत ग्रन्थ की रचना की।

नमो ज्ञानानलशिखापुंजपिंगजटाभूते ।

कृष्णाय कृष्णमहसे कृष्णद्वैपायनाय ते ॥

— क्षेमेन्द्र (भारतमंजरी)

ज्ञानाग्नि के शिखा-पुंज जैसी पीली जटाओं को धारण करने वाले, धवल यश वाले, कृष्ण वर्ण उन कृष्ण द्वैपायन के लिए नमस्कार है।

व्यास ने भी अपने 'जयकाव्य' (महाभारत) में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौन्दर्य प्रत्यक्ष किया था। —*रामचन्द्र शुक्ल (रस-मीमांसा, पृ. ४७)*

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेदव्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देश-व्यापी जीवन में अनन्त बनकर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यासरूपी महान् वटवृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए हैं।

—*वासुदेवशरण अग्रवाल (कल्पवृक्ष महर्षि व्यास)*

भानुतेजें धवललें। जैसे त्रैलोक्य दिसे उजलिलें।

तैसें व्यासमती कवलिलें मिखे विश्व ॥

—*ज्ञानेश्वर (ज्ञानेश्वरी १।३९)*

जिस प्रकार सूर्य के तेज से त्रिभुवन उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार व्यासदेव की बुद्धि से व्याप्त यह विश्व शोभित ही हुआ है।

जीवन-परिचय

महर्षि व्यास के पिता पराशर मुनि थे। माता सत्यवती थीं। सत्यवती आर्द्रिका नामक अप्सरा की पुत्री तथा^१ दाशराज वसु द्वारा पालिता कन्या थी। शरीर में मछली की-सी गंध रहने के कारण सत्यवती का नाम 'मत्स्यगंधा' भी था। एक दिन यात्रियों को नदी-पार करवाने का दायित्व सत्यवती का था। संयोग से उसी दिन महर्षि पराशर नदी पार करने उसकी नाव में सवार हुए। सत्यवती के सौंदर्य से मुग्ध ऋषि पराशर ने उससे सहवास करने की इच्छा प्रकट की। सूर्य का प्रकाश होने के कारण सत्यवती ने इंकार कर दिया। महर्षि ने अपनी तपस्या के बल पर चारों ओर अंधकार प्रकट कर दिया। सत्यवती ने सहवास की सहमति दे दी। ऋषि सहवास से वह गर्भवती हो गई। व्यास का जन्म इसी गर्भ से वैसाख की पूर्णिमा को हुआ। महर्षि पराशर ने सत्यवती पर कृपा करते हुए उसका कौमार्य अक्षुण्ण (सुरक्षित) रखा और उसे मत्स्यगंधा से योजन गंधा बना दिया। इधर, माता की आज्ञा लेकर व्यास शास्त्राध्ययन और तपस्या के निमित्त वन को चले गए।

साँवले रंग के होने के कारण 'कृष्ण' तथा द्वीप (नदी) में जन्म लेने के कारण द्वैपायन अर्थात् 'कृष्ण द्वैपायन' कहलाए। बदरी आश्रम में घोर तपस्या के कारण 'बादरायण' मुनि कहलाए। व्यास शब्द का अर्थ है, विस्तार। वेदों का विस्तार करके इन्होंने अपना नाम वेदव्यास सार्थक किया।

वेदव्यास जी घृताची अप्सरा पर मोहित होने पर सहवास का आनन्द ले बैठे। उससे उनको परम ज्ञानी पुत्र की प्राप्ति हुई जो 'शुकदेव' नाम से जाने जाते हैं। वे आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रतधारी रहे।

कालानन्तर में इनकी माता सत्यवती ने राजा शान्तनु से विवाह किया, जिनसे इन्हें दो पुत्र हुए : चित्रांगद तथा विचित्रवीर्य। चित्रांगद युद्ध में मारा गया तथा विचित्रवीर्य निःसंतान मर गया। वेदव्यास ने वैराग्य का जीवन पसंद किया, किन्तु माता के आग्रह पर कुरुवंश को नष्ट न होने देने के लिए इन्होंने विचित्रवीर्य की दोनों संतान-हीन रानियों से नियोग

१. दाश = मल्लाह। दास = सेवक।

के नियम से दो पुत्र उत्पन्न किए : धृतराष्ट्र और पाण्डु। माता की प्रार्थना पर ही दासी से नियोग-नियम द्वारा एक और पुत्र उत्पन्न किया : विदुर।

इस प्रकार वेदव्यास जी के चार पुत्र थे—(१) शुकदेव (२) धृतराष्ट्र (३) पाण्डु तथा (४) विदुर। पर शुकदेव ही उनके पुत्र माने जाते हैं। नियोग वाले अन्य तीन नहीं। वे कुरुवंश की सन्तानें ही कहीं जाती हैं।

व्यास जी ने आठ पीढ़ियों के काल को देखा था। ये आठ पीढ़ियाँ हैं—शान्तनु, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय तथा शतानीक। इसका अर्थ है, व्यास जी ने अति दीर्घ जीवन जीया। इतना दीर्घ जीवन जीने की सफलता का रहस्य है, उनकी अनवरत सक्रियता और तपस्या।

उनका अंत निराशापूर्ण रहा। अपनी व्यथा व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—

‘ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति माम्, धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते?’ वेदव्यास की व्यथा है कि ‘मैं बाहें उठाकर लोगों को समझा रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, इसलिए क्यों नहीं धर्म के मार्ग पर चलते? पर कोई मेरी सुनता ही नहीं।’

व्यास-कार्य

‘कल्याण’ के ‘हिन्दू संस्कृति अंक’ पृष्ठ ८१२-८१३ पर व्यास जी के कार्यों पर प्रकाश डाला गया है। हम उसे अविकल रूप में यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

‘आदि युग में वेद एक ही था। महर्षि अङ्गिरा ने उसमें से सरल तथा भौतिक उपयोग के छन्दों को पीछे संगृहीत किया। यह संग्रह छान्दस; आङ्गिरस या अथर्ववेद कहलाया। शेष भाग एक ही रूप में था। भगवान् व्यास ने उसमें ऋचाओं, गायनयोग्य मन्त्रों और गद्य भाग को पृथक्-पृथक् संकलित किया। इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का वर्तमान स्वरूप निश्चित हुआ। इस कार्य से वे वेदव्यास कहलाये।

उनके समय में स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विज (द्विजबन्धु) वेदपाठ के अधिकारी नहीं थे। उत्तरोत्तर द्विजबन्धुओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका उद्धार भी होना ही चाहिए। वेदार्थ-दर्शन की शक्ति के साथ अनादि पुराण भी लुप्त हो रहे थे। भगवान् व्यास ने पुराणों का संकलन किया। निष्ठा के अनुकूल उनमें आराध्य के रूप की प्रतिष्ठा हुई। वेदार्थ सबके लिए सहज-सुलभ हो गया। अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त बहुत-से उपपुराण तथा अन्य ग्रन्थ भी उन्हीं के हैं।

पुराण बहुत विस्तृत हैं। उनमें कल्पभेद से चरितों में भेद आया है। समस्त चरित इस कल्प के अनुरूप और समस्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त एकत्र करने के विचार से उन्होंने महाभारत की रचना की। महाभारत पंचम वेद कहा गया। श्रुति में जो कुछ है, महाभारत में भगवान् व्यास ने उसको एकत्र कर दिया है। भगवान् व्यास बोलते जाते थे और गणेश जी साक्षात् लिख रहे थे। इस प्रकार यह पंचम वेद लिपिबद्ध हुआ।

उपासना तथा साधन की प्रतिष्ठा दर्शनशास्त्र के द्वारा होती है। श्रुतियों में भगवान् के जिस निर्विशेष रूप का प्रतिपादन हुआ है, कोई दर्शन उसे व्यक्त नहीं करता था। भगवान्

व्यास ने उन सिद्धान्तों को सूत्र रूप में ग्रथित किया। वही सूत्रग्रन्थ वेदान्त-दर्शन या उत्तर और पूर्व मीमांसा कहा जाता है। भारत के सम्प्रदायों में उसी को मानकर चलने की प्राचीन प्रणाली है।

हिंदू-संस्कृति का वर्तमान स्वरूप भगवान् व्यास द्वारा सम्हाला एवं सजाया गया है। यह अनादि सनातन संस्कृति आज भगवान् व्यास के पुराणों, महाभारत तथा दूसरे ग्रन्थों पर अवलम्बित है। भगवान् ने स्वयं इस रूप में अवतार धारण करके कलि के मानवों के लिए श्रुति का तात्पर्य सरल कर दिया है।'

व्यास जी ने देशभर में वेदों के पठन-पाठन की एक ऐसी गुरु-शिष्य परम्परा का विकास कर दिया जिससे वेदों का अध्ययन-अध्यापन सारे देश में होने लगा। इसका लाभ यह हुआ कि वेदों की प्रतिलिपियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी लिखी जाने लगीं। परिणामतः वेदों का अविकल रूप बना रहा।

पुराणों की रचना के संबंध में प्रायः लोग यह मानते हैं ये सभी पुराण वेदव्यास जी द्वारा रचित हैं। किन्तु कुछ विद्वान् उन्हें संकलन कर्त्ता के रूप में मानते हैं। इतना निश्चित है कि 'भागवत महापुराण' की रचना वेदव्यास जी ने की है और उनके पुत्र शुकदेव ने उसे राजा परीक्षित को सुनाया था।

डॉ. सूर्यकांत बाली का कहना है—'महाभारत के करीब पन्द्रह सौ साल बाद नैमिषारण्य में एक जनसमूह बहुत बड़ा हुआ इकट्ठा हुआ था। अगर घटनाओं के सिलसिले को उनके सही संदर्भों में समझा जाए तो शौनक मुनि ने इस विशाल मुनि समूह को वहाँ जुटाया था। उस समय, यानी महाभारत से करीब पन्द्रह सौ साल बाद जिन शौनक ऋषि ने नैमिषारण्य में इतने बड़े ऋषि-मुनि समुदाय को इकट्ठा किया, जाहिर है कि वे उसी शौनक ऋषि के उत्तराधिकारी वंशज थे जिनका कभी मंत्र रचना में भारी योगदान रहा था। और इन शौनक मुनि को एक ही स्थान पर इतने सारे मुनियों को इकट्ठा करने की जरूरत अनुभव हुई तो निश्चित ही कोई बहुत बड़ा संकट देश और समाज के सामने आ खड़ा हुआ होगा। सूतजी को इस विराट् सम्मेलन में विशिष्ट अतिथि के रूप में बुलाया गया था और शौनक के नेतृत्व में सभी ऋषि-मुनियों ने उनसे खूब सवाल किए, जवाब पाए। इस लम्बे, कई वर्षों तक चले संवाद में जो कुछ उभरा, उसी को अलग-अलग पुराणों में विस्तृत रूप में लिपिबद्ध किया गया है और उस प्रयास में नैमिषारण्य संवाद के तत्काल बाद की सदियों में उन पुराणों में काफी कुछ जोड़ा जाता रहा है।

इसलिए प्रश्न यह है कि अगर उन पुराणों की रचना इस तरह से हुई तो उनका संबंध वेदव्यास से क्या है? महाभारत और भागवतपुराण में जिस शैली का, जो एक तरह से वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड की शैली पर आधारित है, सूत्रपात हुआ, सारे पुराण-उपपुराण चूँकि इस शैली पर आधारित हैं, इसलिए वेदव्यास के प्रभाव को वेदव्यास की रचना के रूप में मान लिया गया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि हमारे देश की साहित्य-परम्परा में किसी पुराण-संहिता नामक एक ग्रन्थ की रचना का श्रेय वेदव्यास को दिया जाता है। चूँकि सभी पुराण किसी-न-किसी रूप में इस पुराण-संहिता से अनुप्राणित रहे होंगे, इसलिए सभी पुराणों के साथ वेदव्यास का नाम जोड़ दिया जाना अस्वाभाविक नहीं लगता।'

(भारत गाथा, पृष्ठ २८३, २८४)



(१६) हिन्दू धर्म के व्याख्याता और पथ-प्रदर्शक संत तुलसीदास

गत साढ़े चार सौ वर्षों से गोस्वामी तुलसीदास हिन्दू धर्म के प्रामाणिक व्याख्याता, मार्गदर्शक और निश्रेयस के सेतु हैं। हिन्दू संस्कृति और सभ्यता के प्रकाश-स्तम्भ हैं। हिन्दू जीवन-मूल्यों के पुनः संस्थापक हैं। निराश और हताश हिन्दू-जनता के मनोबल को ऊँचा बनाए रखने में उनका महान् योगदान है।

तुलसीदास ने मुगल सम्राट् अकबर और बादशाह जहाँगीर (सलीम) का राज्य देखा था। हिन्दू जनता पर मुगलों के अत्याचार और अनाचार खुली नजरों से देखे थे। महसूस किया था, उसकी हताशा और निराशा को। अपनी बहू-बेटियों को मुगलों को समर्पण की अन्तर्वेदना को समझा था।

उन्होंने मुगल-साम्राज्य की तुलना श्री और शक्ति के स्वामी, अदम्य तेजोबल धारक राक्षसी संस्कृति के अधिष्ठाता लंकेश्वर रावण से की।

उन्होंने संगठन मंत्र का घोष किया। धार्मिक-सामाजिक विषमताओं को भूलकर एक संगठन-सूत्र में बंधने की सलाह दी। उन्होंने इसके लिए 'समन्वय' का मार्ग अपनाया। उन्होंने केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं, वैराग्य और गार्हस्थ्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेश और अनासक्त चिंतन का, ब्राह्मण और चाण्डाल का, पंडित और अपंडित के समन्वय का संदेश दिया।

ज्ञान और भक्ति का समन्वय करते हुए तुलसी लिखते हैं—

ज्ञानहि भक्तिहि नहि कुछ भेदा । उभय हरहि भव सम्भव खेदा ।

शैव और वैष्णवों के संघर्ष को शान्त करने के लिए उन्होंने राम के मुख से कहलवाया—

शिव द्रोही मम दास कहावा । सो नर सपनेहु मोहि नहि भावा ।

सगुण-निर्गुण के झगड़े को शांत करते हुए ईश्वर के दोनों रूपों को मान्यता दी—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा । गावहि मुनि पुरान बुध वेदा ।

महाबलशाली मुगल साम्राज्य से लड़ने के लिए न केवल अपनी संस्कृति के अनुयायियों के संगठन पर 'समन्वय मार्ग' अपनाने को बल दिया बल्कि अन्य संस्कृति के लोग जो इस साम्राज्य के विरुद्ध हैं, उनका भी सहयोग लेने की सलाह दी। इसके लिए उन्होंने वानर-संस्कृति के सहयोग का उदाहरण प्रस्तुत किया। सुग्रीव और हनुमान् जैसी महाबल शालियों को अपना सहयोगी बनाया।

(१२७)

दूसरी ओर, उन्होंने संदेश दिया कि उन यवनों को भी अपनाओ जो मुगल-साम्राज्य से असंतुष्ट हैं। कारण, घर का भेदी लंका ढाएगा ही। उदाहरण रूप में विभीषण को प्रस्तुत किया।

हिन्दुओं का रोना था कि वे अस्त्र-शस्त्रों से हीन हैं। युद्ध-साधनों का भी अभाव है। यही प्रश्न विभीषण ने श्री राम से किया था।

हे स्वामी! आपके पास युद्ध करने के लिए रथ नहीं है। न ही शरीर पर रक्षा का साधन कवच है। न ही पैरों में जूते हैं। ऐसी स्थिति में आप उस बलवान् राक्षसराज रावण से किस प्रकार विजय प्राप्त कर पाएँगे? विभीषण की इस अस्थिर चित्तता की (शंका की) बात सुनकर कृपानिधान श्रीराम बोले—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुद्धि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीत न कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर।

जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर॥

किसी भी रथ के चार महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं—पहिए, घोड़े, सारथी और ध्वजा। मेरे विजय-रथ में शौर्य और धैर्य उसके दो पहिए हैं। सत्य और शील, रथ की ध्वजा और ध्वज-दंड हैं। बल, विवेक, दम और परोपकार, उस रथ के चार घोड़े हैं। क्षमा, दया और समता-रूपी डोरी अर्थात् रास है, जिनसे इन घोड़ों का संचालन होता है। प्रभु-भजन उसका सारथी है। जिसके पास इतना शक्तिशाली, सुदृढ़ रथ हो, वह वीर संसार-रूपी अजेय शत्रु को भी जीत सकता है। रावण तो किस खेत की मूली है।

यदि मन में भय हो, मुगलों से खौफ खाते हो तो 'हनुमान चालीसा' का पाठ करो। भय भागेगा और आत्म-विश्वास जागृत होगा। 'भूत पिशाच निकट नहिं आवें महावीर जब नाम सुनावे।'

तुलसी ने यह कार्य विशाल सभाओं में भाषण देकर नहीं किया। मंडलियों में प्रवचनों द्वारा नहीं किया। समूहों में तर्क-वितर्क करके नहीं किया, बल्कि 'रामचरितमानस' लिखकर किया ताकि युग-युगान्तर तक हिन्दू इस प्रकाश-स्तम्भ से प्रकाशित होते रहें।

महात्मा गाँधी 'रामचरित मानस' को 'विचार रत्नों का भण्डार' मानते हैं। महामना पं. मदनमोहन मालवीय इसे 'ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की निर्मल त्रिवेणी का बहता प्रवाह' मानते हुए, मनुष्य जाति को अनिर्वचनीय सुख और शांति पहुँचाने का साधन 'स्वीकार' करते हैं। चन्द्रबली पाण्डे इसे 'जीवन की उलझन का अत्यन्त सुलझा हुआ ग्रंथ' मानते हैं। महाकवि जयशंकर प्रसाद का कथन है, 'महाकवि तुलसीदास ने आदर्श, विवेक और अधिकारी भेद के आधारभूत युगवाणी रामायण की रचना की।' युगेश्वर कहते हैं, 'मानस

एक ऐसा वाग् द्वार है, जहाँ से समस्त भारतीय साधना और ज्ञान-परम्परा प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं। दूसरी ओर इसमें देशकाल से परेशान, दुःखी और टूटे मनो को सहारा तथा संदेश देने की अद्भुत क्षमता है। आज भी यह करोड़ों मनो का सहारा है।'

‘आदर्श गार्हस्थ्य जीवन, आदर्श राजधर्म, आदर्श पारिवारिक जीवन, आदर्श पातिव्रत धर्म, आदर्श भ्रातृधर्म के साथ सर्वोच्च भक्ति, ज्ञान, त्याग, वैराग्य तथा सदाचार की शिक्षा देने वाला, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध-युवा, सबके लिए समान उपयोगी एवं सर्वोपरि सगुण-साकार भगवान् की आदर्श मानव-लीला तथा उनके गुण, प्रभाव, रहस्य तथा प्रेम के गहन तत्त्व को अत्यन्त सरल, रोचक एवं ओजस्वी शब्दों में व्यक्त करने वाला दूसरा ग्रंथ हिन्दी भाषा में ही नहीं, कदाचित्, संसार की किसी भाषा में आज तक नहीं लिखा गया। ज्ञान, भक्ति, नीति सदाचार का जितना प्रचार जनता में इस ग्रंथ से हुआ है, उतना कदाचित् और किसी ग्रंथ से नहीं।’ —प्रकाशकीय निवेदन : रामचरितमानस (गीता प्रेस) पृष्ठ ३

‘मानस का उद्देश्य भारतीय धर्म और दर्शन का प्रतिपादन करना है। इसलिए इसमें उच्च दार्शनिक विचार, धार्मिक जीवन और सिद्धान्त, वर्णाश्रम, अवतार, ब्रह्म निरूपण और ब्रह्म साधना, सगुण-निर्गुण, मूर्ति पूजा, देवपूजा, गो-ब्राह्मण रक्षा, वेद मार्ग का मण्डन, अवैदिक और स्वच्छन्द पंथों की आलोचना, कुशासन की निन्दा, कलियुग निन्दा, रामराज्य की प्रशंसा आदि विषयों का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकार पारिवारिक संबंध और प्रेम, पातिव्रत, पत्नीव्रत, सामाजिक व्यवहार, नैतिक आदर्श आदि का विवेचन भी इसमें यत्र-तत्र भरा पड़ा है।’ —डॉ. राजबलि पाण्डेय (हिन्दू धर्मकोश, पृष्ठ ५५२)

‘तुलसीदास की इस रचना में अनेक दुर्लभ गुण हैं, किन्तु कदाचित् अपने जिस महान् गुणों के कारण इसने यह असाधारण सम्मान प्राप्त किया है, वह ऐसी मानवता की कल्पना, जिसमें उदारता, क्षमा, त्याग, निर्वैरता, धैर्य और सहनशीलता आदि सामाजिक शिवत्व के गुण अपनी पराकाष्ठा के साथ मिलते हों और फिर भी जो अव्यावहारिक न हों।’

(धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश भाग २, पृष्ठ ५११)

इस्लाम ही नहीं, अंग्रेजों के अंधकारमय युग में तथा स्वतंत्रता काल की भ्रष्ट राजनीति में ‘मानस’ ने शाश्वत आशावादी दृष्टिकोण को सार्वभौम बनाए रखा। हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति और जीवन-मूल्यों का अमृत रस पिलाकर अमर बनाए रखा। भारत में ही नहीं विदेशों में भारतीय संस्कृति की ध्वजा फहराने का श्रेय मानस को है।

मानस के अतिरिक्त तुलसी ने अन्य अनेक ग्रंथ लिखे। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा संसार की असारता को प्रकट किया ‘विनय-पत्रिका’ में। जीवन-संबंधी घटनाओं तथा ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के पदों का संग्रह प्रस्तुत किया ‘कवितावली’ में। इसमें ‘हनुमान बाहुक’ के अंश भी सम्मिलित हैं। भक्ति, नीति, नाम महिमा, प्रेम, अध्यात्म के दोहों को ‘दोहावली’ में संकलित किया। राममहिमा, संत स्वभाव और ज्ञान-वैराग्य की चर्चा ‘वैराग्य-संदीपनी’ में की।

विविध शैलियों की दृष्टि से रामकथा को बहुविध रूप से प्रस्तुत किया। गीति-कला की दृष्टि से ‘गीतावली’ लिखी। अलंकार ज्ञान-प्रदर्शन पर ‘बरवै रामायण’ का निर्माण किया। रामकथा के बहाने शुभाशुभ शकुनों के विचारार्थ ‘रामाज्ञा प्रश्न’ प्रस्तुत किया।

इतना ही नहीं, राम के जीवन की कुछ घटनाओं को अलग-अलग पुस्तकों में चित्रित किया। राम-सीता विवाह पर 'जानकी मंगल' लिखा। राम के यज्ञोपवीत पर लोक-गीतों की शैली में 'रामलला नहछू' लिखा।

इनके अतिरिक्त भगवान् शिव और पर्वती के विवाह को लेकर 'पार्वती मंगल' लिखा तो कृष्ण चरित पर 'कृष्ण गीतावली' लिखी।

तुलसीदास का जीवन-परिचय

तुलसीदास का जन्म श्रावण शुक्ला सप्तमी संवत् १५५४ को बाँदा जिले के राजापुर गाँव में हुआ था। पिता थे आत्माराम दुबे, माता थीं हुलसी। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। अभुक्त मूल नक्षत्र में इनका जन्म हुआ था। इनका डील-डौल पाँच वर्ष के बालक का-सा था।

अद्भुत बालक को देखकर अमंगल के भय से माता-पिता ने इन्हें दासी को दे दिया। दासी चुनिया शिशु को लेकर अपने ससुराल चली गई। अगले ही दिन माता हुलसी का देहान्त हो गया। छह मास पश्चात् चुनिया का भी देहान्त हो गया। फलतः बालक अनाथ हो गया।

भिक्षा के लिए भटकते हुए बालक तुलसी का सम्पर्क सन्त श्री नरहर्यानन्द से हो गया। उन्होंने बालक का नाम 'रामबोला' रखा। वे इसे अयोध्या ले गए। यज्ञोपवीत करवाया। राममंत्र की दीक्षा दी। विद्याध्ययन करवाने लगे।

कुछ समय पश्चात् रामबोला अपने गुरु के साथ सूकर क्षेत्र गए। वहाँ श्री नरहरि ने उन्हें रामचरित सुनाया। कुछ दिन बाद काशी चले गए। काशी में शेष सनातन जी के पास रहकर पंद्रह वर्ष तक वेद-वेदांग का अध्ययन किया और फिर, अपनी जन्मभूमि लौट आए।

घर आकर देखा कि सब कुछ नष्ट हो चुका है। न माता जीवित हैं, न पिताश्री।

ज्येष्ठ शुक्ला १३, संवत् १५८३ को भारद्वाज गोत्रीय कन्या रत्नावली से इनका विवाह हो गया। गृहस्थ जीवन सुखपूर्वक चल रहा था। प्रभु को तुलसीदास से कुछ और काम लेना था, इसलिए गृहस्थ जीवन में खटपट करा दी।

हुआ यह है कि एक बार रत्नावली तुलसी को बिना बताए अपने भाई के साथ मायके चली गई। तुलसी को जब पता लगा तो वे भी मायके पहुँच गए। रत्नावली को लज्जा आई और तुलसी को धिक्कार दिया।

लाज न आवत आपको, दौरे आएहु साथ।

धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहों मैं नाथ॥

अस्थि चर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति।

तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव भीति।

तुलसी को पत्नी की फटकार चुभ गई। उन्होंने गृहस्थ जीवन त्याग साधु जीवन स्वीकार किया। वे प्रयाग पहुँचे। तीर्थाटन करते हुए काशी पहुँचे। राम कथा प्रवचन करना आरम्भ कर दिया। किंवदन्ती है कि एक प्रेत की कृपा से इन्हें हनुमान् के दर्शन हुए। हनुमान् से जब श्री राम के दर्शन करवाने की प्रार्थना की तो इन्हें बताया कि चित्रकूट में श्री राम के दर्शन संभव हैं। ये चित्रकूट चल पड़े।

‘चित्रकूट पहुँचकर रामघाट पर उन्होंने अपना आसन जमाया। एक दिन वे प्रदक्षिणा करने निकले थे। मार्ग में उन्हें श्री राम के दर्शन हुए। उन्होंने देखा कि दो बड़े ही सुन्दर राजकुमार घोड़ों पर सवार होकर धनुष-बाण लिए जा रहे हैं। तुलसीदास जी उन्हें देखकर मुग्ध हो गये, परन्तु उन्हें पहचान न सके। पीछे से हनुमान् ने आकर उन्हें सारा भेद बताया, तो वे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। हनुमान् जी ने उन्हें सान्त्वना दी और कहा प्रातःकाल फिर दर्शन होंगे।

संवत् १६०७ की मौनी अमावस्या, बुधवार के दिन उनके सामने भगवान् श्रीराम पुनः प्रकट हुए। उन्होंने बालक रूप में तुलसीदास जी से कहा—बाबा! हमें चन्दन दो। हनुमान् जी ने सोचा, वे इस बार भी धोखा न खा जाएँ, इसलिए उन्होंने तोते का रूप धारण करके यह दोहा कहा—

चित्रकूट के घाट पर भड़ संतन की भीर। तुलसीदास चंदन घिसें तिलक देत रघुबीर॥

तुलसीदास जी उस अद्भुत छबि को निहारकर शरीर की सुधि भूल गये। भगवान् ने अपने हाथ से चन्दन लेकर अपने तथा तुलसीदास जी के मस्तक पर लगाया और अन्तर्धान हो गये।’ (गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित मानस से उद्धृत)

शिवजी की आज्ञा से ये अयोध्या आए और संवत् १६३१ की रामनवमी के दिन रामचरित मानस की रचना प्रारम्भ की। उस साल राम नवमी के दिन वैसा ही योग था जैसा त्रेतायुग में रामजन्म के दिन था। दो वर्ष, सात मास छब्बीस दिन में यह ग्रंथ पूर्ण हुआ। उस दिन मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष संवत् १६३३ था। वैसे, रामविवाह का दिन था।

इधर, पंडित समाज इनके काव्य से चिढ़कर इनके काव्य को नष्ट करने तथा इन्हें अपमानित करने का प्रयत्न करता रहा, पर श्री राम की कृपा से इनकी विजय हुई।

इसके बाद ये काशी के असीघाट पर रहने लगे। कलियुग के त्रास पर हनुमान् जी के कहने पर ‘विनय-पत्रिका’ लिखी। इस प्रकार अनेक ग्रंथों की रचना करते हुए ‘श्रावण कृष्ण तीज, शनिवार संवत् १६८० को तुलसी ने नश्वर शरीर त्याग दिया।’

‘संवत सोलह सौ असी असी गंग के तीर।

श्रावण कृष्ण तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर॥’

तुलसी का रामचरित मानस हिन्दुओं का पूज्य धर्म ग्रन्थ होने के कारण उनका प्राण स्वरूप है। मानस के बिना हिन्दु की कल्पना नहीं की जा सकती। दीन की कुटिया से लेकर धनी के महल और मंत्री के भवन तक में मानस विद्यमान है, पूज्य है।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं

मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमान्बुधं शुभम्।

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये

ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दहन्ति नो मानवाः ॥ (मानस का अंतिम श्लोक)

यह श्रीरामचरितमानस पुण्यरूप, पापों का हरण करनेवाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्ति को देनेवाला, माया, मोह और मल का नाश करनेवाला, परम निर्मल प्रेमरूपी जल से परिपूर्ण तथा मंगलमय है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस मानससरोवर में गोता लगाते हैं, वे संसार रूपी सूर्य की अति प्रचण्ड किरणों से नहीं जलते।



अखंड हिन्दू राष्ट्र के स्वप्न द्रष्टा, क्रान्ति-गीता के प्रस्तोता, श्रेष्ठ वक्ता, प्रतिभाशाली साहित्यकार, अण्डमान की कालकोठरी का सृजनशील महाकवि, तर्कशुद्ध निबन्धकार, सत्यान्वेषी इतिहासकार और अपने युग का महान् समाज-सुधारक स्वातन्त्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर का नाम भारत के इतिहास के अविस्मणीय पृष्ठों पर 'तेजस्वी हिन्दू-राष्ट्र-पुरुष' के रूप में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

सावरकर जी का सम्पूर्ण जीवन स्वधर्म और स्वराज्य पर आधारित वीर रसपूर्ण महाकाव्य है। न केवल परतन्त्रता काल में ही, अपितु स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के पश्चात् भी निम्नकोटि के क्षुद्र राजनीतिज्ञों ने जब उन्हें गाँधी हत्या-काण्ड का सहयोगी मानकर घोर पीड़ा और अमानवीय कष्ट दिए, तब भी यह मानव शरीरधारी विदेह उसी प्रकार कंचन सिद्ध हुआ, जिस प्रकार माता वैदेही अग्नि-परीक्षा में कंचन सिद्ध हुई थीं। श्री माडखोलकर ने कहा था, 'उनका ओज प्रति-पक्षियों के आसुरी आघातों में दुर्दमनीय सिद्ध हुआ, मानो वज्र सिद्ध करने के उपरान्त महर्षि दधीचि की शेष अस्थियों में से विधाता ने सावरकर जी की प्रतिमा का निर्माण किया हो।' वस्तु: 'मराठी के प्रसिद्ध साहित्यकार हिन्दू-हृदय-सम्राट्, महान् देशभक्त, त्याग और बलिदान की साकार प्रतिमा, हिन्दुत्व के प्रबल एवं स्पष्ट वक्ता वीर सावरकर का नाम किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न होकर त्याग, तपस्या, तत्त्व-निष्ठा, लोकोत्तर धैर्य, अदम्य विश्वास, अद्वितीय प्रज्ञा, अभिजात प्रतिभा स्वातन्त्र्य प्रेम का पर्यायवाची बन गया है।'

भारत माता के प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति को कितने आत्मविश्वासपूर्ण शब्दों में वे व्यक्त करते हैं, 'मेरा वंश सम्पूर्ण मानवजाति की सेवा में खेत रहा है। मैंने अपने संकल्प के अनुसार प्रत्येक दिवस के कार्य को किए बिना सूर्य को अस्त होने न दिया। अपने समस्त कर्तव्यों की पूर्ति की चेष्टा मैंने भरसक की है। अपने कृतकार्यों से मेरा जीवन सम्पन्न बना है। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक कर्तव्यों का पालन मैंने किया है। मृत्यु के पश्चात् होने वाली अवस्था में सुयोग्य निवास पाने के लिए मैंने अपने कर्मों से ही अग्रिम किराया दे रखा है। मुझे पूर्ण विश्वास कि मैं अपने कर्मों के बल पर ही एक अच्छा-सी कोठरी प्राप्त करूँगा।'

वीर सावरकर भारत के प्रथम छात्र थे, जिन्हें देशभक्ति के आरोप में कॉलिज से निष्कासित किया गया। वे प्रथम युवक थे, जिन्होंने विदेशी वस्त्रों की होली जलाने का साहस दिखाया। वे विश्व के प्रथम बैरिस्टर थे, जिन्हें परीक्षा पास करने पर भी प्रमाण-पत्र नहीं दिया गया। वे पहले भारतीय हैं, जिन्होंने लन्दन में १८५७ के तथाकथित 'गदर' को 'भारतीय

‘स्वातंत्र्य-संग्राम’ का नाम दिया। इतना ही नहीं, १० मई, १९०७ को उनके प्रयत्न से ‘भारतीय स्वाधीनता संग्राम की अर्धशताब्दी’ मनाई गई। वे विश्व के प्रथम लेखक हैं, जिनकी पुस्तक ‘१८५७ का स्वातन्त्र्य समर’ प्रकाशन के पूर्व ही जल कर ली गई। वे प्रथम भारतीय हैं, जिनका अभियोग हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में चला। संसार के इतिहास में वे प्रथम महापुरुष हैं, जिनके बंदी विवाद के कारण फ्रांस के प्रधानमंत्री एम. बायरन को त्याग-पत्र देना पड़ा। वे प्रथम क्रान्तिकारी हैं, जिन्हें दो आजन्म कारावास का दण्ड मिला। वे प्रथम देश-भक्त भारतीय हैं, जिन्हें अपना सम्पूर्ण यौवन जेल की कालकोठरियों में बिताना पड़ा। वे पहले कैदी थे, जिन्होंने अण्डमान में जेल की दीवारों पर कील की लेखनी से साहित्य सृजन किया। वे प्रथम मेधावी हैं, जिन्होंने काले पानी की सजा काटते हुए (कोल्हू में बैल की जगह जुतना, चूने की चक्की चलाना, राम बांस कूटना, कोड़ों की मार सहना) भी दश-सहस्र पंक्तियों को कण्ठस्थ करके यह सिद्ध कर दिया कि सृष्टि के आदि काल में आर्यों ने वाणी (कण्ठ) द्वारा वेदों को किस प्रकार जीवित रखा। वे प्रथम राजनीति नेता था, जिन्होंने समस्त संसार के समक्ष भारत देश को ‘हिन्दू राष्ट्र’ सिद्ध करके गाँधी जी के ‘भारत राष्ट्र’ को चुनौती दी थी।

अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु मानव बार-बार जन्म ग्रहण करता है, ऐसी मान्यता है। इसमें यदि सत्यता है तो यही समझा जा सकता है कि धार्मिक क्रान्ति, स्वराष्ट्र की स्वतन्त्रता और समष्टिवाद का ध्वज फहराकर अपने ध्येय की पूर्ति हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती, क्रान्तिवीर वासुदेव बलवन्त फड़के और क्रान्ति द्रष्टा कार्ल मार्क्स, इन तीनों महापुरुषों ने अपनी जीवन-ज्योतियाँ बुझा दीं और उन्हीं महान् आत्माओं की सम्मिलित दिव्य ज्योति स्वधर्म, स्वराज्य और समष्टिवाद की प्रस्थापना हेतु महाराष्ट्र के नासिक जिले में स्थित मंगूर नामक एक छोटे से ग्राम में दामोदर पन्त सावरकर के द्वितीय पुत्र-रत्न के रूप में २८ मई, १८८३ को वीर विनायक दामोदर सावरकर के रूप में प्रज्वलित हुई।

सावरकर का पूरा नाम था : विनायक दामोदर सावरकर। इनका घर का नाम था ‘तात्या’। इनके पिता दामोदर पंत की चार सन्तानें थीं। सबसे बड़े गणेश, द्वितीय पुत्र का नाम विनायक, तृतीय सन्तान कन्या का नाम मैना और सबसे छोटे पुत्र थे नारायण। देशभक्ति का भाव और स्वाभिमान, इन चारों को माता के स्तनपान के साथ ही प्राप्त हुआ था। कालान्तर में तीनों भाइयों ने किस प्रकार तिल-तिल कर देश के लिए अपने जीवन को होम दिया, यह जगत्विख्यात कथा है।

छह वर्ष की आयु में बालक विनायक को गाँव की पाठशाला में प्रविष्ट कराया गया। ज्यों-ज्यों उन्हें अक्षरज्ञान होता गया त्यों-त्यों उनकी बुद्धि भी प्रखर होती गई। वे पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त समाचार-पत्र तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने लगे। इस प्रकार दस वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते वे मराठी में ‘अच्छी कविता’ भी करने लगे थे। दस वर्ष की आयु में उनकी कविता पूना में एक प्रसिद्ध मराठी दैनिक में प्रकाशित हुई थी। बाल्यकाल से ही विनायक को शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन के प्रति भी रुचि जागृत हुई।

यह संयोग की ही बात थी कि बालक विनायक जब दस वर्ष का था उस समय संयुक्त-प्रान्त के आजगढ़ नगर में और फिर उसके बाद बम्बई नगर में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो गये।

इनमें मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं को यातना देने का विवरण विनायक ने जब समाचार-पत्रों में पढ़ा तो उसमें इसके प्रतिकार की भावना भड़क उठी, तुरन्त ही उन्होंने अपने सहयोगियों का एक दल बनाया और उसको लेकर वे समीप के गाँव की मस्जिद में जाकर उस पर पथराव करने लगे, जिससे मस्जिद क्षतिग्रस्त हो गई। यह उनकी प्रारम्भिक विजय थी।

गाँव की पाठशाला की शिक्षा पूर्ण कर विनायक अपने बड़े भाई गणेश के पास नासिक चले गये। गणेश उस समय नासिक में पढ़ रहे थे। नासिक में भी विनायक ने अपने साथियों का एक दल बनाया और अपनी कविता के माध्यम से वे अपने साथियों में देशभक्ति की भावना भरने लगे। उन्हीं दिनों महाराष्ट्र में भयंकर अकाल, पूना का प्लेग, अंग्रेजों की उदासीनता तथा चाफेकर बन्धुओं द्वारा ब्रिटिश प्लेग कमीशनर रैंड तथा अन्य अंग्रेज अधिकारी को यमलोक भेजना तथा तिलक आदि का बन्दी बनाया जाना आदि घटनाएँ घटित हुईं। विनायक सावरकर ने चाफेकर बन्धुओं के बलिदान पर ऐसा कारुणिक 'पोवाड़ा' लिखा, जो भी उसे सुनता उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकलती।

१८९९ में प्लेग के प्रकोप से सावरकर के पिता और चाचा का देहान्त हो गया और छोटा भाई नारायण प्लेग का रोगी हो गया। अस्पताल में उसके बड़े भाई गणेश उसकी देखभाल कर रहे थे कि वे स्वयं भी प्लेग की चपेट में आ गये। सावरकर ने दोनों भाइयों की सेवा की और ईश्वर कृपा से दोनों रोग-मुक्त होकर स्वस्थ हो गए। इन्हीं दिनों सावरकर ने अपने कुछ मित्रों के साथ मिलकर एक दल का गठन किया, जिसका नाम रखा 'देशभक्तों का दल'। एक वर्ष बाद उन्होंने 'मित्र मेला' नामक एक अन्य संगठन खड़ा किया जो कालान्तर में 'अभिनव भारत सोसाइटी' के रूप में परिणत हो गया।

अभिनव भारत का कार्य पश्चिमी और मध्य-भारत में प्रसार पाने लगा और 'गदर पार्टी' के नाम से यही सोसाइटी इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, हाँगकाँग, सिंगापुर और बर्मा आदि देशों में भी फैलने लगी। १९०२ में सावरकर ने पूना के फर्गुसन कॉलेज में प्रवेश लिया। इससे पूर्व उनका विवाह हो गया था। उनके श्वसुर भाऊराव चिपलूणकर धनवान व्यक्ति थे, इसलिये अब सावरकर की शिक्षा का प्रबन्ध वे ही कर रहे थे। वैसे, स्वयं उनके घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। पूना में शीघ्र ही उन्होंने 'सावरकर ग्रुप' का गठन किया और थोड़े समय के बाद ग्रुप ने 'आर्यन वीकली' नाम के हस्तलिखित साप्ताहिक-पत्र आरम्भ कर दिया। सावरकर अन्यान्य मराठी पत्र-पत्रिकाओं में भी लिखने लगे। 'काल' के सम्पादक इनकी रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित थे। उनके ही माध्यम से सावरकर का लोकमान्य तिलक से परिचय हुआ था। तिलक सावरकर के आकर्षक और तेजस्वी व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए थे। इस प्रकार वे पूना के सार्वजनिक जीवन में प्रख्यात होने लगे। 'काल' में प्रकाशित होने वाले उनके लेखों की सर्वत्र चर्चा होती थी।

उसी समय बंगाल के विभाजन की चर्चा चली। सावरकर और उनके साथियों ने स्वदेशी का प्रचार, विदेशी का बहिष्कार तथा बंगाल विभाजन का विरोध आरम्भ कर दिया। पूना की विशाल जनसभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने दशहरे के अवसर पर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की घोषणा की और ७ अक्टूबर को दशहरे के दिन विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। कांग्रेसी-पत्र 'इन्दु प्रकाश' ने इस बहिष्कार की अलोचना की। सावरकर को

कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया और उन्हें दस रुपये का दण्ड भी दिया। कालान्तर में जिस महात्मा गाँधी ने विदेशी वस्त्रों की होली जलवाई थी, उन्होंने गाँधी ने उस समय दक्षिण अफ्रीका से इस होली की कटु आलोचना की थी।

कॉलेज से बहिष्कृत होने पर भी सावरकर ने बम्बई विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ही ली। सरकार ने सावरकर द्वारा रचित देशभक्ति से परिपूर्ण 'पोवड़ों' को प्रतिबन्धित कर दिया।

बी० ए० करने के उपरान्त सावरकर लॉ करने के लिए मुम्बई जा पहुँचे। पूना की ही भाँति उन्होंने अपने मुम्बई के साथियों का भी संगठन बनाया और मुम्बई से प्रकाशित होने वाले मराठी साप्ताहिक 'बिहारी' में लिखना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में यह पत्र एक प्रकार से 'अभिनव भारत' का मुख-पत्र-सा ही बन गया था। उन्हीं दिनों सावरकर को विदित हुआ कि लन्दन स्थित श्यामजी कृष्ण वर्मा लन्दन में पढ़ने वाले भारतीय छात्रों के छात्रवृत्ति देना चाहते हैं। सावरकर ने इसके लिये आवेदन कर दिया और उसके साथ में लोकमान्य तिलक तथा 'काल' के सम्पादक श्री परांजपे की सिफारिश भी लगा दी। सावरकर को वह छात्रवृत्ति प्राप्त हो गई और ९ जून १९०६ को वे लन्दन के लिये रवाना हो गये। परसिया नामक जलपोत में सावरकर की भेंट और परिचय हरनामसिंह नामक एक युवक से हुआ तो कालान्तर में प्रगाढ़ मित्रता में बदल गया।

लन्दन में सुस्थापित होते ही सावरकर ने वहाँ भी 'फ्री इण्डिया सोसाइटी' नाम की संस्था का गठन किया। इस संस्था की नियमित बैठकें होने लगीं और भारतीय पर्व तथा त्यौहार मनाये जाने लगे। प्रति रविवार को 'इंडिया हाऊस' में इसकी सभा होती और फिर सहभोज होता। उन सभाओं में सावरकर विश्वभर में होने वाले राजनीतिक संघर्ष और क्रान्तियों पर भाषण देकर भारतीय नवयुवकों को प्रोत्साहित करते। इससे समस्त इंग्लैंड में सावरकर की ख्याति फैलने लगी। १९०७ में जब श्यामजी कृष्ण वर्मा लन्दन छोड़ कर पेरिस जाने लगे तो उन्होंने अपनी 'इंडिया होम रूल सोसाइटी' को सावरकर की संस्था से सम्बद्ध कर दिया और इंडिया हाऊस का सारा भार उनको ही सौंप दिया।

इण्डिया हाऊस में रहते हुए ही सावरकर का भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, सेनापति बापट, सरदारसिंह राणा, एम० पी० टी० आचार्य और मादाम कामा जैसे प्रमुख देशभक्तों से परिचय हुआ। मई १९०७ में अंग्रेजों ने १८५७ के भारत के गदर के दमन की स्वर्ण-जयन्ती और मई-दिवस मनाने का निश्चय किया तो सावरकर ने उसे गदर को 'भारत का प्रथम स्वातन्त्र्य समर' घोषित किया और १० मई को सभी भारतीयों ने अपने सीनों पर '१८५७ के शहीदों की जय' के बिल्ले लगाये। 'भारत भवन' को सजाया गया और वहाँ सभा आयोजित की गई। राणा इस सभा के अध्यक्ष थे। सभी वक्ताओं ने क्रान्तिवीरों को भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की। उस दिन अनेक स्थानों पर अंग्रेजों से भारतीयों की मुठभेड़ भी हुई।

इससे प्रेरित होकर सावरकर ने मराठी में स्वातन्त्र्य-समर का इतिहास लिख डाला, इसके लिये उन्होंने गहन अध्ययन किया था। सावरकर ने यह पाण्डुलिपि अपने भाई के पास नासिक भेज दी। गुप्तचरों को इसकी भनक मिली तो उन्होंने नासिक के सारे प्रेस छान मारे, किन्तु कहीं पाण्डुलिपि नहीं मिली। भारत में कोई भी मुद्रक उसको मुद्रित करने के

लिये तैयार नहीं हुआ तो बाबाराव सावरकर ने उस पाण्डुलिपि को सावरकर के पेरिस स्थित एक मित्र के पास भेज दिया। वहाँ भी प्रकाशन संभव नहीं हो पाया। लन्दन के कुछ मित्रों ने उसका अंग्रेजी अनुवाद भी कर लिया और कुछ धन एकत्रित कर उसे प्रकाशित कराना चाहा, किन्तु सरकार के प्रतिबन्धों के कारण यह कार्य सम्भव नहीं हो पाया। ब्रिटिश सरकार उस पुस्तक की मराठी अथवा अंग्रेजी पाण्डुलिपि हस्तगत नहीं कर सकी तो उसने अप्राप्य तथा अप्रकाशित पुस्तक को ही प्रतिबन्धित कर दिया। फिर भी, १९०९ में यह पुस्तक हॉलेण्ड में प्रकाशित हो गई। प्रकाशित पुस्तक को तुरन्त फ्रांस पहुँचा दिया गया और गुप्त रीति से उनका वितरण होने लगा।

मई १९०७ की भारत में भी प्रतिक्रिया हुई और सभाएँ आयोजित की गईं। उसी अवसर पर अंग्रेज सरकार ने लाहौर में लाला लाजपतराय को बन्दी बना कर माण्डले कारागार में भेज दिया। समस्त विश्व में इसकी भर्त्सना होने लगी। दिसम्बर १९०७ में नागपुर में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन को टालने में गोखलेवादियों की विजय हुई। तिलक का गरम दल एक प्रकार से पराजित हुआ। सावरकर इस पर भी दृष्टि लगाये हुए थे। अप्रैल १९०८ में मुजफ्फरपुर बमकाण्ड हुआ और उसके बाद अनेक काण्ड होते गये और सरकार का दमनचक्र जोर पकड़ता गया। अनेक प्रमुख लोगों को पकड़ा गया और तिलक को भयावह व्यक्ति मानकर माण्डले कारागार में भेज दिया गया। गोखले की राजभक्ति ने उन्हें सुरक्षित रखा। उन दिनों प्रति दो-तीन मास में लन्दन में अनेक समारोह होते रहे और जी भरकर अंग्रेज सरकार को कोसा गया।

अवसर पाकर सावरकर ने लन्दन में एक राइफल क्लब की स्थापना की। भारतीय युवक वहाँ राइफल का प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे। सावरकर ने पेरिस से स्वचालित राइफलें और कारतूस मंगवाये और उन्हें भारत भेजा, किन्तु बम्बई पहुँच कर वह पार्सल पुलिस के हाथ लग गया। उसी बीच सावरकर की एकमात्र सन्तान उनका पुत्र चेचक का शिकार होकर मृत्यु का ग्रास बना और उनके बड़े भाई बाबाराव सावरकर को राजद्रोह में बन्दी बना लिया गया। उधर, लन्दन में सावरकर ने कानून की परीक्षा तो उत्तीर्ण कर ली, किन्तु सरकार ने उन्हें उपाधि देने से इंकार कर दिया।

उन्हीं दिनों सावरकर की नवयुवक मदनलाल ढींगरा से भेंट हुई। दोनों मित्र बन गये। ढींगरा ने सावरकर के परामर्श से अंग्रेजों के एक क्लब का सदस्य बनकर वहाँ शूटिंग सीख ली। वहीं वह लॉर्ड मोरले, लॉर्ड कर्जन और वायली के सम्पर्क में आया। मदनलाल को कर्जन के बंगाल में किये गये अत्याचारों ने उद्वेलित कर दिया था। उसने उससे बदला लेने का निश्चय किया, किन्तु कर्जन तो बच गया और वायली उसका निशाना बन ही गया। अंग्रेज-भक्त भारतीयों ने सर्वसम्मति से इस कृत्य की निन्दा का प्रस्ताव पारित करना चाहा तो सावरकर ने इसका विरोध किया। वह भी एक घटना थी, किन्तु इस घटना से सावरकर पर मंडराने वाले संकट के बादल अधिक गहन होते गये। उनके परिवार पर भी विपत्तियों का पहाड़ टूटने लगा था। उनके सबसे छोटे भाई नारायण सावरकर को भी बन्दी बना लिया गया।

मुम्बई सरकार ने सावरकर की बन्दी का वारण्ट लन्दन भेजा। तब तक सावरकर पेरिस जा कर अपनी गतिविधियाँ चला रहे थे। वारण्ट की बात सुनकर वे लन्दन वापस आये १३ मार्च १९१० को लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर बन्दी बना लिए गए। लन्दन में ही उन पर अभियोग चलाये जाने का नाटक किया। अन्त में निर्णय हुआ कि सावरकर पर भारत के न्यायालय में अभियोग चलाया जाये। इसके विरोध में सावरकर के वकील श्री रेजिनेल्डवान ने अनेक तर्क दिये, किन्तु उन्हें अस्वीकार कर दिया गया। अपील-दलील सब की गई, किन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुई। सावरकर पेरिस से इसीलिए लन्दन आए थे कि उन पर लन्दन में ही अभियोग चलेगा, अन्यथा वे न आते।

सावरकर के सहयोगियों ने योजना बनानी आरम्भ की कि लन्दन की कारागार से उनका अपहरण कर लिया जाये, किन्तु यह योजना भी सफल नहीं हो सकी। कुछ लोगों की मान्यता है कि ए० ए० नामक एक व्यक्ति ने क्रान्तिकारियों के साथ विश्वासघात कर इस योजना को विफल किया था। अन्त में १ जुलाई, १९१० को 'एस. एस. मोरिया' नामक जलपोत सावरकर को साथ लेकर भारत के लिए चल पड़ा। सात दिन निरन्तर चलकर यह जलपोत जब फ्रांस के मार्सेल्स के निकट पहुँचा तो उसके इंजिन में कुछ खराबी आ गई। जलपोत सागर तट पर रोक दिया गया और उसके इंजन की मरम्मत की जाने लगी।

इन सात दिनों में हथकड़ी बेड़ी से कसे सावरकर अपनी मुक्ति के विषय में सोचते रहे थे। जलपोत के मार्सेल्स में रुक जाने पर उन्होंने उसके छिद्र से समुद्र की ओर देखा और उन्हें अपने साथियों का स्मरण हो आया। उन्होंने अपने साथियों को कारागार से संकेत भेजा था कि वे मुक्त होने का यत्न करेंगे।

रात जागते बीती। प्रातः होने पर सावरकर ने शौच जाने की इच्छा व्यक्त की। इन्स्पेक्टर ने मोहम्मद सिद्दीक और सिंह नामक दो भारतीय सिपाहियों की देख-रेख में सावरकर को शौचालय भिजवाया। शौचालय के भीतर देखने के लिए विशेष शीशा लगाया गया था। सावरकर ने उस पर अपना गाउन डाल दिया। अपना जनेऊ उतारकर उससे अपने शरीर की गोलाई नापी और फिर शौचालय के उस छिद्र की गोलाई नापी जिससे वे समुद्र में कूदने की योजना बना रहे थे। दोनों को उपयुक्त जान उन्होंने शीघ्रता से अपने शरीर पर साबुन मला और उस छिद्र में प्रविष्ट हो गये। पोर्ट-होल में प्रविष्ट होते ही वे छपाक से समुद्र में जा गिरे। समुद्र में गिरते ही उन्होंने घोष किया, 'स्वातन्त्र्य देवी की जय'।

दुर्भाग्य से पुलिस अधिकारी ने उनको समुद्र में तैरते देख लिया। उसने शौचालय का द्वार खोलना चाहा, किन्तु वह भीतर से बन्द था। जलपोत में कोहराम मच गया और वहाँ से दनादन सावरकर पर गोलियाँ बरसाई जाने लगीं। सावरकर तैरते रहे और किसी प्रकार सागर तट पर पहुँच गये। वहाँ से ज्यों ही वे भागे कि सामने फ्रेंच सिपाही दिखाई दिया। उधर, जलपोत की ओर से भारतीय और अंग्रेज सिपाही उनको पकड़ने के लिए भागे चले आ रहे थे। सावरकर ने अपनी टूटी-फूटी फ्रेंच भाषा में उस सिपाही को कहा कि वह उन्हें निकट के पुलिस स्टेशन पर ले जाये, किन्तु तब तक ब्रिटिश सरकार के सिपाही उन तक पहुँच गये। सावरकर ने वहाँ से भागकर कोई वाहन करने का विचार किया, किन्तु उसके लिए उनके पास पैसा ही नहीं था। वे बिना पैसे के भी चल देते। तुरन्त कोई वाहन मिला

नहीं और तब तक सिपाहियों ने उनको वहीं पर दबोच लिया। फ्रांस की धरती पर इंग्लैंड की पुलिस ने उनको पुनः बन्दी बना लिया। यह अवैधानिक था।

सावरकर के साथियों को विदित था कि उन्हें फ्रांस के मार्ग से ले जाया जा रहा है, तो उन्होंने भी कार द्वारा उनका पीछा करना आरम्भ किया और जिस समय फ्रांस की धरती पर उनको पुनः पकड़कर जलपोत पर लाया जा रहा था, ठीक उसी समय उनके साथी वी० एस० अय्यर, सरदारसिंह राणा और मादाम कामा आदि उनको छुड़ाने के विचार से बन्दरगाह के तट पर पहुँचने ही वाले थे कि तभी मार्ग से पड़ने वाला रेल का फाटक बन्द हो गया और उसे खुलने में पूरा आधा घण्टा लगा। यही आधे घण्टे का विलम्ब बनती बात को बिगाड़ गया। या यों कहें कि इस आधे घण्टे के विलम्ब ने सावरकर की आधी शती का कारावास भुगतने के लिए विवश कर दिया।

जिस देश में जिसने भी इस घटना के विषय में सुना उसने ही दाँतों तले अंगुली दबा ली। यह कथा सुनकर भारत को सपेरों और साधु-सन्तों का देश कहने वालों के रोंगटे खड़े हो गए। विश्व के सभी देशों के समाचार-पत्रों ने इस घटना को अपने पत्रों के मुख-पृष्ठ पर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। जहाँ उनमें सावरकर की तुलना मैजिनी और गैरीवाल्डी आदि से की जाने लगी, वहीं कुछ समाचार-पत्रों ने ब्रिटिश सरकार की भर्त्सना भी की।

जलपोत पर वापस लाए जाने के बाद ब्रिटिश सरकार के सिपाहियों ने उनके साथ कैसा दुर्व्यवहार किया होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उनके द्वारा किये जाने वाले अपमान को सावरकर ने सहन नहीं किया और उनको चेतावनी देते हुए कहा, 'देखो ध्यान में रखना, मैं अब भी अपनी मुक्ति के लिये प्रयत्न कर सकता हूँ। यदि तुम लोग अपनी सन्तति और पत्नियों के साथ सुख-चैन का जीवन बिताना चाहते हो तो तुम्हारे लिये यही अच्छा होगा कि न तो मेरा किसी प्रकार का अपमान करना और न ही मेरे शरीर का स्पर्श करना। मैं तो पहले ही अपने घर को जला चुका हूँ और अपने अपमान का बदला लिए बिना मैं रहूँगा नहीं चाहे मुझे कुछ भी क्यों न करना पड़ जाये। इसलिये तुम लोग भावी के लिये तैयार रहना।' इतना सुनना था कि पुलिस अधिकारियों को काठ-सा मार गया।

विश्व के कोने-कोने से सावरकर को फ्रांस सरकार के हवाले करने की माँग उठने लगी। ब्रिटिश सरकार दबाव में आने लगी तो उसने एक प्रकार से षड्यंत्र-सा करके फ्रांस सरकार के साथ मिलकर इस विषय को हेग न्यायालय के हवाले करने का निश्चय किया कि वह इस विषय में निर्णय दे कि सावरकर का फ्रांस सरकार के हवाले किया जाना चाहिये अथवा कि नहीं, किन्तु वहाँ भी मिली-भगत से केवल औपचारिकता को निभाया गया और सावरकरवादियों की माँग अमान्य कर दी गई। विश्वभर में समाचार-पत्रों में इस निर्णय की खूब आलोचना हुई। फ्रांस की वायरन सरकार डोल गई और प्रधानमन्त्री वायरन को त्यागपत्र देना पड़ गया। यह भी इतिहास की अनन्य घटना है।

१ जुलाई को लन्दन से चला जलपोत २२ जुलाई को बम्बई बन्दरगाह पर पहुँच गया। सावरकर को वहाँ से नासिक और यरवदा कारागार में ले जाया गया। सावरकर पर तीन अभियोग एक साथ लगाये गए। उनके साथियों ने जीतोड़ यत्न किया कि किसी प्रकार सावरकर के अभियोग को अन्तर्राष्ट्रीय रंग दिया जाए, किन्तु ब्रिटिश सरकार के सम्मुख

दास देश के कथित अभियुक्त की कहाँ चल सकती थी। ६८ दिनों तक न्यायालय का नाटक चला और अन्त में २६-१२-१९१० को उन्हें आजन्म कारावास और समस्त सम्पत्ति की जब्ती का दण्ड सुनाया गया। उन पर एक अन्य अभियोग भी चलाया जा रहा था जिसका निर्णय ३० जनवरी १९११ को सुनाया गया। उसमें भी उनको आजन्म कारावास का दण्ड सुनाया गया। अर्थात् एक ही जन्म में दो-दो आजन्म कारावास।

उस दिन से सावरकर का बन्दी जीवन आरम्भ हो गया। कुछ मास तक उन्हें भारत की विभिन्न कारागारों में रखने के उपरान्त अन्त में ४ जुलाई १९११ को अण्डमान के कारागार में पहुँचा दिया गया। कारागार में ही उन्होंने स्वरचित कविता के रूप में दस सहस्र पंक्तियाँ कण्ठस्थ कर ली थीं, जो बाद में विभिन्न काव्य-संग्रहों के रूप में प्रकाशित हुईं।

सावरकर १३ वर्ष तक अण्डमान के कारागार में रहे। इन तेरह वर्षों में अन्तिम वर्ष के थोड़े से कुछ दिनों को छोड़कर शेष सारी अवधि में उन्हें कठोर यातनाएं सहन करनी पड़ीं थीं। शारीरिक मर्मांतक यातनाओं ने जब उनके मन को प्रभावित किया तो उन्होंने आत्म-हत्या करने की भी सोची, किन्तु पुनः साहस आने पर वह विचार छोड़ दिया। उनका क्रमशः वर्णन करना एक पृथक् पुस्तक का विषय है, जिसे सावरकर ने स्वयं ही 'माँझी जन्मठेप' नाम से मराठी भाषा में एक ग्रन्थ लिखा है। अण्डमान में ही उनके बड़े भाई बाबाराव अर्थात् गणेश सावरकर को भी रखा गया था, किन्तु दोनों भाइयों में से किसी को भी इसका ज्ञान नहीं था। एक दिन सहसा आते-जाते दोनों ने एक दूसरे को देखा, फिर किसी प्रकार उनमें संचार व्यवस्था तो स्थापित हो गई, किन्तु प्रत्यक्ष मिलन कारागार से बाहर निकलते समय ही हुआ था। दोनों भाइयों को एक साथ ही अण्डमान से कलकत्ता के कारागार में लाया गया था। कलकत्ता में लाकर भी दोनों को अलग-अलग ही रखा गया था।

सावरकर के अण्डमान में रहते हुए भी उनके साथियों ने उनकी मुक्ति के लिये यत्न किया था। मुक्ति अर्थात् सावरकर का कारागार से अपहरण। अभिनव भारत सोसाइटी के सदस्यों तथा अन्यान्य संगठनों ने जर्मनी के कैसर से सम्पर्क करके योजना बनाई कि एक पनडुब्बी को अण्डमान भेज कर वहाँ बमबारी की जाए और सावरकर आदि कुछ राजबन्दियों को वहाँ से रिहा किया जाये। अंग्रेजों को इसकी भनक लग गई और उन्होंने अण्डमान में अनेक प्रकार के सुरक्षा प्रबन्ध किए। 'एमडैन' नामक जर्मन पनडुब्बी इस कार्य के लिये भेजी गई। सावरकर को इसकी सूचना मिल गई थी इसीलिये उन्होंने कारागार के अपने कुछ साथियों से परामर्श कर जर्मन पनडुब्बी के वहाँ पहुँचने पर अपने कर्तव्य का भी निर्धारण कर लिया था, किन्तु हा दुर्दैव! ११ नवम्बर १९१४ को ब्रिटिश सरकार को मद्रास के निकट 'एडमैन' पनडुब्बी को जलमग्न करने में सफलता प्राप्त हो गई और क्रान्तिकारियों की सारी योजना निष्फल गई।

क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों और ब्रिटिश सरकार की विवशता के कारण २ मई को १९२१ सावरकर बन्धुओं को अण्डमान से मुक्ति मिली और उन्हें भारत लाकर विभिन्न कारागारों में रखा गया। दिसम्बर १९२२ में बाबाराव सावरकर को कारामुक्त कर दिया गया, क्योंकि सरकार समझती थी कि वे अब कुछ दिनों के अतिथि हैं। सरकार अपने माथे पर यह कलंक का टीका लगवाना नहीं चाहती थी। विनायक सावरकर को अलीपुर से रत्नागिरि, यरवदा

आदि अनेक कारागारों में रखा गया। इन कारागारों में सावरकर का रचना कार्य भी चलता रहा। बीच-बीच में सावरकर को सशर्त रिहा करने की बात भी चलती रही, किन्तु सावरकर ने उसे स्वीकार नहीं किया। अन्त में ६ जनवरी १९२४ को उन्हें कारामुक्त कर रत्नागिरि में स्थानबद्ध कर दिया गया।

बम्बई विधान-सभा में सावरकर से प्रतिबन्ध हटाने की माँग चलती रही। उधर, उनके रत्नागिरि पहुँचते ही रत्नागिरि हिन्दू महासभा की स्थापना की गई। उस समय हिन्दू महासभा का उद्देश्य केवल हिन्दुओं को संगठित और सुदृढ़ करना मात्र था। सावरकर ने अपने विचारों के प्रचार के लिये उस मंच का उपयोग किया। रत्नागिरि में स्थानबद्ध रहते हुए सावरकर जी से भेंट करने के लिए देश के अनेक नेता आये; जिनमें प्रमुख थे, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉक्टर केशव बलीराम हेडगेवार, कांग्रेस के महात्मा गाँधी, मुसलमानों के नेता शौकत अली तथा डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर।

रत्नागिरि में सावरकर ने पतित-पावन मन्दिर की प्रतिष्ठा की। उस मन्दिर में उन्होंने समाज-सुधार के अनेक कार्य किये। सर्वजाति सहभोज भी उन्होंने वहाँ करवाया। सावरकर ने देखा कि महार भंगियों के साथ बैठने को तैयार नहीं, भंगी चमारों के साथ नहीं बैठते थे। सवर्णों के साथ बैठकर भोजन करने के लिये तो सभी लालायित रहते थे, किन्तु साथी अछूतों के साथ बैठने के लिये दूसरी जाति को अछूत तैयार नहीं होते थे। भीमराव अम्बेडकर के प्रयत्न उनमें इतनी भी चेतना नहीं जगा पाये। उसके निवारण के लिये सावरकर ने विशाल सर्वजाति सहभोज का आयोजन किया, किन्तु अम्बेडकर उसमें सम्मिलित नहीं हुए। कालान्तर में सहभोज के आयोजकों को अपने नातेदारों का बहिष्कार सहन करना पड़ा था।

रत्नागिरि निवास के दिनों में ही क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह भी छिपकर सावरकर से मिले और उन्होंने '१८५७ का स्वातन्त्र्य समर' के प्रकाशन की अनुमति माँगी। यह घटना १९२८ की है। अखिल भारतीय गोरखा लीग के अध्यक्ष ठाकुर चन्दनसिंह भी सावरकर से भेंट करने के लिए आए। इनके अतिरिक्त डॉ० मुंजे, पत्रकार केलकर, भाई परमानन्द आदि अनेक पूर्व परिचित और अन्यान्य नेता उनसे भेंट करने के लिये रत्नागिरि आते रहे।

सन् १९३७ में जब सरकार द्वारा श्री जमनादास मेहता और धनजीशा कूप का मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किये जाने का प्रस्ताव आया तो उन्होंने कह दिया कि मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित होते ही वे सावरकर की स्थानबद्धता को समाप्त कर देंगे। सरकार ने उसकी शर्त को स्वीकार कर लिया और १० मई १९३७ को सावरकर को स्थानबद्धता से मुक्त कर दिया गया।

रत्नागिरि से मुक्त होते ही सावरकर ने देशव्यापी दौरा किया और सक्रिय राजनीति में प्रवेश की घोषणा कर दी। पूना और बम्बई में उनका अभूतपूर्व भव्य स्वागत किया गया। उसके बाद उन्होंने बम्बई को अपना स्थायी निवास बनाया। १ अगस्त १९३७ को उन्होंने पूना में घोषणा की कि वे डेमोक्रेटिक स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हो रहे हैं, किन्तु उसके तुरन्त बाद ही वे हिन्दू-महासभा में सम्मिलित हो गए। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि वे भारत में हिन्दू राज के पक्ष-पाती हैं। उसके बाद सावरकर स्थान-स्थान पर जाकर हिन्दुओं को जागृत करने का कार्य करने लगे।

सावरकर को हिन्दू-महासभा का अध्यक्ष मनोनीत किया गया था। ३० दिसम्बर १९३० को अहमदाबाद के अधिवेशन में सावरकर ने 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या की और गाँधीजी के इस कथन को 'मुसलमानों को साथ लिये बिना स्वराज्य मिलना असम्भव है', उन्होंने तुष्टीकरण कहते हुए उनकी निन्दा की और मुसलमानों को चेतावनी देते हुए कहा, 'यदि तुम साथ आते हो तो तुमको साथ लेकर, यदि तुम नहीं आते तो तुम्हारे बिना अकेले ही, और तुम हमारा विरोध करोगे तो तुम्हारे उस विरोध को कुचलते हुए, हम हिन्दू देश की स्वाधीनता का युद्ध निरन्तर लड़ते रहेंगे।'

६ फरवरी १९३८ को सावरकर का दिल्ली रेलवे स्टेशन पर भव्य स्वागत किया गया और स्टेशन से ही उनकी शोभा यात्रा निकाली गई। दिल्ली के बाद वे उत्तरभारत के अन्य अनेक प्रमुख नगरों में भी गये। सावरकर सदा 'राजनीति का हिन्दूकरण और हिन्दू का सैनिकीकरण' करने पर बल देते रहे। उद्योगपति बिड़ला की ओर से हिन्दू महासभा को कुछ अनुदान मिलता था। बिड़ला गाँधी भक्त थे। उन्होंने सावरकर से आग्रह किया कि वे अपने भाषणों में गाँधी जी की कटु आलोचना न करें। उसके उत्तर में सावरकर ने कहा—'मैं जो उचित समझता हूँ, अर्थात् जो उचित है, मैं वही कहता हूँ, यदि गाँधी की आलोचना सहन नहीं कर सकते तो हिन्दू-महासभा को दी जाने वाली अपनी अनुदान राशि बन्द कर सकते हैं।'

२२ जून १९४० को नेताजी सुभाषचन्द्र बोस सावरकर से मिलने के लिये आए थे। भेंट के अन्त में नेताजी ने कहा था, 'हिन्दुओं के एकमात्र नेता सावरकर हैं।' १९४१ में ब्रिटिश सुधार आयुक्त हडसन ने भी सावरकर से भेंट की थी। १९४२ के मार्च में राजगोपालचारी की योजना का सावरकर ने घोर विरोध किया। 'क्रिप्स-योजना' का भी सावरकर ने विरोध किया। राजाजी की भारत विभाजन की योजना के विरोध में सावरकर ने अक्टूबर १९४३ में 'सत्यार्थ प्रकाश' पर प्रतिबन्ध की मुस्लिम-लीग की माँग का कठोर शब्दों में विरोध किया था। १९४५ के मार्च में उनके बड़े भाई गणेश सावरकर के निधन से उनको आघात लगा और उनका स्वयं का स्वास्थ्य भी गिरता गया। जून १९४५ में हिन्दू-महासभा की कार्यकारिणी में सावरकर के आग्रह पर लार्ड वेवल के शिमला सम्मेलन के विरोध का प्रस्ताव पारित किया गया। १९४६ के निर्वाचनों में सावरकर ने नारा दिया 'कांग्रेस को वोट, पाकिस्तान को वोट।' अगस्त १९४६ में लीग के 'सीधी कार्यवाही' से उत्पन्न हिन्दुओं की दयनीय स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सावरकर ने कहा था 'गुण्डों को उन्हीं की भाषा में जब तक उत्तर नहीं दिया जायेगा वे विराम नहीं लेंगे।' मार्च १९४७ में लार्ड माउन्टेबन के भारत पहुँचने पर सावरकर ने उसको तार देकर कहा था, 'स्वतन्त्रता देने के विषय पर सैद्धान्तिक निर्णय होने से पूर्व हिन्दू-सभा और मास्टर तारासिंह से वार्तालाप किया जाये।' सावरकर ने ३ जून १९४७ की घोषणा का घोर विरोध किया था।

आखिर भारत खण्डित हो ही गया। देशभर में व्यापक दंगे हुए। महात्मा गाँधी ने पाकिस्तान को ५५ करोड़ दिलवाने के लिये आमरण अनशन किया। ३० जनवरी १९४८ को गाँधी जी का वध हो गया और ३१ जनवरी को कांग्रेसी गुण्डों ने 'सावरकर सदन' पर आक्रमण दिया। इसके साथ ही हिन्दू महासभा तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बन्धित

सभी स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना एवं स्वतन्त्र भारत की सरकार द्वारा उनके कार्यकत्ताओं को बन्दी बनाये जाने का क्रम चला। ५ फरवरी को सावरकर को भी बन्दी बना लिया गया। उन पर गाँधी-हत्या का आरोप लगाया गया।

आई० सी० एस० अधिकारी श्री आत्माचरण इस अभियोग के न्यायाधीश नियुक्त हुए और दिल्ली के लालकिले में यह अभियोग चलता रहा। अभियोग पक्ष ने अपने समर्थन में १४९ साक्षी प्रस्तुत किये। २०-११-४८ को सावरकर ने अपना वक्तव्य दिया और कहा कि उनको जानबूझ कर अभियोग में मिथ्या फँसाया गया है। ५२ पृष्ठ का उनका वक्तव्य स्वयं में एक महान् दस्तावेज था। मोराराजी देसाई भी एक गवाह थे जिनके कथन की सावरकर ने अपने वक्तव्य में बहुत खिल्ली उड़ाई। अभियुक्तों की ओर से कोई साक्ष्य अथवा साक्षी प्रस्तुत नहीं किये गये। १० फरवरी १९४९ को न्यायाधीश ने सावरकर के विषय में निर्णय देते हुए कहा था, 'उन पर जो अभियोग लगाया गया है, उसमें वे किसी प्रकार भी दोषी नहीं पाये जाते।'।

दोष मुक्त होते ही, पुलिस ने कानों-कान भनक तक न होने दी और उनको सीधे बम्बई पहुँचा दिया। उसी वर्ष १९ अक्टूबर को उनके छोटे भाई नारायण सावरकर का निर्धन हो गया। पूर्वी पाकिस्तान अर्थात् आज के बंगलादेश में मार्च ५० में हिन्दुओं का संहार होने लगा तो सावरकर ने इसके विरोध में अनेक वक्तव्य प्रसारित किये। नेहरू के मित्र लियाकत इससे रुष्ट हुए तो नेहरू ने ४ अप्रैल को उन्हें बन्दी बना लिया। बहुत संघर्ष करने पर जुलाई में उनको मुक्त किया गया। १९५२ में भारत गणतन्त्र के प्रथम निर्वाचन में हिन्दू-महासभा को तीन स्थान प्राप्त हुए थे। मई १९५२ में सावरकर ने 'अभिनव भारत' का समापन कर दिया। १० मई ५३ को उन्होंने नासिक में शहीद स्मारक का उद्घाटन किया। ५ जून १९५४ को नेहरू ने चीन के चाउ एन लाई के साथ कई समझौतों पर हस्ताक्षर किये तो सावरकर ने देशवासियों को सावधान करते हुए कहा यह महाशक्तियों की भारत को दुर्बल करने की चालें हैं। सन् १९५५ में उन्होंने हिन्दू महासभा के जोधपुर अधिवेशन को सम्बोधित किया। उसी वर्ष गोआ मुक्ति-आन्दोलन के वीर जब उनसे भेंट करने गये तो सावरकर ने कहा था, 'सशस्त्र सैन्य कार्यवाही से ही गोआ मुक्त होगा। सत्याग्रह की अपेक्षा शस्त्राग्रह से ही सफलता मिलेगी।'।

अक्टूबर १९५६ में अम्बेडकर के बौद्ध बनने पर सावरकर ने कहा, 'बौद्ध बन कर अम्बेडकर ने यही सिद्ध किया है कि वे हिन्दू ही हैं।' १९५७ में १८५७ के स्वातन्त्र्य समर की शताब्दी मनाई गई। नई दिल्ली की विशाल जनसभा को सावरकर ने सम्बोधित किया। फरवरी १९८८ में पूना में सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने सावरकर की प्रतिमा का अनावरण किया था। २८ मई १९५८ को बम्बई में विशाल स्तर पर सावरकर की ७५ वीं वर्षगाँठ मनाई गई। मार्च १९६० से सावरकर का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया। अक्टूबर १९६२ के चीनी आक्रमण के समय सावरकर ने कहा था कि सैनिकीकरण के उनके कथन को स्वीकार किया होता तो आज यह मुँह की न खानी पड़ती। ८ नवम्बर १९६३ को पत्नी का निधन हो गया।

सन् १९६६ में तो सावरकर का स्वास्थ्य बहुत ही गिर गया था। उनको भी आभास

होने लगा कि मृत्यु निकट है। उन्होंने औषधि लेनी छोड़ दी। ३ फरवरी १९६६ से उन्होंने भोजन भी छोड़ दिया। २६ फरवरी की प्रातः तक वे यों ही जीवनधारण किये रहे, किन्तु ११ बजकर १० मिनट पर उनके प्राण पखेरू इस संसार से कूच कर गये। उस समय उनकी आयु ८३ वर्ष की थी।

वीर सावरकर हुतात्मा, संकल्प में ढले योद्धा और कर्मशूर थे। अपने शौर्याकांक्षा में जैसे अद्वितीय थे, वैसे ही कर्मक्षेत्र में भी बेजोड़ थे। यह उनकी चारित्रिक विशेषता ही थी कि संतुष्ट रहकर भी उनकी मनस्विता कभी विचलित नहीं हुई और उनके मन का महासागर कभी मर्यादाच्युत नहीं हुआ।

समस्त संघर्षपूर्ण जीवन में सावरकर जी ने अर्धशतक के लगभग पुस्तकों का सृजन कर मराठी साहित्य की श्रीवृद्धि की। वे एक साथ सफल कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, इतिहासकार और निबन्धकार थे। अतः मराठी के अग्रणी साहित्यकारों में उनकी गणना होती है। हिन्दी एवं अनेक प्रांतीय भाषाओं में उनकी पुस्तकों के अनुवाद हो चुके हैं। उनके हिन्दी में अनूदित प्रमुख ग्रन्थ हैं—हिन्दुत्व, हिन्दु पदपादशाही, मेरा आजीवन कारावास, १८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य समर, कालापानी, क्रांतिकारी चिट्ठियाँ, प्रतिशोध तथा छः स्वर्णिम पृष्ठ (तीन भाग)। उनके द्वारा लिखित समग्र साहित्य को दस खण्डों में हिन्दी में प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत पाँच खंड प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी साहित्य-सेवाओं का सम्मान करते हुए उन्हें महाराष्ट्र प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया। नागपुर विश्वविद्यालय ने उनके मराठी-साहित्य से प्रभावित होकर उन्हें 'डॉक्टरेट' की उपाधि से विभूषित किया।



पं. मदनमोहन मालवीय कट्टर हिन्दू थे। हिन्दू सिद्धान्तों की सजीव मूर्ति थे। अपने युग के प्रधान नेताओं में थे जिन्होंने हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्थान को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कराया। उनके विषय में गाँधी जी ने कहा था, 'मैं तो मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। यौवनकाल से आज तक उनकी देशभक्ति का प्रवाह अविच्छिन्न है। मैं उनको सर्वश्रेष्ठ हिन्दू मानता हूँ।'

मालवीय जी समस्त कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज और मूर्तिपूजन को हिन्दू धर्म का मौलिक अंग मानते थे। आचार में अत्यन्त संयम और विचारों में परम उदारता के पक्षधर थे। 'अखिल भारतीय सनातन-धर्म सभा' के संस्थापक थे। 'हिन्दू महासभा' के जन्मदाता थे। 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' उनकी शिक्षा और साहित्य-सेवा का अमिट शिलालेख है। 'सनातन धर्म कॉलिजों' की स्थापना उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रचार-केन्द्र की दृष्टि से की। अनेक पत्र तथा पत्रिकाओं के प्रवर्तन, सम्पादन तथा उनके लिए लेखन द्वारा हिन्दू-धर्म की यशः पताका फहराई।

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय का जन्म २५ दिसम्बर १८६१ को तीर्थराज प्रयाग में हुआ था। उनके पूर्वज मालवा से प्रयाग आधार बसे थे। उनके पिता श्री ब्रजनाथ पक्के सनातन धर्मी तथा आस्तिक थे। उनका भगवत्-विश्वास अखंड था। श्रीमद्भागवत की कथा या पूजा-पाठ ही आजीविका थी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। गवर्नमेंट स्कूल से मैट्रिक किया। मयूर सेंट्रल कॉलिज, प्रयाग से सन् १८८१ में एफ. ए. तथा कलकत्ता जाकर सन् १८८४ में बी. ए. किया। सन् १८९१ में एल-एल. बी. की परीक्षा पास की।

मैट्रिक पास करने के बाद ही मिर्जापुर के प्रख्यात सनातनी पंडित श्री नन्दराम की कन्या कुन्दनदेवी से मालवीय जी का विवाह हुआ। बी. ए. करने के बाद वे गवर्नमेंट स्कूल में अध्यापक हो गए। अध्यापन के साथ-साथ लेखन-कार्य भी शुरू कर दिया। बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी प्रदीप' में प्रायः उनके लेख छपते थे।

धर्मपूर्ण आचरण

कर्मकाण्ड पर पूर्ण विश्वास होने के कारण उसके सिद्धान्तों के अनुसार पंडित जी ने अपने जीवन को ढाल रखा था। सन् १९३१ में जब वे गाँधी जी के साथ इंग्लैंड गए तो अपने साथ गंगाजल, मिट्टी तथा दातुन जैसी जीवनोपयोगी चीजें साथ ले गए थे। इतना ही नहीं, लंदन से लौटने पर उन्होंने समुद्र-यात्रा का सविधि प्रायश्चित्त किया।

वे अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध थे। स्पर्शास्पर्श को मानने वाले थे। गऊ के भक्त

थे। 'स्वदेशी' के कट्टर हिमायती थे। पुराणों पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। सम्पूर्ण भागवत पुराण उन्हें कण्ठस्थ था।

राजनैतिक जीवन

वे इलाहाबाद नगर महापालिका के 'वाइस चेयरमैन' रहे। सन् १९०१ में अंग्रेज सरकार ने उन्हें प्रांतीय व्यवस्थापिका का सदस्य चुना। सन् १९१० में 'इम्पीरियल कौंसिल' का सदस्य बनाया गया। इस कौंसिल के वे १९२९ तक सदस्य रहे। जब जरूरत पड़ी सरकार के विरुद्ध बोलने में भी वे नहीं चूके।

राजनीति के क्षेत्र में मालवीय जी ने कांग्रेस में सक्रिय भाग लिया। १९०९ की लाहौर-कांग्रेस में 'नरमदल' के सभापति चुने गए। वे कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में से थे। देश की स्वाधीनता के संग्राम में वे अग्रणी रहे। १ अगस्त, १९३० को बम्बई में सरदार पटेल आदि नेताओं के साथ मालवीय जी को सत्याग्रह आंदोलन में गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। अगस्त, १९३१ में गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए मालवीय जी गाँधी जी के साथ लन्दन गए।

मालवीय जी कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेसी नेताओं की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति के कारण भारी घुटन अनुभव कर रहे थे। मई, १९३४ में पटना में हुए कांग्रेस अधिवेशन में साम्प्रदायिक निर्णय पर कांग्रेसी नेताओं के रुख से उन्हें भारी दुःख हुआ। मालवीय जी तथा श्री एम. एस. अणे ने इस तुष्टीकरणनीति के विरोधस्वरूप बैठक से बहिर्गमन कर दिया। उन्होंने चेतावनी दी कि कांग्रेस की यह मुस्लिम-पोषक नीति राष्ट्र के लिए अत्यंत घातक सिद्ध होगी।

पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन और प्रवर्तन

'सन् १८८६ ई. में कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अवसर पर कालाकांकर के राजा रामपालसिंह से उनका परिचय हुआ तथा मालवीयजी की भाषा से प्रभावित होकर राजा साहब ने उन्हें दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन बनने पर राजी कर लिया। मालवीयजी के लिए यह एक यशस्वी जीवन का शुभ श्रीगणेश सिद्ध हुआ।

सन् १९०५ ई. में मालवीय जी की हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना प्रत्यक्ष रूप धारण कर चुकी थी। इसी के प्रचार की दृष्टि से उन्होंने १९०७ ई. में 'अभ्युदय' की स्थापना की। मालवीय जी ने दो वर्ष तक इसका सम्पादन किया। प्रारम्भ में यह पत्र साप्ताहिक रहा, फिर सन् १९१५ ई. से दैनिक हो गया। 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की स्थापना का श्रेय भी मालवीय जी को ही है। 'लीडर' के हिन्दी संस्करण 'भारत' का आरम्भ सन् १९२९ में हुआ और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का हिन्दी-संस्करण 'हिन्दुस्तान' भी वर्षों से निकल रहा है। इसकी मूल प्रेरणा में मालवीय जी ही थे। 'लीडर' के एक वर्ष बाद ही मालवीय जी ने 'मर्यादा' नामक पत्र निकलवाने का प्रबन्ध किया था। इस पत्र में भी वे बहुत दिनों तक राजनीतिक समस्याओं पर निबन्ध लिखते रहे। यह पत्रिका कुछ दिनों तक ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी से प्रकाशित होती रही। २० जुलाई, १९३३ ई. को मालवीय जी की संरक्षता में 'सनातन धर्म' नामक पत्र निकला।' (हिन्दी-साहित्य कोश भाग २, पृष्ठ ४२४)

धीरे-धीरे उनका क्षेत्र विस्तृत होने लगा। पत्र-सम्पादन से धार्मिक संस्थाएँ और इनसे सार्वजनिक सभाएँ विशेषकर हिन्दी के समर्थनार्थ और यहाँ से राजनीति की ओर। इस क्रम ने उनसे सम्पादन-कार्य छुड़वा दिया और वे विभिन्न संस्थाओं के सदस्य, संस्थापक अथवा संरक्षक के रूप में सामने आने लगे।

हिन्दी-सेवा

मालवीय जी की हिन्दी की महती सेवा यह है कि उन्होंने उत्तर-प्रदेश की अदालतों और दफ्तरों में हिन्दी को व्यवहार-योग्य भाषा के रूप में स्वीकृत कराया। १८९० में हिन्दी की यह लड़ाई शुरू की थी और दस वर्ष के निरन्तर संघर्ष के बाद सन् १९०० में गवर्नर ने उनकी बात मानी। इस प्रकार हिन्दी को सरकारी कामकाज में स्थान मिला।

सुश्री ज्ञानवती दरबार मालवीय जी की हिन्दी सेवाओं का चित्रण करते हुए लिखती हैं—‘काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति की स्थिति में उपाधिवितरणोत्सवों पर प्रायः वे हिन्दी में ही भाषण करते थे। उन्होंने ‘हिन्दी प्रकाशन मण्डल’ द्वारा उच्च शिक्षा के लिए हिन्दी में पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था की।’

सन् १८९३ ई. में मालवीय जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में पूर्ण योग दिया। वे सभा के प्रवर्तकों में थे और आरम्भ से ही सभा को उनकी सहायता का सम्बल रहा। सभा के प्रकाशन, शोध और हिन्दी प्रचार-कार्य में मालवीय जी की रुचि बराबर बनी रही और अन्तिम दिन तक वे उसका मार्गदर्शन करते रहे।

हिन्दी-आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता होने के कारण मालवीय जी पर हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि का दायित्व भी आ गया। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सन् १९१० ई. में उनकी सहायता से प्रयाग में ‘अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन’ की स्थापना हुई। उसी वर्ष अक्तूबर में सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके सभापति मालवीय जी थे। मालवीयजी विशुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे और हिन्दी हिन्दुस्तानी को एक नहीं मानते थे।

(हिन्दी साहित्य-कोश खंड : २, पृष्ठ ४२४)

शिक्षा के क्षेत्र में

आपने सन् १९१६ ई. में काशी हिन्दूविद्यालय की स्थापना की और कालान्तर में एशिया का एक बड़ा विश्वविद्यालय बन गया। वास्तव में यह एक ऐतिहासिक कार्य ही उनकी शिक्षा और साहित्य-सेवा का अमिट शिलालेख है। इसके अतिरिक्त ‘सनातन धर्म सभा’ के नेता होने के कारण देश के विभिन्न भागों में जितने भी सनातन धर्म कॉलेजों की स्थापना हुई, वह मालवीय जी की सहायता से ही हुई। इनमें कानपुर, लाहौर, अलीगढ़ आदि स्थानों के सनातन धर्म कॉलेज उल्लेखनीय हैं।

‘हिन्दू धर्मोपदेश’

पुस्तक के नाम पर मालवीय जी की लिखी एक ही पुस्तक है, ‘हिन्दू धर्मोपदेश’। इसके कुछ विचार विचारार्थ प्रस्तुत हैं—

‘सब प्राणियों के उपकार के लिए, बुराई करने वालों को दबाने और दण्ड देने के लिए,

धर्म-स्थापना के लिए, धर्म के अनुसार संगठन-मिलाप कर गाँव-गाँव में सभा करनी चाहिए, गाँव-गाँव में कथा बिठानी चाहिए, गाँव-गाँव में पाठशाला और अखाड़ा खोलना चाहिए, पर्व-पर्व पर मिलकर महोत्सव मनाना चाहिए। सब भाइयों को मिलकर अनाथों, विधवाओं, मन्दिरों और गौमाता की रक्षा करनी चाहिए तथा इन सब कामों के लिए दान देना चाहिए। उन जीवों को नहीं मारना चाहिए, जो किसी पर चोट नहीं करते। मारना उनको चाहिए, जो आततायी हों अर्थात् स्त्रियों पर या किसी दूसरे के धन या प्राण पर वार करते हों या जो किसी के घर में आग लगाते हों। यदि ऐसे लोगों को मारे बिना अपना या दूसरों का प्राण या धन न बच सके, तो उनको मारना धर्म है। स्त्रियों और पुरुषों को निडरता, सच्चाई, चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य, धीरज और क्षमा का सदा अमृत के समान सेवन करना चाहिए। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि भले कर्मों का फल भला और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है और कर्मों के अनुसार ही प्राणियों को बार-बार जन्म लेना पड़ता है या मोक्ष मिलता है। घट-घट में बसने वाले भगवान् विष्णु का, सर्वव्यापी ईश्वर का, सुमिरन करना चाहिए, जिनके समान दूसरा कोई नहीं—जोकि एक ही अद्वितीय हैं, जो दुखों और पापों के हरने वाले शिव स्वरूप हैं, जो सब पवित्र वस्तुओं से अधिक पवित्र, जो सब मंगल कामों के मंगलस्वरूप हैं, जो सब देवताओं के देवता है और जो समस्त संसार के आदि, सनातन, अज, अविनाशी पिता है।’

धर्म-सेवा

सन् १९०६ ई. में प्रयाग के कुम्भ के अवसर पर उन्होंने ‘सनातन धर्म’ का विराट् अधिवेशन कराया, जिसमें उन्होंने ‘सनातन धर्म-संग्रह’ नामक एक बृहत् ग्रन्थ तैयार कराकर महासभा में उपस्थित किया। कई वर्ष तक उस ‘सनातन धर्म सभा’ के बड़े-बड़े अधिवेशन मालवीय जी ने कराये। अगले कुम्भ में त्रिवेणी के संगम पर इनका ‘सनातन धर्म सम्मेलन’ भी इस सभा से मिल गया। सनातन धर्म सभा के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ काशी से ‘सनातन धर्म’ नामक साप्ताहिक भी प्रकाशित होने लगा और लाहौर से ‘मिश्रबन्धु’ निकला। यह सब मालवीय जी के प्रयत्नों का ही फल था।

विद्यार्थी-जीवन में हिन्दू-सिद्धान्तों के आचरण का आरम्भ हो, नालन्दा तथा तक्षशिला जैसी आदर्श महान् शिक्षण संस्थाएं देश को गौरवान्वित करें, हिन्दू नर और नारी उच्च शिक्षा प्राप्त कर देश और धर्म के भाग्य-विधाता बनें, इस हेतु ‘काशी हिन्दू विश्वविद्यालय’ की स्थापना की।

अंग्रेजों से प्रोत्साहन पाकर मुस्लिम गुण्डों द्वारा हिन्दुओं पर किए गए आक्रमणों के समाचारों से महामना के हृदय को भारी वेदना होती थी। उन्होंने अनुभव किया कि अंग्रेज एक ओर मुसलमानों में साम्प्रदायिकता पनपा कर हिन्दुओं पर आक्रमण कराते हैं तो दूसरी ओर वे शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से हिन्दू धर्म पर आघात करते जा रहे हैं। लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द तथा मालवीय जी ने हिन्दू संगठन की महती आवश्यकता अनुभव करते हुए सन् १९०७ में ‘हिन्दू सभा’ की स्थापना की। सन् १९१४ में इसे ‘अखिल भारतीय हिन्दू-महासभा’ का नाम देकर देशव्यापी विस्तार किया गया।

‘अखिल भारतीय हिन्दू-महासभा’ का प्रथम अधिवेशन २० अगस्त, १९२३ को मालवीय जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। पहली बार हिन्दू समाज के विभिन्न सम्प्रदायों, सनातनधर्म, आर्यसमाज, सिख, जैन व बौद्ध नेता एक मंच पर इकट्ठे हुए थे तथा उन्होंने हिन्दू-संगठन की आवश्यकता पर बल दिया था।

इसके बाद बेलगाँव में आयोजित हिन्दू-सभा के अधिवेशन में लाला लाजपतराय, देशबन्धु चित्तरंजनदास, स्वामी श्रद्धानन्द, डॉ. मुँजे जैसे महान् नेताओं ने महामना के हिन्दू-संगठन के प्रयास को ‘राष्ट्र-रक्षा का प्रयास’ की संज्ञा दी थी।

दिसम्बर, १९३५ में पूना में आयोजित हिन्दू-महासभा के अधिवेशन में मालवीय जी ने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—

‘जो लोग भूल से, बलात्कार से या प्रलोभन से विधर्मी हो गए हैं, उन्हें मंत्र-दीक्षा के द्वारा हिन्दू समाज में ग्रहण कर लिया जाए। हिन्दू नर-नारियों की गुण्डों से रक्षा के लिए प्रत्येक हिन्दू को स्वयं शक्तिशाली व निर्भीक होना पड़ेगा। प्रत्येक हिन्दू-युवक को सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए।’

हिन्दू-संगठन तथा शारीरिक शक्ति व अनुशासन भावना उत्पन्न करने के लिए उन्होंने महावीर दल स्थापित कराया तथा गोमाता की हत्या से दुखित होकर स्थान-स्थान पर गौशालाओं की स्थापना कराई।

इतना ही नहीं, गोलमेज कांफ्रेंस में जब मालवीय जी इंग्लैंड गए थे, वहाँ भी उन्होंने हिन्दू-धर्म संबंधी अनेक विद्वत्तापूर्ण भाषण दिए।

वे हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों—सनातन धर्म, आर्य समाज, सिख, बौद्ध तथा जैन की एकता के पक्षधर थे। उनका कहना था कि सब अपने-अपने विशेष धर्म (मत) का पालन करते हुए एक-दूसरे के साथ आदर और प्रेम का व्यवहार करें। अपने विश्वास में दृढ़ता रखते हुए पर-सम्प्रदाय निन्दा से बचना चाहिए। मत-भेद में सहनशीलता होनी चाहिए।

अन्तिम संदेश

मालवीय जी ने अपने एक सन्देश में (जो कि अन्तिम था) कहा था—

‘मैं अनुभव करता हूँ कि मानवता संकट में है। हिन्दू-संस्कृति और धर्म भी खतरे में है। आज एक असाधारण वस्तुस्थिति उत्पन्न हो गई है। हिन्दुओं को चाहिए कि सर्वसाधन-सम्पन्न होकर वे संगठित हों जाएँ और अपनी रक्षा की समुचित व्यवस्था कर लें। आत्मरक्षा और आत्मसंयम ही हमारा व्रत होना चाहिए।

वर्षों से हिन्दू जी-जान से अथक परिश्रम करते रहे कि हिन्दू ‘मुस्लिम’ एकता कायम हो। वे सहयोग भी करते रहे और सहिष्णु भी बने रहे, किन्तु मुझे इस बात का दुःख है कि अधिकांश मुसलमानों ने सहिष्णुता का अर्थ हिन्दुओं की कमजोरी समझा। वे हिन्दुओं से सहयोग करने को बिल्कुल तैयार नहीं हैं। उन लोगों के प्रति हम दया कदापि नहीं दिखा सकते, जो हिन्दुओं को शान्तिपूर्वक रहने देना नहीं चाहते। यदि हिन्दू संगठित नहीं हुए, तो उन्हें कोई बचा नहीं सकता। मैं यह वक्तव्य कोई अशान्तचित्त से नहीं, अपितु बहुत सोच-विचार कर तथा इतिहास व स्थिति के गहन अध्ययन के बाद दे रहा हूँ।

मातृभूमि, धर्म, संस्कृति और अपने हिन्दू-समाज के प्रति हिन्दू नेताओं के कर्तव्य-पालन का समय आ गया है। यह परमावश्यक हो गया है कि हिन्दू-संगठित होकर, निःस्वार्थ, निर्भीक और देशभक्त कार्यकर्ताओं का दल तैयार करने के लिए सचेष्ट हो जाएँ। साथ ही, विभिन्न जातियों का भेदभाव और अन्तर पूर्णतः भुलाकर हिन्दुओं को एकताबद्ध होना होगा, सभी हिन्दुओं का अस्तित्व तथा उनकी संस्कृति और आदर्श अक्षुण्ण बनाए रखे जा सकते हैं।'

अपना अन्तिम सन्देश प्रसारित करने के उपरान्त मालवीय जी महाराज रात-दिन हिन्दुओं की दुर्दशा पर घुलने लगे। वे हर क्षण इसी विचार में डूबे रहते कि हिन्दुओं की रक्षा कैसे हो? उन्हें शक्तिशाली व संगठित कैसे बनाया जाए? वे एकान्त में हिन्दुओं के उत्पीड़न पर नौ-नौ धार आँसू बहाकर रोते रहते थे।

उन्हीं दिनों हिन्दू-महासभा के नेता धर्मवीर डॉ. मुंजे हिन्दू-विश्वविद्यालय गए, तो कुछ उद्दण्ड छात्रों ने उन्हें साम्प्रदायिक बताकर उनका अपमान कर दिया। जब मालवीय जी को इस घटना का पता चला तो वे फूट-फूट कर रो पड़े। रोते हुए उन्होंने कहा, 'मैंने हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हिन्दुत्व पर अभिमान करने वाले छात्र निकालने के लिए की थी, हिन्दू-नेताओं का अपमान करने वाले उद्दण्ड छात्र निकालने के लिए नहीं।'

इधर, नौआखाली और ढाका के लोमहर्षक हिन्दू हत्याकांड तथा हिन्दू महिलाओं पर हुए अत्याचार-अनाचार से मालवीय जी को आघात लगा। वे इस आघात को सह न सके। फलतः १२ नवम्बर १९४६ को उन्होंने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

'रग-रग हिन्दू मेरा परिचय' की साक्षात् प्रतिमा, हिन्दू जीवन, संस्कृति और सभ्यता के विकास में अपना रोम-रोम तथा क्षण-क्षण अर्पित करने वाले, हिन्दू-चिंतन के विद्वान् वक्ता और लेखक, हिन्दी के प्रबल समर्थक, भाषा और साहित्य के विकास में क्रियात्मक योग देने वाले, स्वतंत्रता संग्राम के महान् सेनानी मालवीय जी मर कर भी अमर हो गए। समस्त हिन्दू समाज के 'प्रातः स्मरणीय' बन गए।



(१९) संघ-मन्त्र के द्रष्टा : डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार

बीसवीं शताब्दी का यह युधिष्ठिर वस्तुतः अजातशत्रु था। महान् मानव-शिल्पी था। हिन्दू जीवन में जागरण का शंखनाद करने वाला ऋषि था। राष्ट्र-चिति की स्वयंभू अभिव्यक्ति था।

भारतीय इतिहास के देदीप्यमान नक्षत्र प्रातःस्मरणीय डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार का जीवन राष्ट्र-भक्ति की प्रेरणा का अखंड स्रोत है। 'क्रियासिद्धिः सत्त्वं भवति महतां नोपकरणे' का सुभाषित उन पर पूरी तरह घटित होता है। मातृभूमि के उत्थान की भावना की अखंड ज्योति उनके मन-मन्दिर में जीवन-पर्यन्त ज्योतित रही।

व्यक्ति-व्यक्ति पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के सत्संस्कार अंकित कर उन्हें राष्ट्र की समष्टि में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने के गुणों के आधार पर देशव्यापी अनुशासित एवं संघटित शक्ति का उदय करना डॉ. हेडगेवार की मातृभूमि के चरणों में पुष्पांजलि थी। सच्चाई तो यह है कि कोई जलने वाला दीप ही दीपमालिका प्रज्वलित कर सकता है। कोई पारस ही लोहे को सोने के रूप में परिणत कर सकता है। डॉक्टर हेडगेवार वस्तुतः वह दिव्य तेज थे, जिन्होंने सुप्त हिन्दू जाति में 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रत्व' है की चेतना जागृत कर उसे सुदृढ़ संगठित शक्ति के रूप में खड़ा कर दिया।

सन् १९२५ ई. से १९५० ई. तक देश में आने वाले झंझावतों में यदि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ न होता, तो हिन्दू जाति और भारत-माता की क्या दुर्दशा होती, किस रूप में यह अपना अस्तित्व बनाए रखती, इसकी कल्पना भी भयावह है। इसलिए हिन्दू-मात्र राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जन्मदाता का चिर-ऋणी रहेगा। भारत के इतिहास में डॉ. केशवराव बलिराम हेडगेवार का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

त्रेता युग में भगवान् श्री राम ने वानर जाति को संगठित कर लंकाधिपति राक्षसराज रावण पर विजय प्राप्त की थी; द्वापर युग में भगवान् श्री कृष्ण ने ग्वाल-बालों का संघटन कर आततायी एवं क्रूर शासक निज मातुल कंस का वध कर जनता को सुख और ऐश्वर्य प्रदान किया; मुगलकाल में छत्रपति शिवाजी ने अपने बाल-सहयोगियों का संगठन कर मुगल बादशाह औरंगजेब को नाकों चने चबवाए; डॉ. हेडगेवार ने अंग्रेजों के विदेशी शासन में निजी दरिद्रता, शासन-भय से बड़ों की उदासीनता, परिस्थिति की प्रतिकूलता, पग-पग पर बाधाएँ, विरोध, उपेक्षा और उपहास के बावजूद इतने विशाल, विविधतायुक्त एवं विशृंखलित हिन्दू समाज में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में लाखों ध्येयनिष्ठ, देशभक्त एवं स्वाभिमानपूर्ण हिन्दुओं (स्वयं-सेवकों) का संगठन खड़ा करके वही कार्य सम्पन्न किया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के रूप में डॉ. हेडगेवार ने अपने जीवन की समग्र तपस्या का फल हिन्दू समाज के चरणों में अर्पित कर दिया। परिणामतः उनके द्वारा प्रज्वलित ज्योति से ज्योतित हो सहस्रों प्रचारक राष्ट्र-हित के लिए संन्यास लेकर मातृभूमि की सेवा में अपना जीवन-पुष्प अर्पित कर रहे हैं। भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की शाखाएँ तथा विश्व के अनेक देशों में 'भारतीय स्वयंसेवक संघ' की शाखाएँ प्रातः और सायं हिन्दुओं में संगठन और राष्ट्रहित की भावनाएँ जागृत कर रही हैं।

परिवार-परिचय

विक्रम-संवत् १९४६ की वर्ष-प्रतिपदा (१-४-१८८९) के पावन दिन डॉ. हेडगेवार का जन्म नागपुर में एक निर्धन ब्राह्मण कुल में हुआ। पिताजी का नाम श्री बलिराम पंत और माता का नाम श्रीमती रेवतीबाई था। उनके दो अग्रज सर्वश्री महादेव और सीताराम थे। उनकी तीन बहनें थीं—सर्व श्रीमती सरु, तजु और रंगु। कुल-परम्परा के अनुसार श्री बलिराम पंत उपजीविका के लिए पौरोहित्य तथा कर्तव्य समझकर विद्यादान, दोनों ही करते थे। कुछ काल पश्चात् उन्होंने भोजन के लिए यजमानों के घरों में जाना छोड़ दिया। हाँ, कुछ निश्चित घरों से 'सीधा' (आमान्) वे स्वीकार करते थे।

डॉक्टर जी के अग्रज महादेवजी अखाड़े के प्रेमी थे, अतः यह शौक बालक केशव में भी उत्पन्न हुआ। घर में ही अखाड़ा था। समवयस्क शरारती बच्चों को पीटना और मार न खाकर आना, यह उसका स्वभाव बन गया। इस प्रवृत्ति के प्रेरक थे अग्रज, जिनके कठोर अनुशासन में रहकर उनमें यह प्रवृत्ति जागृत हुई।

विधिवत् पाठशाला में शिक्षा प्रारम्भ हुई। घर पर स्तोत्र, श्लोक, रामरक्षा आदि के मंत्र सीखने को मिले। यज्ञोपवीत संस्कार होने पर संध्या, पूजा, रुद्रीपाठ आदि ब्रह्मकर्म का दैनिक शिक्षण आरम्भ हुआ।

देश-प्रेम, परिश्रम और साहस : स्वाभाविक गुण

देश-भक्ति उनमें जन्मजात थी और विदेशी शासन की पीड़ा उन्हें बचपन से ही त्रस्त करने लगी। २२ जून, १८९७ को महारानी विक्टोरिया के राज्यारोहण के साठवें वर्षदिन पर स्कूल में मिली मिठाई न खाकर उन्होंने कूड़े के ढेर में यह कहकर फेंक दी, 'भौंसले के राज्य को जीतने वाले राजा के समारोह का आनन्द कैसा?' इसी प्रकार एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण के अवसर पर 'एम्प्रेस मिल' की ओर से की गई विशाल आतिशबाजी देखने से इसलिए इंकार कर दिया कि 'विदेशी राजा का राज्यारोहण-उत्सव मनाना हमारे लिए लज्जा का विषय है।'।

इसी प्रकार सीतावर्डी के किले पर अहर्निश फहराने वाले 'यूनियन जैक' के स्थान पर छत्रपति शिवाजी का भगवाध्वज फहराना चाहिए, यह विचार आने पर उन्होंने बड़े गुरुजी के घर से किले तक सुरंग खोदनी आरम्भ कर दी। गुरुजी को जब यह ज्ञात हुआ तो वह कार्य बन्द हो गया। कार्य तो बन्द हो गया, किन्तु इससे केशव के बाल-मन में विद्यमान उत्कट देश-प्रेम की झलक अवश्य मिल गई।

तीनों भाई धुन के पक्के थे। परिश्रम उनका स्वभाव था। एक बार घर के प्रांगण में नया कुआँ खोदा गया। कुएं का तल स्वच्छ होना चाहिए, यह विचार कर तीनों भाई मिलकर एक रात जुट गए और कुएं का समस्त पानी बाहर निकाल कर तल साफ कर दिया।

सन् १९०२-३ में देशभर में प्लेग के रोग ने सहस्रों भारतवासियों को काल का ग्रास बनाया। उसी महामारी में उनके माता-पिता, दोनों का थोड़ी-थोड़ी देर के अन्तर पर देहावसान हो गया। दोनों एक साथ परलोक सिधारे। एक ही चिता पर दोनों का दाह-संस्कार किया गया।

माता-पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ भ्राता महादेव के कठोर अनुशासन के कारण केशव अधिकांश समय घर से बाहर ही रहता। फटे कपड़े और अनेक बार भूखा ही रह जाना उनके लिए साधारण बात थी। इस अभाव और विपत्ति की अवस्था में भी केशव ने कभी पढ़ाई की उपेक्षा नहीं की।

स्कूल से अवकाश के दिनों में वे नागपुर में शुक्रवार-तालाब के पूर्व टीले पर चढ़कर 'ध्वज जीतकर लाने' का खेल अपनी मित्र-मंडली के साथ खेलते।

राजनीति में इन दिनों लोकमान्य तिलक का वर्चस्व था। डॉ. बालकृष्ण शिवराम मुंजे नागपुर की राष्ट्रीय गतिविधियों के केन्द्र थे। इन्हीं दिनों (सन् १९०४-०५) में 'केसरी' के लिए 'पैसा फण्ड' का आयोजन हुआ, जिसमें केशव ने बढ़-चढ़कर भाग लिया।

बड़े भाई महादेव शास्त्री को केशव का सरकार-विरोधी कार्यों में भाग लेना अखरा और उन्होंने केशव पर अपनी नाराजगी प्रकट कर दी। आत्मविश्वास तथा देशभक्ति के अंकुर हृदय में लिए केशव में स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न हुई और घर से सम्बन्ध क्षीण से क्षीणतर होता गया।

राष्ट्रीय कार्यों के प्रति केशव का उत्साह विलक्षण था। चाहे वह स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार कार्य हो या 'बम बनाना' सीखने की गुप्त बैठक हो, केशव सर्वत्र अग्रणी होते। सन् १९०७ या ०८ में दशहरे के दिन थे। केशव अपने चाचा श्री मोरेश्वर श्रीधर हेडगेवार उपनाम 'आबाजी' के यहाँ गया था। उन दिनों 'रावण-वध' के लिए सीमोल्लंघन यात्रा का जलूस निकलता था। केशव ने दो स्कूली मित्रों के सहयोग से एक योजना बनाई। कुछ तरुण इकट्ठे हुए। सीमोल्लंघन का जलूस जब रावण-वध के लिए निश्चित स्थान पर पहुँचा, तो केशव ने 'वन्दे मातरम्' का घोष किया। तरुण मित्रों ने सहयोग दिया। इसके बाद केशव ने वर्तमान भारत में रावण-वध का सही अर्थ समझाते हुए जोरदार भाषण दिया। यह विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का प्रारम्भ था। फलतः सरकार की ओर से दोनों साथियों को स्कूल से 'निष्कासित' कर दिया गया और केशव पर मुकदमे की तैयारी होने लगी। स्थानीय नेताओं की प्रार्थना पर सरकार ने इन बालकों पर मुकदमा चलाने की योजना समाप्त कर दी, किन्तु केशव के पीछे सदा के लिए गुप्तचर लग गए। उसके कारण चाचा आबाजी को भी दण्ड मिला। वे सरकार के कोपभाजन बने। सरकार उनसे बदला लेने लगी है, इस विचार ने उन्हें उद्वेलित किया और उन्होंने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। इस प्रकार केशव की देशभक्ति चाचा को खल गई।

नीलसिटी हाई स्कूल, नागपुर की घटना केशव के जीवन के लिए आत्मविश्वास-सूचक सिद्ध हुई। स्कूल में निरीक्षण होना था। तरुण-मंडली से परामर्श कर निश्चय किया गया कि निरीक्षक का स्वागत सामूहिक 'वन्दे मातरम्' उच्चार से हो। दूसरा, यदि कोई दण्ड की बात आए, तो कोई किसी का नाम न बताए। निरीक्षण का दिन आया। मुख्याध्यापक और निरीक्षक, दोनों दसवीं कक्षा में गए। समस्त कक्षा ने 'वन्दे मातरम्' कहकर उसका स्वागत किया। वे दोनों स्तब्ध रह गए। वे दूसरी कक्षा में गए। वहाँ भी यही दृश्य था। निरीक्षक क्रुद्ध होकर चले गए। मुख्याध्यापक ने दोनों कक्षाओं के सभी विद्यार्थियों का स्कूल-प्रवेश निषिद्ध कर दिया। विद्यार्थियों ने स्कूल में स्ट्राइक करवा दी। जब स्ट्राइक किसी भी प्रकार नहीं टूटी और इस आन्दोलन के सूत्रधार का नाम किसी भी छात्र ने नहीं बताया, तो निराश होकर प्रबन्ध-समिति और मुख्याध्यापक ने एक सरलतम उपाय खोज निकाला। विद्यार्थी से पूछा जाता 'भूल हो गई ना।' और विद्यार्थी गर्दन हिलाकर 'हाँ' की स्वीकृति देता। 'भूल नहीं हुई' का उद्घोष करने वाले दो विद्यार्थी रह गए, उनमें से एक थे केशव। इन दोनों का विद्यालय से नाम कट गया।

देश-भक्तिपूर्ण केशव-हृदय ने एक दिन नारियल के कटोरे में बम बनाकर रामपायली की पुलिस चौकी के पास रात्रि के नौ बजे एक धमाका कर दिया। केशव की विशेषता थी, 'सब कुछ करके भी पृथक् हो जाओ।' इस प्रवृत्ति के कारण उनका अनिष्ट न हो पाया।

यवतमाल में 'विद्या-गृह' नाम से डॉ. बाबा साहब उपाख्य शिवराम परांजपे के प्रयत्नों से एक राष्ट्रीय विद्यालय चल रहा था। सन् १९०९ में हेडगेवार ने इसमें प्रवेश प्राप्त कर लिया। देश में ऐसे इने-गिने विद्यालय ही थे। इस प्रकार के विद्यालयों से छात्रों में राष्ट्रीय स्वाभिमान का परिपोषण करने वाले विचार प्रसूत होते थे। ब्रिटिश सरकार के कोप से यह विद्यालय बन्द हो गया। मन में निराशा उत्पन्न न हो तथा पढ़ाई भी पूर्ण हो जाए, इसलिए केशव यहाँ से पूना चले गए। राष्ट्रीय विद्यापीठ के अमरावती केन्द्र से परीक्षा देकर वे नागपुर लौट आए। जिसमें वे उत्तीर्ण घोषित हुए। 'दि नेशनल काँसिल ऑफ़ इजुकेशन' (बंगाल) के अध्यक्ष के नाते डॉ. रासबिहारी घोष के हस्ताक्षरों से युक्त प्रमाण-पत्र उनको दिया गया।

सन् १९१० के मध्य डॉ. मुंजे की कृपा से नेशनल मेडिकल कॉलेज में शिक्षा के लिए केशव कलकत्ता चले गए। कलकत्ता में रहकर परोक्ष रूप से क्रांतिकारियों से सम्पर्क और उनके कार्यक्रम में भाग लेना भी उनका उद्देश्य था।

अपने कलकत्ता निवास, अध्ययन काल और क्रांति-दर्शन के ज्ञान-प्राप्तिकाल में केशव के व्यक्तित्व का विकास अनेक रूपों में प्रकट हुआ। यहाँ उन्होंने भारत के सभी प्रांतों से आए विद्यार्थियों से मित्रता बढ़ाई। क्रांतिकारी कार्यक्रमों में भाग लिया। वे 'अनुशीलन-समिति' के सदस्य बने जो क्रांतिकारियों द्वारा निर्मित थी। फलतः बंगाल के प्रायः सभी क्रांतिकारियों से उनका सम्पर्क हुआ। उन्हीं दिनों उन्होंने अपने सुदृढ़ शरीर और उच्च मनोबल का परिचय अनेक स्थानों पर आततायियों की पिटाई करके भी दिया। इसके बावजूद उनका अध्ययन ठीक चलता रहा।

सन् १९१३ में बंगाल की दामोदर नदी में भीषण बाढ़ आई। अनेक सहायता-समितियों

ने सहायता कार्य किया। रामकृष्ण मिशन की ओर से केशव भी अपने अन्य पाँच सहयोगियों के साथ तीन दिन तक रात-दिन असीम शक्ति और अदम्य उत्साह से सहायता-कार्य में जुटे रहे। उफनती नदी और दलदली जमीन से गुजरकर संकटग्रस्त गाँवों के लोगों को भोजन पहुँचाना, इस टोली का साहसपूर्ण कार्य था। बाढ़ के बाद जनता विषूचिका रोग (हैजा) के प्रकोप का शिकार बनी। केशव औषधि-वितरण में संलग्न हुए।

इस प्रकार समाज-सेवा, राष्ट्र-सेवा के मध्य केशवराव पाँच वर्ष का शिक्षण समाप्त कर सन् १९१६ के प्रारम्भ में कलकत्ता से नागपुर लौट आए।

नागपुर आए उन्हें थोड़े ही दिन हुए थे कि प्लेग फैल गया। केशव और बंधु सीताराम घर छोड़कर झोंपड़ी में रहने लगे, किन्तु महादेव शास्त्री अपनी मस्ती में मकान में ही रहते रहे। दुर्भाग्य से प्लेग ने उन्हें धर दबोचा और वे परलोक सिधार गए।

महामारी की शान्ति पर दोनों भाई घर में आकर रहने लगे। मित्रों आदि ने केशव से औषधालय प्रारम्भ करने का बार-बार आग्रह किया, किन्तु वे टालते रहे। कारण, उनके मन में मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने की तड़प थी। डॉक्टरी की पढ़ाई तो मात्र जीवन-विकास, क्रान्तिकारियों से सम्पर्क एवं उत्कट देशभक्ति उत्पन्न करने का माध्यम थी।

विवाह न करने का निश्चय

दूसरी ओर विवाह के प्रस्ताव तंग करने लगे। केशव ने इस झंझट से जान बचाने के लिए आने वाले लोगों को चाचाजी के पास रामपायली भेजना शुरू कर दिया। लोगों के आने-जाने से तंग आकर आबाजी ने पत्र लिखकर केशव से विवाह के विषय में जानना चाहा। इस पर केशव ने चाचाजी को पत्र लिखकर स्थिति स्पष्ट कर दी, 'अविवाहित रहकर राष्ट्र-कार्य करने का मैंने निश्चय किया है। देश-कार्य करते हुए कभी भी जीवन पर संकट आ सकता है, यह जानते हुए भी एक लड़की के जीवन का नाश करने का क्या अर्थ है।' इसके बाद विवाह का परिच्छेद सदा-सर्वदा के लिए बन्द हो गया।

हाँ, सीताराम का विवाह हो गया। गृहस्थ का आनन्द पुनः मिलने लगा। दूसरी ओर, केशव क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगे। इसमें उनके पथ-प्रदर्शक और सहयोगी बने श्री भाऊ जी कावरे। क्रांतिकारी कार्यों के लिए धन-संग्रह करना, शस्त्र खरीदकर तरुणों को देना, नागपुर, कलकत्ता और पंजाब के क्रांतिकारियों से सम्बन्ध स्थापित करना, ये उनके प्रारम्भिक कार्य थे।

क्रांतिकारी कार्यों में सहयोग

इस बीच उन्होंने लोकमान्य तिलक से भेंट की। दो दिन उनका आतिथ्य स्वीकार कर और उनसे विचार-विमर्श कर वे शिवनेरी गए। छत्रपति शिवाजी की बाल-लीला से पवित्रीकृत वातावरण में राष्ट्र-सेवा के अपने संकल्प को और भी प्रदीप्त करते हुए नागपुर लौटे। शिवाजी के जन्म-स्थान पर मस्जिद और दरगाह देखकर उन्हें पीड़ा हुई।

एक बार भुसावल स्टेशन पर कुछ शस्त्र लिए क्रांतिकारियों का एक दल पकड़ा गया। भविष्य में इससे बचाव का एक मार्ग निकाला गया। शस्त्र स्थानान्तरण के लिए तरुण नारीवेश में रेलयात्रा करें। इधर, तरुणों ने पिस्तौल चलाने की शिक्षा आरम्भ कर दी। इस

प्रकार लगभग १५० क्रांतिकारियों का दल बन गया।

भारत के दुर्भाग्य से द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी की हार और अंग्रेजों की विजय ने देश में निराशा उत्पन्न कर दी। फलतः क्रांतिकारियों का दल सर्वत्र सुप्त हो गया, बिखर गया, शृंखला टूट गई। विवाह के लिए बड़े ठाट-बाट से निर्मित मंडप को बिना विवाह पूर्ण हुए ही उखाड़ने जैसा कार्य हो गया। अपने द्वारा निर्मित क्रांतिकारी दल में घोर निराशा व्याप्त न हो, अतः डॉक्टर जी स्थान-स्थान पर जाकर भाषण देते और उनके मनोबल बनाए रखने का प्रयत्न करते। इधर, मध्य-प्रांत की 'होमरूल लीग' के माध्यम से अपने उग्र विचारों को जनता तक पहुँचाते। दल की शिथिलता के कुपरिणाम सामने आए। जिन क्रांतिकारियों के पास शस्त्र और धन था, उसे लौटाने में उन्होंने दल के नेताओं की अवहेलना की। इस सम्बन्ध में मुँह खोलना भी भयंकर था। अतः अनेक कड़वे अनुभव डॉक्टर जी को हुए।

डॉक्टर जी को यह अवश्य प्रतीत हुआ, 'पूर्ण प्रभावी संस्कार किये बिना देशभक्ति का स्थायी स्वरूप निर्माण होना संभव नहीं है तथा इस प्रकार की स्थिति का निर्माण होने तक सामाजिक व्यवहार में प्रामाणिकता भी संभव नहीं। इसके साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि भावना के वेग तथा जवानी के जोश में कई तरुण खड़े हो जाते हैं, परन्तु दमनचक्र प्रारम्भ होते ही वे मुँह मोड़कर सदा के लिए सामाजिक क्षेत्रों से दूर हट जाते हैं। ऐसे लोगों के भरोसे देश की विकट तथा उलझी समस्याएँ कैसे सुलझ सकेंगी? इसके लिए ध्येय पर अविचल दृष्टि रखकर मार्ग में मखमली बिछौने हों या काँटे बिखरे हों उनकी चिन्ता न करते हुए निरन्तर आगे ही बढ़ने के दृढ़ निश्चय वाले कृतिशील तरुण खड़े करने पड़ेंगे। उन्होंने देखा कि देशभक्त कहलाने वाले तरुणों को भी अनुशासन सहन नहीं होता। जीवन में निःस्वार्थ भावना आये बिना खरा अनुशासन निर्माण नहीं होता तथा अनुशासन के बिना परकीयों के यन्त्र-तन्त्र सज्जित पाशवी बल को ठोकर मारने का सामर्थ्य किसी भी राष्ट्रीय उत्थान के प्रयत्न में नहीं आ सकता।' —डॉ. हेडगेवार (चरित्र), पृष्ठ ६९

कांग्रेस की मुस्लिमपरस्ती से क्षुब्ध

सन् १९२० में कांग्रेस अधिवेशन लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में करने का निर्णय हुआ, किन्तु दुर्भाग्य से ३१ जुलाई को लोकमान्य तिलक के देहावसान से वह स्थगित हो गया। इधर, नागपुर के गरम दलीय कांग्रेस के लोगों ने पांडिचेरी के संत श्री अरविन्द से कांग्रेस की अध्यक्षता का अनुरोध स्वीकार करने के लिए डॉ. मुंजे और डॉ. हेडगेवार को भेजा। सितम्बर १९२० में महर्षि अरविन्द से भेंट हुई, किन्तु वे तत्कालीन राजनीति में भाग लेने को उद्यत नहीं हुए।

देश में 'खिलाफत आन्दोलन' में भाग लेकर 'हिन्दू-मुस्लिम' ऐक्य का नारा कांग्रेस ने बुलन्द कर दिया था। इसका साधारण-सा अर्थ था, 'हिंदू अकेले स्वातन्त्र्य समर नहीं चला पा रहे हैं, अतः यवनों को साथ लिया जाए।' इस दयनीय मनोबल की हीनता ने डॉ. हेडगेवार पर अत्यधिक प्रभाव डाला।

२६ दिसम्बर, १९२० को कांग्रेस अधिवेशन, नागपुर में हुआ। इसमें सर्वाधिक

प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें सारी व्यवस्था का भार डॉ. हेडगेवार पर था। रात-दिन लगकर डॉ. हेडगेवार ने खाकी गणवेश और साफाधारी स्वयंसेवकों का दल बनाकर भोजन तथा आवास का ऐसा सुन्दर प्रबन्ध प्रस्तुत किया कि सभी प्रतिनिधियों ने मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा की। इस सारी व्यवस्था और कार्यक्रम में डॉ. हेडगेवार को दो अनुभव प्राप्त हुए। पहला था, प्रबन्ध की दृष्टि से—‘दूसरों की सहायता के लिए आगे आने वाला स्वयंसेवक यदि अनुशासनशील एवं दृढ़ नहीं हुआ तो शरीर की हड्डी के नरम एवं शिथिल पड़ जाने पर जो हाल होता है, वही कार्य का हो जाता है।’

दूसरा था, कार्यक्रम की दृष्टि से—कांग्रेस अधिवेशन में यदि ‘गऊ-रक्षा’ का प्रश्न उठा, तो इससे मुसलमानों की भावनाएँ दुखेंगी, अतः यह प्रश्न कांग्रेस हाथ में नहीं ले सकती’, इस भावना से दबे कांग्रेसियों ने प्रस्तावक श्री बड़े से मंडप छोड़कर जाने को कहा। जब वे नहीं गए और विवाद बढ़ गया तो महात्मा गाँधी ने अपनी वृत्ति के अनुसार उन्हें हाथ पकड़कर बाहर न निकालते हुए अखिल भारतीय कार्यकारिणी की बैठक ही स्थगित कर दी। डॉ. हेडगेवार को लगा, ‘उस समय प्रत्येक प्रश्न की एक ही कसौटी थी कि मुसलमान प्रसन्न होकर हमारी ओर कैसे आएँ।’

असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो गया। प्रांतीय कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य होने के नाते डॉ. हेडगेवार ने इसका धुआँधार प्रचार प्रारम्भ कर दिया। २३ फरवरी, १९२१ को ब्रिटिश सरकार ने डॉ. हेडगेवार के भाषण देने तथा पाँच से अधिक व्यक्ति इकट्ठे करने पर एक माह का प्रतिबन्ध लगा दिया। डॉक्टर जी इस निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर असहयोग आन्दोलन का प्रचार करते रहे। फलतः ३१ मई, १९२१ को उन पर काटोल और भरतवाड़ा में आपत्तिजनक भाषण देने पर मुकदमा शुरू हो गया। ५ अगस्त, १९३१ को उन्होंने अपने प्रतिवेदन में कहा, ‘कानून उसका (सरकार का) दास तथा न्यायालय उसके खिलौने मात्र हैं। विश्व के किसी भी भूभाग में यदि शासन को रहने का अधिकार है, तो वह जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की सरकार का है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी शासन राष्ट्रों को लूटने के लिए धूर्त लोगों द्वारा योजनापूर्वक चलाए हुए धोखेबाजी के नमूने हैं।’ इस पर मजिस्ट्रेट बोल उठे— *‘This statement is more seditious than his speech.’* (इनके मूल भाषण की अपेक्षा तो यह प्रतिवाद करने वाला वक्तव्य अधिक राजद्रोहपूर्ण है।) परिणामस्वरूप धारा १०८ के अन्तर्गत डॉक्टर जी से १९ अगस्त, १९२१ को ‘एक वर्ष तक राजद्रोहपूर्ण भाषण न करने की एक-एक हजार रुपए की दो जमानतें तथा एक हजार का व्यक्तिगत मुचलका माँगा गया।’ माँगी हुई जमानतें देना अस्वीकार करते हुए डॉक्टर साहब ने जेल जाना स्वीकार किया। फलतः उन्हें एक वर्ष के सश्रम कारावास का दण्ड मिला। १२ जुलाई, १९२२ की प्रातः वे जेल से मुक्त हुए।

इस एक वर्षीय कारावास में उनका सम्पर्क एक यवन सत्याग्रही से हुआ। पहले वह डॉक्टर जी की कोठरी में ही सहवासी था, किन्तु बाद में उसे अलग कोठरी में करना पड़ा। डॉक्टर जी ने अनुभव किया कि उस यवन सत्याग्रही में असहयोग का सिद्धान्त और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य नाममात्र को ही है। उलटे, वह अन्तःकरण से कट्टर मुस्लिम और हिन्दू मान-मर्यादा को अपमानित करने वाला सिद्ध हुआ। उसने एक दिन कहा, ‘गोहत्या मत करो’,

ऐसा जब आप हमसे प्रार्थनापूर्वक कहेंगे तो कदाचित् हम गोहत्या नहीं करेंगे, किन्तु यदि आप गोहत्या-बंदी पर जोर देंगे तो गौ काटना हमारा फर्ज हो जाता है।' इस पर असहयोग के एक अन्य सहबन्दी ने उसकी दाढ़ी पकड़कर दो-चार चाँटे उपहार में दे दिए। असहयोग में मुस्लिम प्रवृत्ति को देखकर डॉक्टर जी के मन में निराशा हुई।

अब डॉक्टर जी के मन में क्रमशः यह भावना प्रबल होती गई कि गाँधीजी यवन पक्षपाती हैं और उनको खुश करने के लिए वे किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। इसके लिए तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे।

पहली घटना थी : इन्हीं दिनों हुए मोपला-विद्रोह में डेढ़ हजार हिन्दु मारे गए, २० हजार का धर्म-परिवर्तन कराया गया तथा हिन्दुओं की ३० करोड़ की धन-सम्पत्ति नष्ट हुई। यह सब मुसलमानों ने किया। जब सरकार ने आततायियों पर सख्ती बरतनी शुरू की तो गाँधीजी ने इसका विरोध करते हुए कहा, 'ईश्वर विश्वासी शूर मोपले, जो कि, जिसे वे धर्म समझते थे, उसके लिए, उस मार्ग से जिसे वे धार्मिक मानते थे, लड़ रहे थे।' जवाहरलाल नेहरू कहते हैं, 'मोपलाओं का विद्रोह तथा उसका असाधारण रूप से दमन, बन्द रेलवे के डिब्बों में मोपला बन्दियों का गर्मों के मारे तड़प-तड़प कर मर जाना, कितना भयंकर एवं क्रूरता पूर्ण कार्य है।'।

दूसरी घटना थी : देश में बहुमूल्य विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जा रही थी। यवनों ने अपने तुर्की बन्धुओं के लिए यह वस्त्र भेजने की इच्छा गाँधीजी पर प्रकट की। गाँधीजी ने उसे स्वीकार कर लिया।

तीसरे, 'वन्दे मातरम्' और 'अल्ला हो अकबर' का घोष। मुस्लिम जनता और नेता 'वन्देमातरम्' उच्चारित करने को प्रस्तुत न थे, बल्कि हिन्दू जनता से कांग्रेसी 'अल्ला हो अकबर' घोषित कराने में गर्व समझते थे।

अतः डॉक्टरजी के मन में यह भावना दृढ़ होती गई कि मुसलमानों का देश और स्वतन्त्रता से न कोई सम्बन्ध है और न वे देश के प्रति कोई कर्तव्य समझते हैं। वे कांग्रेस की चाल-बाजियों को सूक्ष्मता से देख रहे थे। साथ ही वे यवन-आक्रमणों और हिन्दुओं की दबू मनोवृत्ति का विश्लेषण कर रहे थे।

सन् १९२४ में तुर्की के खलीफा के अवसान के बाद तो खिलाफत आन्दोलन का हिण्डोला जिस डाली में लटक रहा था, वही टूट गई। इस निराशा में आशा बनाए रखने और अपने मनोबल को न गिरने देने की दृष्टि से यवन नेताओं ने आन्दोलन की दिशा-परिवर्तन कर उसको हिन्दू विरोधी रूप दे दिया। सहारनपुर के ऐतिहासिक हिन्दू-मुस्लिम दंगे को देखकर भाई परमानन्द ने लिखा, "वहाँ के हिन्दुओं की दैन्य एवं यातनाएँ देखकर मैं अत्यन्त व्यथित हो गया। जब मुझे पता चला कि 'खिलाफत-समिति' के पदाधिकारी दंगा करने तथा हिन्दुओं की जान और माल का विनाश करने के लिए उत्तरदायी थे तो मुझे विवश होकर यह निष्कर्ष निकालना पड़ा कि खिलाफत-आन्दोलन ही हिन्दू-मुस्लिम दंगों की जड़ में था।" इस अनुभव से जागृत होकर भाई परमानन्द ने लाहौर में 'हिन्दू संघ' नामक संस्था की स्थापना की।

दिण्डी-सत्याग्रह में सफलता

नागपुर में मस्जिद के सम्मुख बँड, बाजे, ढोल, मजीरा आदि का वादन रोकने का बहाना लेकर मुसलमानों ने हिन्दुओं के मनोबल को गिराना और यत्र-तत्र झगड़े करना शुरू कर दिया। सर्वश्री राजा लक्ष्मणराव भोंसले, डॉ. मुंजे आदि के सहयोग से डॉक्टर जी ने 'दिण्डी-सत्याग्रह' आरम्भ कर दिया। 'दिण्डी' का अर्थ है भजन-मण्डली। भजन-मण्डली अपना कीर्तन करते हुए मस्जिद के सामने से गुजरने का प्रयास करती तो पुलिस पकड़ लेती। यह सत्याग्रह दिनों-दिन तीव्र होता गया, हिन्दुओं का मनोबल बढ़ता गया। फलतः एक दिन यवनों को झुकना पड़ा। पाँच समय नमाज पढ़ने के अवसर को छोड़कर शेष समय में वह प्रतिबन्ध हटा दिया गया।

इस सफलता से हिन्दू नेताओं को प्राप्त हुआ 'संघटित प्रयत्नों से सफलता की प्राप्ति' का सूत्र और हिन्दू जनता को मिला आत्मबल, मनोबल। इसी दिण्डी-सत्याग्रह के दिनों राजा लक्ष्मणराव भोंसले ने हिन्दू-सभा की स्थापना की। इसके उपाध्यक्ष बने डॉ. मुंजे तथा मंत्री बने डॉक्टर जी।

हिन्दुओं को संगठित करने का संकल्प

इस आन्दोलन में हिन्दूमात्र को संगठित करके सत्याग्रह के लिए प्रेरित करने के कार्य में डॉक्टर जी को अनेक अनुभव प्राप्त हुए। उनका निष्कर्ष था, 'मुट्ठी-भर लोग असंख्य हिन्दुओं पर क्रूर आघात करते हैं। यह आक्रमणकारियों की शक्ति का नहीं, बल्कि हिन्दू-जनता की असंघटित एवं स्वाभिमानशून्य स्थिति का स्वाभाविक परिणाम है।' इसके लिए दूसरों को दोष न देते हुए, उनका नाम ले-ले कर कोसते न बैठते हुए तथा सौजन्य से दुष्ट के हृदय-परिवर्तन करने का अव्यावहारिक मार्ग न अपनाते हुए अपने समाज के जिन दोषों के कारण दूसरों को आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिलता है, उन्हें ही प्रयत्नपूर्वक तथा तेजी से दूर कर तारुण्य, स्वाभिमान तथा पराक्रम से युक्त समाजपुरुष जागृत स्वरूप में खड़ा करना चाहिए, यही मार्ग उन्हें दिखाई देता था।

एक अन्य विषय को लेकर भी उनके मन में उथल-पुथल हो रही थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता का नारा अवश्य लगाया जा रहा था, किन्तु स्थिति ऐसी थी कि एकता निकट आने के स्थान पर और दूर ही खिसकती जाती थी। डॉक्टर जी के मन में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठा कि आज दिखने वाली एकता क्या इतिहास में कभी विद्यमान थी? भूतकाल तो यही बताता है कि ठेठ दाहिर के समय से हिन्दू स्वराज के अन्त तक कभी पृथ्वीराज ने तो कभी महाराणा प्रताप ने, कभी हुक्क-बुक्क ने तो कभी कृष्णदेव राय ने, कभी गुरु गोविन्द ने तो कभी बन्दा वैरागी ने, कभी छत्रपति शिवाजी ने तो कभी सन्ताजी ने, कभी बाजीराव ने तो कभी महादजी ने मुसलमानों के तत्कालीन आक्रमण को पराया मानकर उसे नष्ट करने तथा अपनी भारतीय-संस्कृति का विजयध्वज अटक के पार फहराने का पराक्रम किया है। ऐसी स्थिति में भारत के मन्दिरों, भारत के जीवनादर्शों तथा उसकी परम्परा और अस्मिता को नष्ट कर उसे विदेशी संस्कृति की दीक्षा देने वाले असंस्कृत, असहिष्णु तथा अमानवीय वृत्ति से षड्यन्त्र करने वाले लोगों को हम आज ही क्यों अपना कहने के

लिए व्याकुल हैं ? क्या उनके मन में हिन्दू समाज तथा उसकी नर को नारायण बताने वाली दैवी संस्कृति के सम्बन्ध में आस्था पैदा हो गई है ? क्या उन्होंने 'जियो और जीने दो' के विश्व के लिए भूषणार्ह भारतीय-संस्कृति के सहिष्णुता के आधारभूत तत्त्व को स्वीकार कर लिया है ? क्या 'आज भारतमाता के जय-जयकार में एकस्वर मेरा मिला लो', यह मनीषा उनके अन्दर जागृत हो गई है ? इनमें से यदि कोई भी अनुकूल परिवर्तन नहीं हुआ है, तो वे उतने ही आक्रमणकारी हैं जितने अंग्रेज। यदि हमें दोनों आक्रमणों को दूर हटाना है, तो ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी पड़ेगी कि हिन्दू समाज की पुरातन, किन्तु नित्यनूतन जीवन-परम्परा की पावन गंगा का प्रवाह अप्रतिहत रूप से बहता रहे। डॉक्टर जी को यह भी दिखने लगा कि 'हिन्दू-मुस्लिम भाई भाई' की आत्मघाती तथा एकांगी घोषणाओं के मूल में हिन्दू-समाज की अपने सही इतिहास को भुलाने तथा भारत के शिक्षित समुदाय में अंग्रेजों का यह कुप्रचार था कि इस देश में जो-जो रहते हैं, वे सब इसके स्वामी हैं। इस अनुभूति में से ही हिन्दू-संघटन के महामन्त्र का उन्हें साक्षात्कार हुआ।

सम्पूर्ण विचार-मन्थन से डॉक्टर हेडगेवार इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि हिन्दू राष्ट्र का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किये बिना भारत की राष्ट्रीयता को विकृत करने के प्रयत्नों से नहीं बचाया जा सकेगा। इसी समय वीर सावरकर ने 'हिन्दुत्व' की राष्ट्रवादी कल्पना को अपनी ओजस्वी एवं प्रतिभाशाली लेखनी से लेखबद्ध करके कारागृह के बाहर किसी-न-किसी प्रकार भेजने की व्यवस्था की। योगायोग यह हुआ कि 'हिन्दुत्व' सबसे पहले डॉक्टर जी के घनिष्ठ मित्र श्री विश्वनाथराव केलकर के हाथों में ही पड़ा। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पांडुलिपि को डॉक्टर जी ने अवश्य पढ़ा होगा। अपने मन की हिन्दुत्व की कल्पना और उस ग्रन्थ में अत्यन्त तर्कशुद्ध, निश्चयात्मक तथा आग्रहपूर्वक हिन्दुत्व का प्रतिपादन देखकर उनको अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्हें यह ग्रन्थ बहुत पसन्द आया। उन्होंने उसका सर्वत्र प्रचार प्रारम्भ कर दिया। सोए हुए हिन्दू-समाज को जगाने के लिए मुसलमानों के आक्रमणों ने 'खतरे की घण्टी' का काम किया, किन्तु उससे भी आगे बढ़कर हिन्दुत्व के सुप्त मानस को झकझोर कर उठाने का सामर्थ्य सावरकर जी के युगप्रवर्तक ग्रन्थ 'हिन्दुत्व' में था। —डॉ. हेडगेवार (चरित्र), पृ. १२७-१२८

इन्हीं दिनों अपने विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए डॉक्टर साहब ने 'स्वातन्त्र्य' नामक एक दैनिक पत्र प्रकाशित किया एवं बाद में सम्पादित भी किया, किन्तु वर्ष का अन्त होते-होते उसका प्रकाशन बन्द हो गया।

नागपुर के साथ-साथ देश के अन्य भागों में हिन्दू-मुस्लिम एकता के बुलबुले फूटते जा रहे थे तथा सर्वत्र हिन्दू नेताओं के लिए परिस्थिति पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो गया था। अमेठी, सम्भल, गुलबर्गा, कोहाट आदि स्थानों पर मुसलमानों ने अपने अत्याचार से मानवता तथा शान्ति के चिथड़े-चिथड़े उधेड़ कर रख दिए। दिनांक ९ एवं १० सितम्बर को कोहाट के दंगों में १५५ लोग मारे गए तथा लगभग नौ लाख रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई। मुसलमानों ने जी खोलकर हिन्दुओं के घरों और दुकानों को लूटा। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने महात्माजी को लिखा था, 'शान्ति के भाषण तथा प्रवचन अब बहुत हो गये।'।

इस पर गाँधीजी ने उपवास रखा और 'एकता परिषदों' का निर्माण आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ. अम्बेडकर लिखते हैं 'एकता-परिषदों में केवल लुभावने प्रस्ताव होते थे तथा उनकी घोषणा होते ही व्यवहार में उनका उल्लंघन किया जाता था।'

विवश होकर अपने को हिन्दुस्तानी मानने वाले महापुरुषों को हिन्दुत्व पर विचार करना पड़ा। स्वामी श्रद्धानन्द ने तो मोपला-विद्रोह के बाद से ही शुद्धि और संघटन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने 'कायदा-भंग जाँच समिति' के समक्ष यह स्पष्ट कर दिया था कि 'एक-एक प्रान्त में दोनों जातियाँ एक दूसरे के विषय में संशयग्रस्त हो गई हैं, यह मुझे स्वयं दिख रहा है। इसका एक कारण यह है कि मुसलमान जितने सुसंघटित हैं, उतना हिन्दू-समाज नहीं है। वह अब भी विशृंखलित है। इसका एक ही उपाय है कि हिन्दू नेताओं को अपना समाज संघटित करना चाहिए।' १९२४ में हिन्दू महासभा के बेलगाँव अधिवेशन में पं. मदनमोहन मालवीय ने भी यह बात कही थी। उन्होंने कहा था, 'हिन्दुओं में भीरुता तथा दुर्बलता न होती तो हिन्दू-मुसलमानों के बहुत से दंगे टल गये होते। इन दंगों से राष्ट्र के लिए विघातक परिस्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण उनके लिए बहुत कुछ अंशों में जिम्मेदार हिन्दुओं की दुर्बलता को दूर करना आवश्यक है।' उन्होंने कहा था, 'सिंहगढ़ सरीखे कठिन स्थान पर जिस महाराष्ट्र ने भगवा झण्डा लहराया, वह महाराष्ट्र अत्यन्त निर्भय था। आज हम अपना भगवा झण्डा छोड़कर किसी भी झण्डे के नीचे इकट्ठा होने लगे हैं। यह भूल दूर करके पुनः अपने सही रूप को पहचानिए तथा सच्चे वैदिक धर्म तथा आर्य-संस्कृति की रक्षा कीजिए।'

देशबन्धु चित्तरंजनदास ने तो छह महीने केवल मुसलमानों का इतिहास तथा मुसलमान-कानून का अध्ययन और मनन करने में लगाए तथा अपने चिन्तन का निष्कर्ष उन्होंने लाला लाजपतराय को इन शब्दों में बताया 'मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दू-मुस्लिम एकता न तो सम्भव है और न व्यवहार्य ही।' देशबन्धु के समान लाला लाजपतराय को भी कांग्रेस के पाँच वर्ष के हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयत्नों का अर्थ कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगा था। मौलाना हसरत मोहानी के इस प्रस्ताव की कि 'हिन्दू और मुसलमानों के दो स्वतन्त्र राज्य निर्माण होने चाहिए', टीका करते हुए उन्होंने कहा था, 'पहले नहीं तो पिछले पाँच वर्षों में तो कांग्रेस हिन्दू-मुसलमानों का संयुक्त संघटन रही है, पर इसने हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों का ही अधिक भला किया है।'

इसी समय हसरत मोहानी ने 'पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा पंजाब' को मिलाकर 'स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य' की माँग शुरू कर दी थी। महात्माजी को भी इसी साल में यही अनुभव हुआ कि 'सर्वसामान्य मुसलमान गुण्डा है तथा हिन्दू कायर है।'

पण्डित जवाहरलाल नेहरू को भी इससे भिन्न अनुभव नहीं हो सकता था। उन्होंने अपने 'आत्मचरित्र' में उस काल का वर्णन करते हुए लिखा है कि '.....अनेक कांग्रेसजन राष्ट्रीयता का बुरका पहने हुए सम्प्रदायवादी ही थे।' इसके अतिरिक्त उसी पुस्तक में उन्होंने हिन्दुओं को 'बाबूगिरी में रंगे हुए तथा निद्राशील' बताया है। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल ने १९२५ के प्रारम्भ में लाहौर से प्रकाशित 'प्रताप' में अपने भाव व्यक्त करते हुए 'हिन्दू राष्ट्र' के उज्ज्वल भविष्य के लिए शुद्धि, संघटन, हिन्दू-राज्य की स्थापना तथा

अफगानिस्तान का भारत में विलीनीकरण, इन चार बातों को आवश्यक बताते हुए कहा, 'जब तक हिन्दू-राष्ट्र इन चारों बातों को सिद्ध नहीं करता तब तक हिन्दू जाति की सुरक्षा होना सम्भव नहीं है।' डॉ. मुंजे तो उन दिनों स्पष्ट कहते थे कि, 'गले में तुलसी की माला पहनकर राजनीति नहीं हो सकती।' जनवरी १९२५ में पूना की एक सभा में अपनी नीति स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था "नागपुर की डेढ़ लाख की आबादी में केवल बीस हजार मुसलमान होने के बाद भी हमें ही अपनी धन-सम्पत्ति तथा जान का खतरा लगा रहता है। पर मुसलमानों को कभी यह भय नहीं लगता कि एक लाख तीस हजार लोगों का मन दुखाया तो हमारा क्या होगा। अतः इसके आगे कोई भी प्रश्न उपस्थित हो, प्रथम 'हिन्दू' के नाते ही उसका विचार करना चाहिए। कांग्रेस में 'हिन्दी' तथा बाहर 'हिन्दू' यह वृत्ति रखे बिना कोई चारा नहीं है। मुसलमानों ने हमें यह सिखाया है।" इसी वर्ष सतारा में हुई महाराष्ट्र प्रांतीय परिषद् में बें. रामराव देशमुख ने तो सबके ऊपर बाजी मारते हुए अपना मनोगत भाव व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था, 'हिन्दू राष्ट्रीयत्व' को यदि फिर से जिन्दा करना है, तो हिन्दुओं को भी मुसलमानों के समान संघटित तथा बलशाली बनाना होगा। चार वर्षों तक अलीबन्धु महात्माजी के साथ विदूषक जैसे चक्कर काटते रहे, पर उन विचारों को अभी तक राष्ट्रीयता की जानकारी नहीं हो पाई। उनके मूल में राष्ट्रीयता नहीं थी तथा महात्माजी के सहवास में भी राष्ट्रीयता नहीं थी, अतः अलीबन्धुओं में वह आये तो कहाँ से ?'

१९२५ की जनवरी में मध्यप्रदेश कांग्रेस समिति की ओर से स्वामी सत्यदेव का डॉ. हेडगेवार के साथ दौरा हुआ था तथा उसमें नागपुर, भण्डारा, वर्धा, गोंदिया आदि अनेक स्थानों पर उन्होंने हिन्दू-संघटन के विषय पर ही भाषण दिए थे। वर्धा की एक सभा में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने कहा, 'यह कल्पना अशुद्ध है कि हिन्दू-संघटन मुसलमानों के विरुद्ध है। महात्माजी का यह विचार भी गलत है कि हिन्दू-संघटन बदनाम लोगों की ठोक-पीट करने के लिए है।... हिन्दुस्थान हमारा प्राण है, वही हमारा जीवन-सर्वस्व है, हिन्दुओं की यह निष्ठा है, किन्तु मुसलमानों में यह भाव नहीं है। इस निष्ठा के विषय में जब उनको समझाने के लिए प्रयत्न होते हैं तो वे समझाने लगते हैं कि हिन्दू उनसे भयभीत हैं। उनका यह भ्रम दूर करने के लिए हिन्दुओं का संगठन अवश्य करना चाहिए।'

'इस दौरे पर जाने के पहले ही डॉक्टर जी ने श्री भाऊजी कावरे, श्री अप्पाजी जोशी, श्री विश्वनाथराव केलकर आदि निकटवर्ती मित्रों तथा मध्यप्रान्त के राजनीतिक कार्यकर्ताओं की कई बार बैठकें कीं। उनमें संघटन किस पद्धति से तथा कौन-सा खड़ा करना चाहिए, इस विषय पर सबके विचार जानने का प्रयत्न किया तथा अपने विचार भी सबके विचारार्थ रखे। इस प्रतिपादन में उन्होंने यही भाव व्यक्त किया था कि हिन्दू-मुसलमानों की एकता की कल्पना भ्रम मात्र है तथा हिन्दू समाज में तरुण पीढ़ी को हाथ में लेकर उसके ऊपर संस्कार डालने चाहिए। उन्होंने यह भी बताया कि हिन्दुस्थान के साथ जिसके सारे हित-सम्बन्ध जुड़े हैं, जो इस देश को भारतमाता कहकर अति पवित्र दृष्टि से देखता है तथा जिसका देश के बाहर कोई अन्य आधार नहीं है, ऐसा महान् धर्म और संस्कृति से एक-सूत्र में गुंथा हुआ हिन्दू-समाज ही यहाँ का राष्ट्रीय समाज है। इस समाज

को जागृत एवं सुसंघटित करना ही राष्ट्र का जागरण एवं संघटन है। यही राष्ट्र-कार्य है। इस प्रकार का राष्ट्रीय संघटन दलीय राजनीति से पूर्णतः अलिप्त रहना चाहिए तथा किसी भी राजनीतिक दल के व्यक्ति को अपने मत रखते हुए भी इस संगठन में काम कर सकना चाहिए।

—डॉ. हेडगेवार (चरित्र) पृष्ठ १३८

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना

कांग्रेस में कार्य करते-करते 'हिन्दुस्तान में रहने वालों का यह राष्ट्र है', इस कल्पना से उनका विश्वास पूर्णतः उठ चुका था। उनका अन्तःकरण यह उद्घोषित करने लगा कि 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रत्व है।' इसी विचारधारा का मूर्तस्वरूप है 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ।'।

सन् १९२५ की विजयदशमी के पावन दिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कार्य प्रारम्भ हुआ। डॉक्टर साहब ने १५-२० व्यक्तियों को अपने घर में एकत्र कर कहा, 'हम लोग आज से संघ शुरू कर रहे हैं।' इस प्रथम बैठक में सर्वश्री भाऊजी कावरे, अण्णा सोहोनी, विश्वनाथ राव केलकर, बाला जी हुदार और बापूराव भेदी के नाम प्रमुख हैं। यहाँ से डॉक्टर जी के जीवन ने नया मोड़ लिया और प्रारम्भ हुआ उनका हिन्दू राष्ट्र के पुनरुद्धार के लिए चारित्र्यपूर्ण, ध्येयनिष्ठ तथा सेवामय जीवन।

प्रारम्भ में संघ के सदस्य से इतनी ही अपेक्षा थी कि वह किसी भी व्यायामशाला में जाकर पर्याप्त व्यायाम करे। हाँ, सप्ताह में एक दिन रविवार को सभी स्वयंसेवक 'इतवार दरवाजा प्राथमिक शाला' के मैदान में एकत्रित होते थे। कुछ दिनों बाद श्री मार्तण्डराव जोग के निरीक्षण में सैनिक शिक्षण प्रारम्भ हुआ। अखाड़ों से निकलकर संघ-जीवन ने लाठी शिक्षण में प्रवेश किया। सेवा-वृत्ति की दृष्टि से इन स्वयंसेवकों ने रामटेक में रामनवमी के मेले में अप्रैल १९२५ में अत्यन्त सुन्दर प्रबन्ध किया। इससे प्रभावित होकर संघ के स्वयंसेवकों की संख्या बढ़ने लगी। इधर, श्री सोहोनी के नेतृत्व में जो लाठी शिक्षण का कार्य चल रहा था, उससे आकर्षित हो, नए-नए तरुण संघ में आने लगे। श्री अण्णा सोहोनी के घोर प्रयत्न से अंग्रेजी भाषा के आदेशसूचक शब्दों का 'दक्ष', 'सावधान' आदि संस्कृत शब्दों में परिवर्तन हुआ।

वर्तमान संघ-शाखाओं, जैसा कार्यक्रम २८ मई, १९२६ से विधिवत् आरम्भ हुआ, जिसमें शारीरिक कार्यक्रम और लाठी शिक्षण का महत्त्व था। शाखा-समाप्ति पर निम्नलिखित प्रार्थना गाई जाती थी जिसका एक पद्य मराठी का तथा एक पद्य हिन्दी का था—

नमो मातृभूमि जिथे जन्मलो मी।
नमो हिन्दु भूमि जिये बाढलो मी।
नमो धर्मभूमि जिये व्याचकामी।
पड़ो देह माझा सदा ती नमो मी॥

हे गुरो श्री रामदूता शील हमको दीजिए।
शीघ्र सारे सद्गुणों से पूर्ण हिन्दू कीजिए।
लीजिए हमको शरण में रामपंथी हम बनें।
ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीरव्रतधारी बनें॥

मुसलमानों की हठधर्मिता और हिन्दुओं की भीरुता के कारण समाज को जो दण्ड भुगतना पड़ रहा था, स्वयंसेवकों की जागरूकता के कारण वह बन्द हुआ। जैसे—मस्जिदों के सामने वाद्य-वादन का अवरोध और हरतालिका के अवसर पर हिन्दू-नारियों से छेड़छाड़। संघ की जागरूकता से उस समय के विद्वद्-वर्ग ने संघ कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। डॉक्टर जी ने इस प्रसंग पर कहा था, 'आज योजना से स्थान-स्थान पर स्वयंसेवक खड़े करने पड़ते हैं। यह तो लज्जाजनक स्थिति है। यह बदलकर यदि सम्पूर्ण समाज सजगता से चौबीसों घंटे अपना व्यवहार करने लगे, तो महिलाओं की ओर टेढ़ी नजर से देखने की हिम्मत किसी को भी नहीं हो सकेगी। हमें ऐसी ही स्थिति निर्माण करनी चाहिए।'

वर्धा जिले में आर्वी नामक स्थान है। यहाँ वाद्य-बजाने को लेकर हिन्दू-मुस्लिम झड़प हो गई। फलतः ब्रिटिश सरकार ने आर्वी के दशहरा के उत्सव पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परिणामतः दशहरा का त्यौहार एक मास पश्चात् मनाया गया। इस शुभ अवसर पर सर्वश्री डॉ. मुंजे, डॉ. खरे, डॉ. हेडगेवार तथा बैरिस्टर गोविन्दराव देशमुख के ओजस्वी भाषण हुए। भाषणोपरांत ये लोग नागपुर लौट आए, किन्तु आर्वी में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा हो गया। इसमें विजयश्री हिन्दुओं को प्राप्त हुई, किन्तु १४ हिन्दू-नेताओं पर मुकद्दमा चलाया गया। डॉ. मोहरीर को आजन्म कारावास का दण्ड मिला। शेष सभी नेता छूट गए। डॉ. हेडगेवार इस मुकदमे में तन, मन, धन से जुटे रहे। इस कारण उन्हें वर्धा जाना पड़ता था। एक बार अप्पा जी जोशी उनके साथ नागपुर आए। यहाँ संघ की शाखा को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। परिणामस्वरूप १८ फरवरी, १९२६ को वर्धा में संघ की शाखा आरम्भ हुई। नागपुर से बाहर संघ की यह प्रथम शाखा थी।

'इस प्रकार डेढ़ वर्ष की खटपट के बाद नागपुर तथा वर्धा में संघ चला और हिन्दुस्तान के सैकड़ों वर्षों के इतिहास में जिस समष्टि जीवन का अभाव बुरी तरह से खटक रहा था, उसे दूर करने का तंत्र सिद्ध हुआ।'

हिन्दुत्व-रक्षा-यज्ञ में संघ की प्रथम आहुति

४ सितम्बर, १९२७ का दिन नागपुर के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। एक ओर हिन्दुओं का महालक्ष्मी का उत्सव। घर-घर में चौसठ व्यंजन, छत्तीस भोग से देवी का अर्चन और दूसरी ओर यवनों का जलूस निकालकर हिन्दुओं को भयभीत करके उनके धन-जन की क्षति पहुँचाना। २ बजे 'अल्ला हो अकबर' तथा 'दीन-दीन' के नारे लगाते, लाठी, तलवार, भाला, छुरिका आदि शस्त्रों से सुसज्जित जलूस नागपुर की सड़कों पर निकला। इधर, श्री अण्णा सोहोनी के नेतृत्व में स्वयंसेवक अनेक गलियों में प्रतिरोध के लिए तत्पर थे। जैसे ही जलूस ने शरारत की, वैसे ही स्वयंसेवक उन पर टूट पड़े। जलूस में भगदड़ मची। कुछ मुसलमान दूसरी गलियों में हिन्दू घरों को लूटने भागे। उधर, वहाँ के स्वयंसेवकों ने उन्हें धराशायी किया। इधर, मुसलमानों का रक्त बहते देख हिन्दू-जन का मनोबल बढ़ा और वह भी लाठी लेकर निकल आए। परिणामतः मुसलमानों की ऐसी पिटाई हुई कि अनेक परलोकगामी हुए, अनेक घायल हुए और नागपुर के जीवन में सदा के लिए हिन्दुओं की

छाप बैठ गई। हाँ, चार-पाँच हिन्दू वीर-गति को प्राप्त हुए और 'घुण्डिराज लेहगाँवकर' नामक स्वयंसेवक मुस्लिम गोली से शहीद हुआ। हिन्दुत्व-रक्षा-यज्ञ में संघ की यह प्रथम आहुति थी। इस समस्त चक्रव्यूह का निर्माण करने और उसे सफल बनाने का श्रेय संघ के सेवकों और उनके मार्गदर्शक एकमात्र श्री सोहोनी जी को है। डॉक्टर जी इन दिनों बाहर गए हुए थे। जैसे ही उन्हें ज्ञात हुआ, वे नागपुर लौटे और निर्भय होकर घायलों की सेवा, दिवंगत हिन्दुओं के परिवारों से सहानुभूति तथा पकड़े गए हिन्दुओं के लिए न्यायिक सेवाओं का समुचित प्रबन्ध करने में जुट गए।

इस घटना के बाद नागपुर में शाखाओं की संख्या बढ़ने लगी। संघ का विस्तार क्षिप्र-गति से होने लगा। यही निष्कर्ष सर्वसाधारण हिन्दुओं को डॉक्टर जी समझाते, 'आपस के सारे कृत्रिम ऊपरी भेद मिटाकर सम्पूर्ण हिन्दू समाज एकत्व और प्रेम की भावना से तथा हिन्दू जाति की गंगा के हम सब बिन्दु हैं, इस अनुभव से खड़ा हो गया तो दुनिया में कोई भी शक्ति हिन्दू की ओर टेढ़ी नजर से नहीं देख सकेगी।'

प्रथम सरसंघचालक

संघ-कार्य का विस्तार अतिवेग से होने लगा। विस्तार के साथ-साथ संस्थागत उठने वाले प्रश्नों का समाधान भी आवश्यक होता है। ९-१० नवम्बर, १९२९ को संघचालकों और कार्यकर्ताओं की बैठक हुई, जिसमें संघटन का स्वरूप 'एक चालकानुवर्ती' रखने का निश्चय किया गया। साथ ही सर्वसम्मति से प्रथम सरसंघचालक का पद डॉ. हेडगेवार जी को दिया गया। प्रथम कार्यवाहक बने श्री बाला जी हुद्दार और सरसेनापति बने श्री मार्तण्डराव जोग। ११ नवम्बर १९२९ को डॉ. हेडगेवार जी को प्रथम सरसंघचालक प्रणाम दिया गया।

संघ के प्रारम्भ से लेकर मृत्युपर्यन्त डॉक्टर हेडगेवार एकनिष्ठ होकर राष्ट्र की सेवा करते रहे। संघ के माध्यम से उन्होंने विराट् हिन्दू-संघटन को देश के विभिन्न भागों में फैलाया। अनेक कर्मठ तपःपूत प्रचारकों की शृंखला खड़ी की, जिन्होंने माता-पिता का स्नेह, परिवार का प्रेम और बंधु-बांधवों का बंधन छोड़कर संघ-कार्य के लिए अपने जीवन समर्पित कर दिए। इन त्यागी, वैरागी प्रचारकों ने रात-दिन चौबीसों घंटे लगकर, भूखे रहकर और केवल चने चबाकर हिन्दू-संगठन की नींव को सुदृढ़ किया, वस्तुतः वे पारसमणि थे। उन्होंने अपने सम्पर्क से लाखों लोगों को सोने जैसा देदीप्यमान बनाया।

संघ का विस्तार और कार्य सुचारु रूप से चलाते हुए भी डॉक्टर जी ने राष्ट्र की अन्य गतिविधियों में भाग लेना नहीं छोड़ा। गाँधी जी के नमक-सत्याग्रह के समय डॉक्टर जी ने जंगल-सत्याग्रह में भाग लिया और २९ जुलाई, १९३० को ९ मास के सश्रम कारावास का दण्ड प्राप्त किया।

संघ कार्य वैसे ही कंटकाकीर्ण था ही, ऊपर से मध्यप्रान्त सरकार की कृपा हो गई। दिसम्बर १९३३ में एक परिपत्र द्वारा सरकारी कर्मचारियों को संघ के स्वयंसेवक बनने तथा उसके कार्यक्रमों में भाग लेने पर रोक लगा दी। डॉक्टर जी के अथक प्रयास से ३ मार्च १९३४ को यह प्रश्न विधान-सभा में उठा। गरमागरम बहस हुई। ७ मार्च १९३४ को बाबा

साहब कोलते ने सरकारी परिपत्रक के विरोध में एक कटौती प्रस्ताव (कट-मोशन) प्रस्तुत किया। तीन दिन की बहस के पश्चात् ९ मार्च १९३४ को कटौती-प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सरकार की करारी हार हुई। मंत्रिमंडल का पतन हो गया।

डॉक्टर साहब ने तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं से देश कार्यों के लिए परामर्श, तत्कालीन हिन्दू नेताओं से संघ-कार्य-विस्तार के लिए पथ-निर्देश ग्रहण करने में कभी संकोच प्रकट नहीं किया। वे जिससे मिलते उसे अपना बना लेते, यही उनकी महती विशेषता थी।

अपने व्यक्तिगत कारणों से संघ की हानि न हो, इसका डॉक्टर साहब सदा ध्यान रखते थे। अतः जंगल-सत्याग्रह के लिए जाते समय वे सरसंघचालक का भार डॉ. परंजपे को सौंप गए।

प्राणज्योति अनन्त में विलीन

२० जून १९४० को १०३-१०४ डिग्री बुखार सतत बना हुआ था। दूसरी ओर रक्तचाप बढ़ रहा था। डॉ. साहब रातभर वेदनाग्रस्त रहने के कारण बेचैन थे। नींद नहीं आ पाई थी। प्रातः थोड़ी झपकी लगी। संयोग से नेताजी सुभाष बोस मिलने आ गए। उनसे पूछा गया कि अनिवार्य हो तो जगा दिया जाए? सुभाष बोले, 'मैं कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य से आया था, परन्तु उन्हें नींद लगी है, मैं फिर आऊँगा।' वे कहकर चले गए।

बिगड़ती दशा को देखते हुए डॉ. हरदास, डॉ. विंचरे तथा डॉ. गोविन्द लाल शर्मा की टीम ने रीड की हड्डी से पानी निकालने का निर्णय ले लिया।

सायंकाल रीड की हड्डी में पेंचर किया तो जल-धार बह निकली। डॉ. साहब असह्य वेदना अनुभव कर रहे थे। अन्ततः उन्होंने अपने हाथों से अपना मुँह ढक लिया। पानी निकलने के बाद थोड़ा खून भी निकाला गया। रक्तचाप कम नहीं हुआ।

रात साढ़े ग्यारह बजे बुखार चढ़ा तो चढ़ता ही गया। लगभग ढाई बजे वे बेहोश हो गए। पूरी रात ऐसे ही बीती। प्रातःकाल डॉ. ना.भा. खरे को बुलवाया गया। उन्हें जीवन की आशा नहीं दिखी। २१ जून प्रातः ९ बजकर २५ मिनिट पर हिन्दुत्व के इस देवता ने मृत्यु के सम्मुख समर्पण कर दिया।



भारत, भारती और भारतीयता के अनन्य उपासक
(२०) माधव सदाशिवराव गोलवलकर
'श्री गुरुजी'

हिन्दू राष्ट्र के ज्योतिष जाग्रत भविष्य के रचनाकार एवं उन्नायक
महान् तपस्वी, अद्भुत संन्यासी और अतुलनीय कर्मयोगी
पूर्ण पुरुष

भारत, भारती और भारतीयता के अनन्य उपासक

उत्कट राष्ट्र-भक्त,

राष्ट्रीयता के सजग प्रहरी, किन्तु राजनीति से अलिप्त

प्रसिद्धि-पराङ्मुख

शाश्वत मानवता के आदर्श

कुशल-संघटक,

असाधारण दूरदर्शी विचारक

सामर्थ्य के उपदेशक,

शक्तिशाली और संघटित भारत के पुरस्कर्ता

राष्ट्र-समर्पित जीवन के प्रतीक

अडिग आस्था और धैर्य की साकार प्रतिमा

तथा आध्यात्मिक ज्ञान के ज्योतिपुंज

थे

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक

परमपूजनीय स्वर्गीय श्री माधव सदाशिवराव गोलवलकर ।

हार्दिक श्रद्धावश भारत की जनता उन्हें 'श्री गुरुजी' के नाम से सम्बोधित करती थी ।

बुद्ध की करुणा और शंकराचार्य की एकाग्रता, समर्थ गुरु रामदास की भक्ति और छत्रपति शिवाजी की शक्ति का अपूर्व संगम था उनमें । उनमें रामकृष्ण की तपस्या और विवेकानन्द के तेज का समन्वय था ।

राष्ट्रोत्कर्ष उनका अनन्य ध्येय था । उनके जीवन में अध्यात्म और विज्ञान का सुन्दर समन्वय हुआ था । वेदों की ऋचाओं के साथ उनका जितना परिचय था, उतना ही आणविक भौतिक शास्त्र से भी था । उनका सहवास शिक्षाप्रद रहता था ।

अवसरवादिता, स्वार्थपरता, सिद्धान्तहीनता और भ्रष्टाचार के इस युग में श्री गुरुजी का जीवन आदर्श, निष्ठा, त्याग और चरित्रबल का एक प्रकाश-स्तम्भ है। राष्ट्रदेव उनका आराध्य था। उसी के लिए उनका जीवन समर्पित था। देशहित के सिवाय वे कुछ भी नहीं सोचते थे। इस युग में उनका जीवन राष्ट्रीय चरित्र और निःस्वार्थ त्याग का प्रतीक था।

उनके जीवन में सादगी थी, उनका व्यक्तित्व प्रभावी था, उनकी वाणी में मोहिनी शक्ति थी। वे एक साधु पुरुष थे।

श्रीगुरुजी के जीवन की महत्ता, गहराई, लगाव तथा पवित्रता को वे लोग भी स्वीकार करते रहे, जो उनके सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे तथा उन पर टीका-टिप्पणी किया करते थे।

‘आत्मविस्मृत हिन्दू-समाज को स्वत्व का साक्षात्कार कराके श्री गुरुजी ने उसे संघटित शक्तिशाली तथा आत्मशक्ति से परिपूर्ण बनाने के राष्ट्रकार्य के लिए अपने शरीर का कण-कण और जीवन का क्षण-क्षण समर्पित कर दिया। लाखों युवकों ने उनके तपस्वी तथा तेजस्वी जीवन से प्रेरणा लेकर अपना घर-बार छोड़ा और समूचे भारत में प्रखर एवं विशुद्ध राष्ट्रवाद का अलख जगाया। यह उनकी अखण्ड साधना तथा अद्वितीय संघटन-कुशलता का ही परिणाम है कि हिन्दू समाज आज जाग्रत हो गया है और अपने ऊपर होने वाले किसी भी आक्रमण का प्रतिकार करने में सक्षम है।’

“तुम ज्योति पुंज, तुमने अविचल

जो दीप देश में बाले हैं

वे झंझा के झोंके सहकर भी

द्विगुणित इठलाने वाले हैं।

नृपनीति-जलधि कर कोप वृथा

उनके सम्मुख है गया हार।

हे माधव, सद्गुरु युगाधार॥

तुम त्यागमूर्ति, द्रष्टा, नेता

तव महिमा अक्षय है अपार।

हे माधव, सद्गुरु युगाधार॥”

—श्री ना. ग. वझे

परिवार-परिचय

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के (द्वितीय) सरसंघचालक परमपूजनीय श्री गुरुजी का जन्म विक्रम-संवत् १९६२ की माघ कृष्ण एकादशी तदनुसार १९ फरवरी, १९०६, सोमवार को प्रातः ४.३० बजे नागपुर में नाना के घर में हुआ।

उनके पूज्य पिताजी का नाम श्री सदाशिवराव गोलवलकर और माता जी का नाम लक्ष्मीबाई था, जो ‘भाऊजी’ और ‘ताई जी’ के नाम से प्रसिद्ध थे। श्री गुरुजी अपने माता-पिता की चौथी सन्तान थे। प्रथम दो सन्तानें तो शैशवावस्था में ही काल का ग्रास बन गई थीं। तीसरी सन्तान का नाम ‘अमृत’ था। तीन वर्ष पश्चात् इस अमृतमय गृहस्थी में ‘मधु’ ने प्रवेश किया। स्नेह से पुकारे जाने वाला मधु ही माधव था।

मधु का जन्म परिवार के लिए मंगलमय रहा। उसके जन्मोपरांत मामा के घर की स्थिति में सुधार होने लगा। दो वर्ष पश्चात् सन् १९०८ में श्री सदाशिवराव भी डाक-तार विभाग की नौकरी छोड़ शिक्षक बन गए। पारिवारिक स्थिति में सुधार के इन लक्षणों को देखकर ही मधु की मौसी अभिमान से कहतीं—'घर में यह सवाई माधव ही पैदा हुआ है।' (इतिहास साक्षी है कि हिन्दू पद-पादशाही का सर्वोत्तम उत्कर्ष पेशवा सवाई माधवराव के ही काल में हुआ था।)

अमृत और मधु की यह राम-लक्ष्मणी जोड़ी १२ वर्ष उपरान्त विधाता की इच्छा से बिछुड़ गई। १५ वर्ष की अल्पायु में अमृत सन्निपात का शिकार हो गया। सौभाग्यमंडित श्रीमती लक्ष्मीबाई 'ताई जी' की कुल नौ सन्तानें हुईं, उनमें से माधव को छोड़कर कोई जीवित नहीं बचा। इस अपार कारुणिक स्थिति पर भी अपनी वृद्धावस्था में एक बार श्री भाऊ जी ने कहा था, 'मेरे कई लड़के हुए। उनमें से एक मधु को छोड़कर कोई जीवित नहीं बचा, किन्तु उसने उन सभी की कमी पूरी कर दी। × × × बच्चों की आवश्यकता प्रेम के लिए हुआ करती है। संघ के रूप में हमें अखंड और अपार प्रेम का स्थान मिला है, इस बात का मुझे बहुत आनन्द होता है।'

गोलवलकर : मूलस्थानसूचक

श्री गुरुजी के पिता का नाम श्री सदाशिवराव गोलवलकर था। गोलवलकर वंश पाध्ये कर्म के लिए प्रसिद्ध था। पाध्ये वस्तुतः उपाध्याय शब्द का प्राकृत और लघु रूप है। मूल गाँव 'गोलवली' के ये पाध्येजन धर्माधिकरण, पौरोहित्य, अष्टादिकरण का ही कार्य करते थे। शनैः-शनैः जब ये मूल गाँव गोलवली को छोड़कर पंढरपुर, पैठण आदि में बिखर गए तो स्थानाभिमानवश ये लोग अपने को 'गोलवलकर पाध्ये' कहने लगे। कालान्तर में 'पाध्ये' शब्द लुप्त हो गया और केवल 'गोलवलकर' ही रह गया।

वंश-परम्परा

श्री गुरुजी के बाबा के पिताजी का नाम श्री सखाराम पंत गोलवलकर था। उन्होंने ही नागपुर में प्रवेश कर रामपुर, रामटेक आदि स्थानों पर इस गोलवलकर वंश को फैलाया था।

श्री गुरुजी के बाबा श्री बालकृष्ण पंत कवर्धा रियासत के न्यायालय में रीडर थे। अंग्रेज न्यायाधीश के दौरे के समय तत्तैयों के अकस्मात् आक्रमण से उनकी मृत्यु हो गई थी।

श्री गुरुजी के पिता श्री सदाशिवराव पर अपने पिता की आकस्मिक मृत्यु से दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। शिक्षा अधूरी छोड़कर उन्हें दो वर्ष तक पिताजी के स्थान पर नौकरी करनी पड़ी। यहाँ से वे कामठी आ गए, जहाँ डाकघर के बाबू बने। उनके इसी डाक-बाबू काल में श्री गुरुजी का जन्म हुआ। श्री गुरुजी के जन्म के दो वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १९०८ में उन्हें सरायपाली (जिला रायपुर) के मिडिल स्कूल में शिक्षण-कार्य मिल गया। सन् १९२९ तक वे इसी पद पर कार्य करते रहे। 'जी हजूरी' के अभाव और स्पष्टवादिता के कारण भाऊ जी को बार-बार स्थानांतरण के कष्ट झेलने पड़े। २१ वर्षीय अध्यापन-काल में उन्हें

दुर्ग, रायपुर, चांदा, भंडारा, खंडवा, बालाघाट, नरसिंहपुर, होशंगाबाद आदि स्थानों पर मारा-मारा फिरना पड़ा।

श्री गुरुजी की माता धार्मिक वृत्ति की नारी थीं। सहज प्रेमिल स्वभाव तथा भावुकता 'ताई जी' के विशेष गुण थे। अक्षर-ज्ञान तक शिक्षा सीमित होते हुए भी रामायण, महाभारत आदि भारतीय धर्म-ग्रन्थों की अच्छी जानकारी उन्हें थी। तीर्थ-यात्रा में उन्हें विशिष्ट रुचि थी। मिलनसारी और अतिथि-सत्कार उनके गुण थे।

श्री भाऊ जी और ताई जी को सन् १९४२ के नागपुर में अधिकारी-शिक्षण-शिविर (O.T.C) के क्रीडांगण में उपस्थित रहकर नियमित रूप से भाग लेते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने देखा है।

आज न भाऊ जी हैं, न ताई जी और न उनका एकमेव पुत्र माधव। भाऊ जी और ताई जी की वंश-परम्परा माधव पर समाप्त हुई, किन्तु माधव के पुण्य कर्मों की सुरभि से यह भारत सदा सुरभित होता रहेगा। लक्ष-लक्ष स्वयंसेवक, कोटि-कोटि हिन्दू अपने हृदय में उस वंश को पल्लवित और पुष्पित करते रहेंगे।

जिस दीपक ने हमें जलाया, आज उसी का गुण गाते हैं।

और उसी के पद चिह्नों पर, चल करके जलते जाते हैं।।

शिक्षा

श्री गुरु जी एम. एस-सी., एल-एल. बी. थे। इस उच्च, शिक्षा प्राप्ति के क्रम में आपने सभी परीक्षाएँ विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण कीं। एम. एस-सी. करने के पश्चात् मत्स्य-जीवन पर शोध कार्य करने के लिए वे मद्रास गए, पिताजी के नौकरी से निवृत्त हो जाने के कारण धनाभाव की पृष्ठभूमि में वे नागपुर लौट आए।

पिताजी के बार-बार स्थानांतरण के कारण श्री गुरुजी को अनेक विद्यालय बदलने पड़े। अक्षर-ज्ञान घर से आरम्भ हुआ। फिर अग्रज अमृत के साथ पाठशाला जाना प्रारम्भ किया। सन् १९१५ में श्री गुरुजी ने चौथी श्रेणी सर्वाधिक अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण की। इस शानदार सफलता के लिए उन्हें छात्रवृत्ति प्राप्त हुई।

सन् १९१९ में उन्होंने मिडिल की परीक्षा स-सम्मान उत्तीर्ण की और छात्र वृत्ति प्राप्त की। सन् १९२२ में उन्होंने चाँदा के जुबली हाई स्कूल से मैट्रिक परीक्षा पास की।

मैट्रिक करने के पश्चात् डॉक्टर बनने की पितृ-इच्छा को फलीभूत करने के लिए पूना के सुप्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलिज में पढ़ने गए, किन्तु विधि की विडम्बना से उन्हें पूना छोड़ नागपुर आना पड़ा। विडम्बना यह थी कि बम्बई सरकार की राजाज्ञा से पूना के बाहर का कोई छात्र उक्त कॉलिज में विद्याध्ययन नहीं कर सकता था। उनके नागपुर वापिस आने के कुछ समय पश्चात् ही वह राजाज्ञा वापिस ले ली गई।

श्री गुरुजी ने नागपुर में मिशनरियों द्वारा संचालित हिस्लॉप कॉलिज में प्रवेश ले लिया। सन् १९२४ में विज्ञान से इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण की। विशिष्टता यह है कि पारितोषिक उन्हें अंग्रेजी के लिए मिला।

डॉक्टरी की उपाधि प्राप्ति के लिए वे लखनऊ चले गए, किन्तु उन्हें मेडीकल कॉलिज

में प्रवेश नहीं मिला। अन्ततः हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९२६ में बी. एस-सी. तथा सन् १९२८ में एम. एस-सी. परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

जून १९३३ में कानून का अध्ययन आरम्भ किया और सन् १९३५ में नागपुर विश्वविद्यालय से एल-एल. बी. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

शिक्षण-विचित्रताएँ

श्री गुरुजी का अध्ययन, मनन, चिन्तन शैशवावस्था से ही अलौकिक था! उन्होंने ६ वर्ष की अल्पायु में पिता के मुख से सुन-सुनकर 'श्री रामरक्षा स्तोत्र' के मंत्र कंठस्थ कर लिए थे। गणित के प्रश्नों को मौखिक हल करना उनका स्वभाव बन गया था। कक्षा में पुस्तक न पढ़, अतिरिक्त पुस्तकें पढ़ना उनकी आदत थी। एक बार अध्यापक के पूछने पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया, 'आप जो विषय पढ़ा रहे हैं, वह मैं पहले ही पढ़ चुका हूँ। अतः समय बरबाद न करने की दृष्टि से मैं अन्य पुस्तक पढ़ रहा हूँ।'

कॉलिज जीवन में यदि किसी ने पूछा कि कक्षा से गायब रह कर क्या करते हो?' तो वे उत्तर देते—'वही जो कक्षा के भीतर किया जाता है।'

कुशाग्र बुद्धि एवं मेधावी इतने थे कि एक बार मिशनरी कॉलिज के एक प्राध्यापक गार्डिनर ने एक पाठ पढ़ाते समय बाइबिल का कुछ हवाला दिया, परन्तु वह गलत था। श्री गुरुजी खड़े हो गए और कहने लगे, 'यह संदर्भ ठीक नहीं है। वस्तुतः बाइबिल में इस प्रकार कहा गया है कि.....।' इस पर बाइबिल की प्रति मँगवाई गई। श्री गुरुजी का कथन सत्य निकला। प्रोफेसर गार्डिनर ने पीरियड समाप्ति पर श्री गुरुजी की पीठ ठोकी।

सच्चाई यह है कि वे ज्ञान के विविध क्षेत्रों में उसे भली-भाँति आत्मसात् करते हुए ही अग्रसर होते थे।

बी. एस-सी. अध्ययन-काल में वे एक बार मोतीझारा के बुखार से पीड़ित हो गए। चालीस दिन तक उन्हें चारपाई की शरण लेनी पड़ी। इन चालीस दिनों में अपनी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त मराठी के विख्यात लेखक स्वर्गीय हरिनारायण आष्टे के मोटे-मोटे दो उपन्यास एक ही दिन में पढ़ डाले। किसी मित्र के मना करने पर कि 'इतने बुखार में क्यों पढ़ रहे हो?' वे कहते, 'बुखार अपना काम कर रहा है, मुझे अपना काम करने दो।'

इसी प्रकार एक बार अध्ययन में मग्न श्री गुरुजी के पैर पर बिच्छू ने काट खाया। श्री गुरुजी ने काटे हुए भाग को साफ कर, दवाई लगाई और पानी में पैर रखकर पुनः पढ़ने बैठ गए। यह पूछे जाने पर 'तुम्हें बिच्छू ने काट लिया, फिर भी क्यों पढ़े जा रहे हो', उन्होंने उत्तर दिया, 'बिच्छू ने पैर को काटा है, सिर को तो नहीं।'

शिक्षण-काल में व्यायाम करना और खेलना उनके दैनिक कार्यक्रम थे। पढ़ाई में कमजोर छात्रों को पढ़ाना तथा अध्ययन में सहायता करना उनकी निःस्वार्थ सेवा की दिनचर्या थी। पिताजी द्वारा भेजे गए अपर्याप्त धन से ही कॉलिज का अध्ययन बनाए रखना तथा अधिक राशि की माँग न करके शरीर को कष्टमय जीवन की आदत डालना, उनके अन्तःकरण के गुण थे।

अध्यापन की ओर

श्री भाऊ जी की नौकरी से निवृत्ति के कारण आर्थिक अभाव परिवार पर मँडराने लगा। श्री गुरुजी उस समय मद्रास में मत्स्य-जीवन पर शोध-कार्य कर रहे थे। जब उन्हें यह समाचार मिला तो वे अपने शोध-कार्य को छोड़कर अप्रैल १९२९ में नागपुर लौट आए।

मई १९३० में वे वाराणसी के हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। वे काशी की ओर चल दिए, उस पवित्र विश्वविद्यालय में जहाँ गुरुओं के चरणों में बैठकर उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी।

प्राध्यापक बनने के पश्चात् भी, जबकि उन्हें पर्याप्त वेतन मिलने लगा था, उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ दूर नहीं हुईं। इसका कारण था, छात्रों और मित्रों की सहायता। छात्र-मित्रों का शेष-शुल्क भर देना, उनके लिए उपयोगी पुस्तकें खरीद देना, उनका स्वभाव बन गया था। वे विद्यार्थी के अध्ययन में सहयोग देना अपना कर्तव्य समझते थे। प्राणिशास्त्र के शिक्षक थे, किन्तु गणित, अर्थशास्त्र और दर्शन आदि विषयों को पढ़ाने में भी तत्पर रहते थे।

‘उनका छात्र-वर्ग उन्हें एक अत्यन्त मिलनसार, कठिनाइयों को समझने और समवेदना अनुभव करने वाले तथा सहायतार्थ सर्वदा तत्पर रहने वाले प्राध्यापक के रूप में जानता था। विद्यार्थीगण इन्हें गम्भीर प्राध्यापक, अभिन्न-हृदय मित्र तथा वात्सल्य की भावना से परिपूर्ण अभिभावक समझता था। उनको अपने छात्रों का अत्यन्त स्नेह एवं श्रद्धा से पूर्ण सम्बोधन ‘गुरुजी’ प्राप्त हुआ।’

अपनी तीन वर्षीय नियुक्ति की अवधि समाप्त होने पर सन् १९३३ में श्री गुरुजी नागपुर वापिस चले गए।

अनुशासन प्रिय

श्री गुरुजी जहाँ इतने संवेदनशील और परोपकारी सन्त थे, वहाँ वे कठोर अनुशासन प्रिय अध्यापक भी थे। नियम-पालन में छोटे-बड़े का भेदभाव वे अपराध मानते थे। एक बार ‘ओल्ड बॉयज एसोसिएशन’ के एक कार्यक्रम में सभागृह में प्रवेशार्थ अलग-अलग द्वार थे। जब एक वरिष्ठ प्राध्यापक ने नियम भंग कर महिलाओं के प्रवेश द्वार से प्रवेश करने का दुस्साहस किया, तो द्वार पर नियुक्त छात्रों ने उन्हें रोक दिया। बड़प्पन का भूत प्राध्यापक पर सवार था, वे दुराग्रह पर उतर आया। अन्ततः विद्यार्थियों ने उन्हें भवन से बाहर निकाल दिया।

प्राध्यापकों में इस गुस्ताखी के लिए विद्यार्थियों को दण्ड देने की चर्चा चल रही थी कि श्री गुरुजी पहुँच गए। श्री गुरुजी ने इतनी दृढ़ता से उन छात्रों के कार्य का समर्थन किया कि दूसरी बार यह सुझाव सामने लाने का साहस किसी को न हुआ।

संघ-प्रवेश

श्री गुरुजी ने विद्यार्थी-जीवन में स्वामी विवेकानन्द की सम्पूर्ण पुस्तकें पढ़कर उनकी आत्मा का साक्षात्कार किया था। उधर, नागपुर के रामकृष्ण आश्रम से उनका सम्पर्क हो

चुका था। इंटरमीडिएट में पढ़ते समय श्री मूलजी के साथ प्रारम्भ किए हुए धर्म और वेदान्त के अध्ययन में ये अब अधिक समय देने लगे और वेदांत सम्बन्धी ग्रन्थों से प्राप्त आध्यात्मिक प्रेरणा से प्रभावित होकर श्री गुरुजी कुछ योगाभ्यास भी करने लगे थे।

अध्ययन-समाप्ति पर श्री गुरुजी के मन में स्वामी विवेकानन्द की भाँति भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के निमित्त जीवन अर्पण करने का विचार था। दूसरी ओर, हिन्दू-समाज की दुर्दशा को देखकर वे घण्टों एकान्त में बैठकर सोचा करते। इस प्रकार उनके जीवन में दो धाराएँ पनपने लगीं—एक भारतीय संस्कृति और परम्परा के अनुरूप हिन्दू-समाज के पुनरुत्थान की भावना और दूसरी, संसार से विरक्त हो आध्यात्मिक जीवन में ही विलीन हो जाने की भावना। इन दोनों में से एक का अनुसरण करने के लिए दूसरी को छोड़ना अनिवार्य था। इसी मानसिक संघर्ष में कुछ काल बीत गया। विशेषतः मद्रास से नागपुर आने और प्राध्यापक बन काशी जाने तक का काल अन्तर्द्वन्द्व का समय था। इस काल में नागपुर में रहकर समाज की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन भी हो सका।

‘सुदृढ़ और चरित्रवान् युवकों की संगठित शक्ति के अभाव में कोई भी देश कभी भी पनप नहीं सकता, मूलतः इस विचार से प्रेरित होकर सन् १९२५ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई। गुरुजी प्रारम्भ से ही संघ से परिचित अवश्य थे, किन्तु संघ के साथ उनका प्रथम सम्पर्क काशी में ही हुआ।’

काशी विद्या का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ विविध विषयों में स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए विभिन्न प्रान्तों के मेधावी और होनहार छात्र आते थे। अतः वहाँ संघ की शाखा खोलने का परमपूजनीय डॉक्टर जी का विचार बना और सन् १९३०-३१ के संघ के शैशव काल में काशी-विश्वविद्यालय के प्रांगण में शाखा खोल दी गई। उस समय किसी को संघ का स्वयंसेवक बनाना सहज कार्य न था। व्यक्ति से अनेक बार भेंट करके तथा अपने सौजन्य और स्नेह से आकृष्ट करके उसे संघ की ओर उन्मुख किया जाता था।

इन्हीं दिनों श्री गुरुजी प्राध्यापक बनकर काशी में आए थे। श्री गुरुजी के अनेक शिष्य और मित्र संघ के स्वयंसेवक थे। इन सबने मिलकर श्री गुरुजी के संघ-परिचय को और घनिष्ठ बनाने का यत्न किया, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली भी।

श्री गुरुजी किसी भी वस्तु का बाह्य रूप देखकर कभी कोई धारणा नहीं बनाते थे। अब तक के संस्कारों और विचारों के फलस्वरूप वे किसी भी वस्तु को स्वीकार करने से पूर्व जीवन की मूलभूत आध्यात्मिक कसौटी पर कसते थे। इस दृष्टि से जब उन्हें संघ-कार्य में विशेषता प्रतीत होने लगी, तब वे टेनिस का रैकेट या हॉकी की स्टिक एक ओर रखकर संघ-शाखा में जाने लगे।

प्रारम्भ में ही श्री गुरुजी नियमित स्वयंसेवक बने हों, ऐसा नहीं। उनका विद्या-व्यसन, योगासन और ध्यान-धारणा नियमितता में बाधक थे, किन्तु संघ के तत्त्वज्ञान, स्वयंसेवकों के साहस तथा कार्यक्रमों के आकर्षण के कारण वे अब संघ की शाखा में व्यक्तिगत रुचि लेने लगे।

इधर, विजयदशमी के कार्यक्रम में पूज्य डॉ. हेडगेवार काशी शाखा में उपस्थित थे।

इस कार्यक्रम में श्री गुरुजी को भी निमंत्रण दिया गया था। उस समय किसी को क्या पता था कि यह वर्तमान और भावी सरसंघचालकों का प्रथम मिलन है। डॉक्टर साहब श्री गुरु को अपने साथ भंडारा भी ले गए। इस प्रकार डॉक्टर साहब ने अपने व्यक्तिगत सहवास में उन्हें संघ की सुस्पष्ट कल्पना करा दी। परिणामतः श्री गुरुजी संघ-कार्य में और अधिक रुचि लेने लगे।

श्री गुरुजी का संघ-प्रेम उनके प्राध्यापक मित्रों में चर्चा का विषय बन गया। कभी कोई प्राध्यापक मित्र आदि यह कहता कि आप अपने संघ में अमुक बात सिखाइए।' इस पर भी गुरुजी का उत्तर होता, 'आज मैं जो संघ सिखा रहा हूँ, उसी संघीज्म का अध्ययन कर आप लोगों को वह छात्रों को पढ़ाना होगा।'

इन शब्दों से प्रकट होता है कि श्री गुरुजी को संघ की विचाराधारा की सफलता में दृढ़ विश्वास हो चुका था।

और, श्री गुरुजी संघ के स्वयंसेवक बन गए। उस समय किसी को क्या पता था कि वाराणसी शाखा का यही स्वयंसेवक पूज्य डॉ. हेडगेवार के पश्चात् संघ के सरसंघचालक पद का गम्भीर दायित्व सम्भालेगा।

अधिवक्ता के रूप में

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी में कार्य-काल समाप्त कर १९३३ में श्री गुरुजी नागपुर लौट आए थे। माताजी की इच्छा पूर्ति के लिए उन्होंने कानून की पढ़ाई आरम्भ कर दी थी। १९३५ ई. में वे वकील बन गए थे। फलतः नागपुर के बड़कस चौक में श्रीदेव के बाड़े पर 'एम. एस. गोलवलकर, एडवोकेट' का नामपट्ट लगा दिया गया।

वकालत का उद्देश्य कितना भी शुद्ध क्यों न हो, परन्तु अपने मुवक्किल को जिताने के लिए झूठी गवाहियाँ तैयार करना और प्रवचनामय प्रमाण एकत्र करना श्री गुरुजी के स्वभाव के प्रतिकूल था। परिणामतः ४-५ मास पश्चात् ही इस पेशे की बुराइयों से बचने के लिए मित्र श्री दत्तोपन्त देशपांडे के साथ मिलकर यह काम करना आरम्भ किया। कार्यालय भी श्रीदेव के बाड़े से हटाकर वाकर रोड स्थित श्री साधु के बाड़े में ले गए। यह संयुक्त मोर्चा कुछ रुचिकर रहा।

श्री देशपांडे गवाह-सबूत आदि से सम्बन्ध रखने वाले मुकदमे का काम करते और श्री गुरुजी केवल सेशन न्यायालय में पुनर्विचार के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले प्रार्थना-पत्रों (अपीलों) का काम हाथ में लेते। अपीलों की सफलता कानून के गम्भीर अध्ययन तथा तीक्ष्ण बुद्धि पर निर्भर करती है। इस कार्य में श्री गुरुजी सफल रहे।

इधर, मेघदूत में वर्णित सुरम्य स्थान 'रामगिरि' में, जिसे आजकल रामटेक के नाम से जाना जाता है, श्री गुरुजी के पिताजी भाऊजी ने एक मकान सन् १९३१ में खरीद लिया था, किन्तु श्री गुरुजी प्रायः नागपुर में मामा के यहाँ ही रहते थे।

वकालत पढ़ते हुए और वकालत करते हुए उनका ध्यान-धारणा तथा तत्त्वचिन्तन एवं रामकृष्ण आश्रम में दैनिक चर्चा में भाग लेने का क्रम बना रहा और एक दिन माता-पिता की इच्छाओं पर तुषारापात करते हुए उन्होंने पिताजी को कहलवा ही दिया, 'विवाह करने

का मेरा इरादा नहीं है। उसमें मुझे कतई कोई सुख प्राप्त न होगा। परन्तु यदि आपकी आज्ञा ही होगी तो कर लूँगा।'

वकालत में विधि की पेचीदगियों को समझने और कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत करने के ढंग में श्री गुरुजी को सफलता मिलने लगी। इस सफलता से प्रसन्न हो नागपुर के प्रसिद्ध वकील और भूतपूर्व क्रांतिकारी श्री विश्वनाथराव केलकर ने अपने यहाँ आने वाला बहुत-सा काम श्री गुरुजी की ओर भेज दिया। इतना ही नहीं, कई मुकदमों में तो श्री गुरुजी की विश्लेषण तथा प्रतिपादन शैली की प्रशंसा न्यायाधीशों ने भी की।

फिर भी, श्री गुरुजी वकालत में उतना ही समय लगाते, जिससे भरण-पोषण के लिए पर्याप्त राशि प्राप्त हो जाए। अर्थोपार्जन ही तो उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था।

दिव्य भव्य राष्ट्र दीप, तेज आपका अनूप।

ज्योतिर्मय हृदय सकल इसी दीप्ति से सब हों॥

अध्यात्म की ओर

नागपुर के श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम, धनतोली की ओर श्री गुरुजी का प्रारम्भ से ही झुकाव था। उनकी आध्यात्मिक वृत्ति, जिसका बीजारोपण काशी में हुआ था, अब अधिकाधिक प्रखर हो चली। इसका श्रेय स्वामी अमूर्तानन्द जी को है, जिन्हें श्रद्धालु 'स्वामी अमिताभ' कहते थे। श्रीगुरुजी ने स्वामी अमिताभ के सान्निध्य का पूर्ण लाभ उठाया। कभी-कभी तो वे रात्रि को दो बजे तक स्वामी जी से चर्चा में संलग्न रहते।

पहले तो स्वामी अमिताभ ने श्री गुरुजी के माता-पिता के वार्द्धक्य का ध्यान कर उन्हें वकालत के पेशे को चमकाने की सलाह दी, किन्तु जब उन्हें लगा कि इस अग्निपुंज की रुचि इस ओर बिलकुल भी नहीं है, तो स्वामी जी ने श्री गुरुजी को सारगाछी जाकर स्वामी अखंडानन्द जी से दीक्षा लेने की सलाह दी। दूसरी ओर, इस कार्य के लिए स्वामी अखंडानन्द जी की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। अतः पत्र लिख दिया गया।

आजीवन ब्रह्मचारी रहकर राष्ट्रोत्थान तथा ज्ञानोदय के लिए संन्यस्त वृत्ति से अपना समग्र जीवन भारत माता के चरणों पर समर्पित करने का धीरोदात्त सन्देश देने वाले ब्रह्मलीन स्वामी विवेकानन्द का आदर्श उन्हें अपनी ओर निरन्तर आकृष्ट कर रहा था। सारगाछी से स्वीकृति आ गई।

भगवान् बुद्ध की भाँति श्री गुरुजी एक दिन जुलाई १९३६ में चुपके से सारगाछी चले गए। यह बात केवल दो-चार घनिष्ठ मित्रों के अतिरिक्त किसी को ज्ञात न थी। पहले तो ये मित्र श्री गुरुजी के बारे में 'पता नहीं' की रट लगाते रहे, किन्तु नागपुर के लोगों को शीघ्र यह पता चल गया कि वे सारगाछी गए हैं।

माता-पिता की जानकारी के लिए श्री गुरुजी ने सहयोगी वकील श्री दत्तोपन्त पांडे के घर से एक पत्र लिखा, जो उनके नागपुर छोड़ने के २-३ दिन बाद डाक में डाला गया। उनकी वकालत तथा भावी घर-गृहस्थी की ओर आशा भरी दृष्टि से देखने वाले भाऊजी तथा ताई जी के लिए यह पत्र मर्मन्तक पीड़ा पहुँचाने वाला सिद्ध हुआ।

सारगाछी नामक यह छोटा-सा कस्बा बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले में है। इस आश्रम

के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी अखंडानन्द वेदान्त के अच्छे पंडित तथा ब्रह्मज्ञानी पुरुष थे। उनकी सेवा में रहकर अध्यात्म की दीक्षा लेने के लिए श्री गुरुजी सारगाछी पहुँचे थे।

इस एम. एस-सी, एल-एल. बी. शिष्य को पाकर स्वामी अखंडानन्द जी प्रसन्न हुए। ईश-कृपा से दोनों गुरु-शिष्य की मनोवृत्ति भी समान थी। उधर, श्री गुरुजी भी शीघ्र आश्रम के वातावरण में समरस हो गए। वे श्रद्धा से स्वामी जी की सेवा करते। उनके कपड़े धोना, स्नान कराना, फल खिलाना, चाय पिलाना, भोजन कराना, बिस्तर बिछाना आदि समस्त कार्य वे अत्यन्त तत्परता और आत्मीयता से करते थे। वृद्धावस्था के कारण स्वामी जी प्रायः अस्वस्थ हो जाते तो श्री गुरुजी रात-रात भर उनकी सेवा करते रहते। सेवा करने से दो लाभ श्री गुरुजी को प्राप्त हुए—(१) महान् योगी की अनेक अवस्थाएँ बिलकुल समीप से देखने का अवसर प्राप्त हुआ। (२) समय-समय पर गुरु-मुख से प्रकट होने वाले जीवन-तत्त्व विषयक उद्गार सुनने को मिले।

दीक्षा की बात कभी चली नहीं। इसी प्रकार सेवा में पाँच मास बीत गए। इधर, स्वामी अमिताभ भी स्वामी अखंडानन्द जी की आज्ञा से सारगाछी पहुँच गए, क्योंकि स्वामी अखंडानन्द जी का स्वास्थ्य काफी ढल रहा था और वे चाहते थे कि उनका शिष्य स्वामी अमिताभ भी उनके पास आ जाए। स्वामी अमिताभ और श्री गुरुजी का पुनः मिलन हो गया।

स्वामी अमिताभ ने श्री गुरुजी की समस्त स्थिति को देखा, उधर स्वामी अखंडानन्द जी का स्वास्थ्य निरन्तर हासोन्मुख था। अन्ततः एक दिन स्वामी अमिताभ ने स्वामी अखंडानन्द जी से दीक्षा की स्वीकृति ले दी।

अगले दिन आश्रम की विनोद कुटी में श्री गुरुजी को स्वामी अखंडानन्द जी ने दीक्षा प्रदान की तथा देवदर्शन के लिए मन्दिर भेजा। प्रभात वेला में स्वामी अमिताभ मन्दिर में पूजा कर रहे थे। श्री गुरुजी को मन्दिर में आता देखकर उन्हें सन्तोष हुआ। अमिताभ स्वामी का कहना है, 'उस समय गुरुजी प्रशान्त महासागर के समान शान्त तथा गम्भीर दिखाई दे रहे थे।'

श्री गुरुजी दीक्षा प्राप्त कर नागपुर नहीं लौटे, अपितु गुरु-सेवा में रात-दिन लीन रहने लगे। इधर, स्वामी जो की दशा बिगड़ गई। डॉक्टर के परामर्श पर स्वामी जी को बैलूर ले जाने की तैयारी हुई।

महान् गुरु-सेवी शिष्य गुरु का साथ कैसे छोड़ता? श्री गुरुजी साथ गए। कलकत्ता पहुँचते समय स्वामी जी का बुखार १०४ डिग्री पहुँच गया और वे समाधि जैसी शान्ति में थे।

७ फरवरी १९३७ को दोपहर ३ बजकर ७ मिनट पर स्वामी जी को मोक्ष-प्राप्ति हुई। श्री गुरुजी उनके समीप ही बैठे थे। गुरु के परमेश्वर-सान्निध्य का दृश्य देख रहे थे। सम्भवतः स्वामी अखंडानन्द के कर्मयोगी जीवन की पावन ज्योति अब श्री गुरुजी के भीतर प्रज्वलित हो रही थी।

अपने पूज्य गुरु के निर्वाण से श्री गुरुजी बहुत दुःखित थे। अब उनका अन्तःकरण

भक्तिमय हो चुका था। उनका जीवन आध्यात्मिकता का शाश्वत सन्देश प्राप्त कर चुका था। कुछ दिन बाद ही, मार्च १९३७ में वे नागपुर लौट आए।

श्री गुरुजी के चेहरे पर अध्यात्म का तेज था। आश्रम में रह कर केश बढ़ा लिए थे। इन बालों पर हाथ फेरते हुए एक बार स्वामी अखंडानन्द जी ने कहा था, 'ये बाल तेरे खूब फबते हैं। देखना इन्हें कभी काटना नहीं।' श्री गुरुजी ने अपने गुरु की आज्ञा का आजन्म पालन किया।

श्वास तेरे तुझे अर्पित।

तन समर्पित, मन समर्पित ॥

संघ कार्य के लिए जीवन-समर्पण

नागपुर लौटने पर श्री गुरुजी को जीवन-दिशा का निर्धारण करना था। यह जीवन का संक्रमण-काल था। किसी ओर भी जीवन-दिशा मुड़ सकती थी।

एक ओर, उन्होंने प्रेक्टिस के लिए पुनः वकालत का नामपट्ट लगवा दिया था। दूसरी ओर, वे दिन में दो बार रामकृष्ण आश्रम जाते। शेष समय पठन-पाठन, गायन-वादन, गप-शप और अंध-विद्यालय के चक्कर लगाने में बीतता था। कभी-कभी डॉक्टर हेडगेवार जी के यहाँ चले जाते। वे कभी नागपुर रहते और माता-पिता के पास रामटेक चले जाते।

फिर भी, वकालत के प्रति वे उदासीन थे। धन कमाकर वैभवशाली जीवन बिताने की इच्छा न थी। मन में राष्ट्रहित कार्य करने की अभिलाषा थी, संन्यासी बनकर।

यद्यपि श्री गुरुजी का संघ से घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था। वे सारगाछी आश्रम जाने से पूर्व सन् १९३३ में तुलसी बाग स्थित केन्द्रीय संघ-शाखा के कार्यवाह रह चुके थे; बम्बई में प्रचारक बनकर कुछ समय लगा आए थे; सन् १९३४ में अकोला के संघ-शिक्षण-शिविर के सर्वाधिकारी रह चुके थे, फिर भी वे संघ-कार्य के लिए जीवन-समर्पण की ओर उन्मुख नहीं हुए थे।

संघ-संस्थापक पूज्य डॉक्टर हेडगेवार ने श्री गुरुजी के जीवन के इस संक्रमण काल में उन्हें राष्ट्रहित कार्य करने की उत्कट प्रेरणा दी। एक बार डॉक्टर साहब ने श्री गुरुजी को समझाते हुए कहा, 'यह सच है कि आध्यात्मिक सुख सबसे श्रेष्ठ है और उसकी प्राप्ति के बाद मनुष्य को प्राप्त करने के लिए कुछ बाकी नहीं रह जाता, किन्तु जरा विचार कर देखिए। आपको आध्यात्मिक सुख मिलने से उस समाज का, जिसने आपको जन्म दिया है, क्या लाभ? क्या उसके प्रति आपका कोई कर्तव्य नहीं है? क्या उसका ऋण चुकाना आप नहीं चाहते? हिन्दू-समाज की वर्तमान दुरवस्था में जब उसकी नाम शेष होने की स्थिति हो रही है, आपको क्या अधिकार है कि आप केवल अपने लिए आध्यात्मिक सुख प्राप्ति की बात सोचें?'

चोट गरम लोहे पर पड़ गई। श्री गुरुजी के सामने मार्ग स्पष्ट हो गया। उन्होंने संघ के माध्यम से राष्ट्र-सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया।

डॉक्टर जी इस नवयुवक संन्यासी के तेज, तप, कार्य-क्षमता, विद्वत्ता, योग्यता, राष्ट्र-चिंतन की लगन की परख कर ही चुके थे। अतः संघ-दर्शन को श्री गुरुजी के जीवन में

पूर्णरूपेण उतारने के लिए वे प्रवासों में साथ रखते। वहाँ भाषण देने, बैठकें लेने, प्रचारकों एवं कार्यकर्ताओं का मार्ग-दर्शन करने के लिए अब डॉक्टर जी श्री गुरुजी को आगे कर देते थे।

कुछ समय पश्चात् डॉक्टर जी ने श्री गुरुजी को कलकत्ता में संघशाखा खोलने के लिए भेज दिया। अथक परिश्रम से श्री गुरुजी ने वर्ष-प्रतिपदा के शुभ दिन २२ मार्च, १९३९ को वहाँ संघ-शाखा खोल दी। कलकत्ता-निवास में संघ-कार्य से अवकाश मिलने पर वे श्री रामकृष्ण आश्रम के बेलूर मठ में चले जाते थे।

अप्रैल के मध्य में श्री गुरुजी वापिस आ गए। इधर, शिक्षणशिविर आरम्भ होने वाला था, उसकी कार्यव्यवस्था करनी थी। पिछले वर्ष की भाँति इस वर्ष भी वे शिक्षण शिविर के सर्वाधिकारी बनाए गए। शिविरोपरान्त उनकी नियुक्ति सरकार्यवाह के पद पर हुई। उनके कन्धों पर संघ कार्य का पूर्ण भार सौंपने की दिशा में ही उठाया गया पहला पग था।

सन् १९४० में डॉक्टर जी बहुत बीमार रहने लगे। स्थिति गम्भीर से गम्भीरतर होती गई। श्री गुरुजी ने डॉक्टर जी की सेवा करने का व्रत मन में लिया। उसके लिए रात-दिन लगे रहते। सोने का अवकाश मिला है या नहीं, भोजन का अवसर निकल पाया या नहीं, कोई चिन्ता नहीं। साथ ही संघ कार्य की व्यवस्था भी सुचारु रूप से देख रहे थे। अनेक बार डॉक्टर जी रात्रि ११-१२ बजे तक पत्रों के उत्तर लिखवाते। फिर, श्री गुरुजी उन्हें स्वयं डाक-घर छोड़ने जाते।

इस सहवास से गुरुजी डॉक्टर जी के जीवन और उनके संघ-प्रेम से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने देखा कि सन्निपातावस्था में डॉक्टर जी के मुख से जो शब्द निकलते थे, वे केवल संघ सम्बन्धी ही होते थे। इस महान् नेता के जीवन के अन्तिम १५-१६ दिनों के सहवास में श्री गुरुजी ने डॉक्टर जी के आत्म-दर्शन से आत्मसात् करने का जो प्रयास किया, वही संघ-कार्य की प्रगति में सहायक हुआ।

सरसंघचालक श्री गुरुजी

पूज्य डॉक्टर जी गम्भीर रूप से बीमार थे। डॉक्टरों ने अंतिम इलाज के रूप में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) से पानी निकालने के लिए लम्बर-पंचर करने का निश्चय डॉक्टर जी को बताया।

‘आपके ऐसा करने से पहले मुझे थोड़ा समय चाहिए’, डॉक्टर जी ने कहा। आजीवन सतत जागरूक और संघकार्य की वृद्धि में ही प्रत्येक श्वास नियोजित करने वाले इस महान् द्रष्टा को अपनी अन्तिम श्वास की गुरुता विदित थी।

गहन विचार में विमग्न डॉक्टर जी ने २० जून, १९४० की प्रातः श्री गुरुजी को अपने पास कमरे में बुलाया।

जीवनभर सँजोई थाती को सुयोग्य हाथों में सौंपने का समय आ चुका था। यज्ञ की पूर्णाहुति का मन्त्रोच्चारण, आरती के दीप निर्वाण के समय मंत्र पुष्पांजलि अथवा साधना की सफलता पर उपास्य देव के चरणों में सिद्धि समर्पण की आतुरता में जितना मांगल्य, जितनी पवित्रता, जितना उत्साह और कृतकार्य होने की तत्परता रहती है, वैसे ही आतुरता

से उन्होंने श्री गुरुजी से कहा—

'अब लम्बर-पंचर करने का समय आ गया है। मैं बच गया तो ठीक अन्यथा संघ का सम्पूर्ण कार्य आप सँभालिए।'

माता का स्नेह, गुरु का मार्ग-दर्शन, पिता का दायित्व जहाँ एक साथ एकत्रित हो गया था, वही अपनी समस्त पूँजी हस्तांतरित कर रहा था। संघ का सरसंघचालक शरीर बदलता है, आत्मा नहीं। बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य का आह्वान था अन्तिम वाक्य। और सम्पूर्ण भविष्य की व्यवस्था इन सरल शब्दों में निहित थी।

श्री गुरुजी ने अत्यन्त शोक-विह्वल होकर कहा, 'डॉक्टर जी आप क्या कहते हैं, आप शीघ्र ही अच्छे हो जाएँगे।'

आत्मा का आह्वान व्यर्थ नहीं था। डॉक्टर जी मुस्कराए और बोले, 'ठीक है, पर मैंने जो कहा है, उसे अवश्य ध्यान में रखिए।'

पददलित हिन्दू समाज को संघटन के द्वारा विजयी और वैभवशाली बनाने की आकांक्षा को साकार करने का कार्य-दायित्व डॉक्टर जी सुयोग्य कंधों पर सौंप चुके थे।

२१ जून, १९४० को संघ के संस्थापक एवं आद्य सरसंघचालक का परलोकगमन हो गया। ३ जुलाई, १९४० को श्री गुरुजी की सरसंघचालक रूप में नियुक्ति की घोषणा विधिवत् कर दी गई।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

संघ नेतृत्व के ३३ वर्ष

परम पूजनीय श्री गुरुजी ने ३ जुलाई, १९४० को सरसंघचालक पद का भार सम्भाला था और ५ जून, १९७३ को उन्हें जीवन के साथ-साथ इस पद के गुरुतर भार से भी मुक्ति मिली। विश्व में सम्भवतः श्री गुरुजी ही प्रथम नेता थे, जिन्होंने अपनी संस्था का ३३ वर्ष तक अबाध गति से नेतृत्व किया हो।

दूसरे, भारत में श्री गुरुजी प्रथम साधक थे, जिन्होंने छह दशक से भी अधिक बार आसेतु हिमाचल भारत की यात्रा की और निकटता से भारत-माता के दर्शन किए। उनका प्रथम प्रवास सन् १९४१ में आरम्भ हुआ था और मृत्यु से जूझते हुए भी अन्तिम प्रवास १२ मार्च, १९७३ को कलकत्ता में समाप्त कर १४ मार्च, १९७३ को वे नागपुर लौट आए। कभी पंचनद और कभी कश्मीर की उपत्यकाओं में स्वयंसेवकों के साथ विनोद करते हुए भारतीय-संस्कृति की एकात्मता का संदेश सुनाते हुए दिखाई देते, तो कभी कन्याकुमारी के समुद्र के मनोहर तट पर बैठ राष्ट्र के भविष्य के सम्बन्ध में कार्यकर्ताओं के साथ परामर्श करते हुए दिखाई देते।

तीसरे, श्री गुरुजी देश के एकमात्र नेता थे, जिन्होंने आजीवन राजनीति का प्रभाव अपने ऊपर न होने दिया और संस्था को भी इससे बचाए रखा। प्रसिद्धिपराङ् मुख इस नेता ने न कभी राजकीय उपाधि की कामना की, न इनके मन में राजकीय सम्मान की आकांक्षा हुई। हाँ, देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों और राष्ट्रद्रोहियों से सरकार को समय-समय

पर वे सचेत अवश्य करते रहे।

चौथे, श्री गुरुजी ने जितने पत्र लिखे हैं, विश्व में शायद ही किसी महापुरुष ने इतने पत्र लिखे हों। श्री गुरुजी पत्र स्वयं ही लिखा करते थे। समझा जाता है कि वे दिन में पाँच पत्र तो लिखते ही थे। अर्थात् वर्ष में १८०० के लगभग और ३३ वर्ष में लगभग ६०,००० पत्र। कार्य करने की उनकी यह अद्भुत शक्ति थी।

श्री गुरुजी की पाँचवीं विशेषता थी, उनकी अलौकिक स्मरण शक्ति। समस्त भारत में भ्रमण करते हुए कार्यकर्ताओं, सहानुभूति रखने वालों तथा स्वयंसेवकों से परिचय होता था, वे उसे भूलते न थे। उनकी स्मरण-शक्ति की अनेक घटनाएँ सुप्रसिद्ध हैं।

श्री गुरुजी ने सुदृढ़ राष्ट्र की आधार शिला (चरित्रवान्, बलिष्ठ और निःस्वार्थ देशभक्त युवकों) के निर्माण का लक्ष्य सामने रखकर असंख्य युवकों के मन में उत्साह और प्रेम का जीवन भर दिया। संघकार्य के निमित्त उन्होंने रात देखी न दिन। उनके आदर्श जीवन से स्फूर्ति पाकर देश में संघ-शाखाओं का जाल-सा बिछ गया। 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रत्व है' का मंत्र भारत के गाँव-गाँव से उच्चरित हो उठा। हिन्दू हृदय से हीनता की भावना लुप्त हुई। हिन्दू आत्म-गौरव के साथ संगठित होकर हिमाचल की भाँति खड़ा हो गया। 'हिन्दू तन-मन, हिन्दू जीवन, रग-रग हिन्दू मेरा परिचय' का सूत्र उसकी रग-रग से ध्वनित हो उठा। भारत ही हमारी मातृभूमि, पितृभूमि तथा पुण्यभूमि है। माता की सेवा करना, उसके भाल को गौरवान्वित करना, उसे पुनः वैभवशाली बनाना और गुरु-पद प्राप्त कराना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है। आज भी हजारों प्रचारक पारिवारिक बन्धनों को तोड़, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ाकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक, हिन्दुत्व की अलख जगाने में अहर्निश संलग्न हैं। यह श्री गुरुजी के पुण्य प्रताप और कार्यशक्ति का ही प्रभाव है।

सुदृढ़ नेतृत्व के साथ-साथ प्रभावशाली वक्तृत्व का गुण भी श्री गुरुजी में पूर्ण मात्रा में था। उनकी वक्तृत्व शक्ति अद्भुत थी। हिंदी, अंग्रेजी तथा मराठी भाषा पर उनका समान अधिकार था। भाषण देते हुए हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, दर्शन और उपनिषदों, गीता और पुराणों से तथा विदेशी लेखकों और विद्वानों के आप्त वाक्यों को अविकल रूप में उद्धृत करना श्री गुरुजी के ज्ञान और गम्भीर अध्ययन का द्योतक था। विनोदी वे इतने थे कि भाषण में सहज ही हास्य उत्पन्न कर देते थे। प्रारम्भ में मंथर, किन्तु मध्य में इतनी तीव्रतर गति से भाषण देते कि शीघ्रलिपिविशारद भी पीछे रह जाते। अन्त शनैः मंथर गति की ओर उन्मुख होता। भाषण देते हुए शरीर और मन पर पूर्ण नियन्त्रण रहता। फलतः अनिच्छित शब्द उच्चरित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्री गुरुजी के ३३ वर्ष के नेतृत्व काल में राष्ट्र और संघ पर अनेक आघात हुए। विपदाएँ आईं। श्री गुरुजी के नेतृत्व में संघ ने उन बाधाओं को सहर्ष पार किया। सन् १९४७ में भारत-विभाजन से विह्वल श्री गुरुजी को हार्दिक आघात हुआ। फिर भी, उन्होंने मन का संयम नहीं खोया। इन विकट परिस्थितियों में उन्होंने संघ के स्वयंसेवकों को यवनों के अत्याचारों का अवरोध एवं प्रतिरोध कर विस्थापित हिन्दुओं की सेवा तथा सुरक्षा का दायित्व सम्भालने की प्रेरणा दी। अपने घरों से उजड़े, अपनी मान-मर्यादा और इज्जत को बचाते हुए विभाजित

भारत में लौटे हुए हिन्दुओं के पुनः स्थापनार्थ 'पंजाब रिलीफ कमेटी' स्थापित की। स्वयंसेवकों द्वारा संचालित शिविरों की संख्या ३००० तक पहुँची। स्वयं श्री गुरुजी ने पंजाब प्रांत का दौरा कर हिन्दुओं के मनोबल को ऊँचा उठाया।

सितम्बर १९४७ में पाकिस्तानी सशस्त्र सेना द्वारा कश्मीर पर आक्रमण के समय संघ के स्वयंसेवकों ने भारतीय सेना के पहुँचने तक युद्ध-स्थल पर जो मुकाबला किया, वह भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

इसी प्रकार १९६२ में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण, सितम्बर १९६५ तथा दिसम्बर १९७१ में पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण के समय श्री गुरुजी ने तत्कालीन प्रधानमंत्रियों सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्रीमती इंदिरा गाँधी को सहायता का आश्वासन दिया। अनेक स्थानों पर तो स्वयंसेवकों ने द्वितीय रक्षा-पंक्ति का कार्य किया।

एक दुर्भाग्यपूर्ण अवसर भी आया, जब गाँधी जी की हत्या के कारण देश में आतंक का वातावरण निर्माण बना दिया गया। गाँधी जी का वधक महाराष्ट्रीयन और ब्राह्मण होने के नाते संघ से उसको संबंधित कर संघ शाखाओं और कार्यालयों पर आक्रमण होने लगे। स्वयंसेवकों को जिन्दा जलाने का आह्वान भी हुआ। पूना में एक कार्यकर्ता का फिल्म-स्टूडियो जलाकर खाक कर दिया गया। भीड़ परम पूजनीय श्री गुरुजी की हत्या करने पहुँच गई। 'अहिंसा' के उपासकों का यह हिंसात्मक कृत्य देख भारत माता चीत्कार कर उठी।

श्री गुरुजी दूरदर्शी विचारक थे। गाँधी जी की हत्या का समाचार उन्हें मद्रास प्रांत के प्रवास के समय मिला। श्री गुरुजी मद्रास प्रांत का प्रवास स्थगित कर नागपुर लौट आए। उन्होंने गाँधी जी की स्मृति में १३ दिनों तक देश-भर में संघ की सभी शाखाएँ बन्द रखने का आदेश दे दिया। १ फरवरी, १९४८ की रात्रि १२ बजे गाँधी-हत्या के आरोप में श्री गुरुजी को गिरफ्तार कर लिया गया। ४ फरवरी की रात्रि को भारत-सरकार के आदेशानुसार सभी संघ-शाखाएँ प्रतिबन्धित कर दी गईं और देश में सहस्रों कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया।

श्री गुरुजी सरकार की बदनीयती को पहचान गए थे। उन्होंने ५ फरवरी, १९४८ को कारावास से संघविसर्जित करने की घोषणा कर दी। गाँधी-हत्या में लेशमात्र भी हाथ न होने के कारण श्री गुरुजी को ६ अगस्त, १९४८ को कुछ प्रतिबन्धों सहित रिहा कर दिया गया। १३ अक्टूबर को वे सभी प्रतिबन्ध भी हटा लिए गए।

संघ पर से प्रतिबन्ध हटवाने के लिए श्री गुरुजी ने अथक प्रयास किया, जो असफल रहा। इधर, १८१८ के बंगाल स्टेट प्रिजनर्स ऐक्ट नामक काले कानून के अन्तर्गत श्री गुरुजी को १२ नवम्बर, १९४८ को पुनः गिरफ्तार कर लिया गया। फलतः ८ दिसम्बर, १९४८ को संघ के तत्कालीन सरकार्यवाह श्री भैया जी दाणी के नेतृत्व में देशव्यापी आन्दोलन छिड़ गया। कांग्रेसी आन्दोलनों के सभी रिकॉर्ड टूट गए, जब लगभग एक लाख स्वयंसेवक स्वयं-स्फूर्ति से सत्याग्रह कर जेलों में बन्द हो गए। बातचीत द्वारा मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से १९ जनवरी १९४९ को श्री गुरुजी के आदेश से आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। लिबरल फेडरेशन के तत्कालीन अध्यक्ष दक्षिण के भीष्म श्री टी. आर. व्यंकटराव शास्त्री

के प्रयासों से १२ जुलाई, १९४९ को सरकार द्वारा संघ-कार्य पर से प्रतिबन्ध हटा लेने की घोषणा की गई। १३ जुलाई को श्री गुरुजी बेतूल कारागृह से मुक्त हुए। इस प्रकार संघ पर आई राहु-केतु की छाया हट गई।

हिन्दू मान-चिह्नों को मान्यता प्रदान करने तथा मान-मर्यादाओं पर आघात न पहुँचे, इसके लिए श्री गुरुजी ने अनेक कार्य किए। गो-हत्या बन्द करवाने के लिए देशव्यापी घोर प्रयास किया। विभिन्न प्रांतों से लाखों हस्ताक्षर करवाकर एक विशाल जुलूस का नेतृत्व करते हुए ८.१२.१९५२ को श्री गुरुजी ने गौ हत्या प्रतिबंध का अनुरोध राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद को सौंपा। कन्या कुमारी में 'विवेकानन्द-स्मारक' का निर्माण संघ के कार्यकर्ताओं के अथक परिश्रम का ही सुफल है। विश्व की समस्त हिन्दू-संस्थाओं, मठों और पूज्य महात्माओं को एक मंच पर एकत्रित करने की दृष्टि से ३० अगस्त, १९६४ को श्री गुरुजी की ही प्रेरणा से 'विश्व हिन्दू परिषद्' की स्थापना हुई।

आज की विषम स्थिति में जहाँ हिन्दुत्व 'साम्प्रदायिकता' के हीन शब्द से सम्बोधित किया जाता हो, जहाँ धर्म-निरपेक्ष सरकार हिन्दुत्व के नाम से ही चिढ़ती हो, जहाँ शासन हिन्दू-हितों की बलि चढ़ाने में ही देश-भक्ति समझता हो, जहाँ के सभी राजनैतिक दल हिन्दुत्व को चिमटे से पकड़ते हों, वहाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उन्नत भाल किए, देश-हित की भावना लिए हिन्दू-संगठन में संलग्न है, यह श्री गुरुजी के ३३ वर्षों के नेतृत्व का सुपरिणाम है।

समाचार-पत्रों के महत्त्व को समझते हुए गुरुजी ने विभाजनपूर्व अनेक अखबारों को प्रकाशित करवाया। इसमें नागपुर से दैनिक 'तरुण भारत', लखनऊ से 'पाञ्चजन्य' साप्ताहिक, दैनिक 'स्वदेश' तथा दिल्ली से 'भारतवर्ष' (दैनिक) और 'आर्गनाइजर' (साप्ताहिक) शुरू हुए। संघ प्रतिबंध ने भारतवर्ष (दैनिक) की कमर तोड़ दी। वह सदा-सर्वदा के लिए लुप्त हो गया। तत्पश्चात् अन्य अनेक प्रांतों से दैनिक, साप्ताहिक-मासिक, पत्र निकलने लगे।

दूसरी ओर, ६ फरवरी १९५७ को 'हिन्दुस्थान समाचार' न्यूज-एजेंसी की स्थापना हुई। बहुत सफलतापूर्वक कार्य चलते हुए भी सरकारी कोप और आर्थिक दुर्दशा के कारण १९८५ में इसका अस्तित्व समाप्त हो गया।

समाज के विभिन्न वर्गों-कार्यों में संघकार्य की भागीदारी होनी चाहिए, इस दृष्टि से अनेक प्रकल्प श्री गुरुजी के समय में आरम्भ हुए और सुचारु संचालन भी हुआ। भारत ही नहीं, विश्व ने उनको महत्त्व दिया। ये हैं—

राष्ट्र सेविका समिति, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, बनवासी कल्याण आश्रम, भारतीय जन संघ (अब भारतीय जनता पार्टी), भारतीय मजदूर संघ, विद्या भारती, विवेकानन्द केन्द्र, भारत विकास परिषद्, विश्व हिन्दू परिषद्, अखिल भारतीय साहित्य-परिषद्, दीनदयाल शोध संस्थान आदि।

आत्माहुति

३३ वर्षीय दीर्घ कालावधि में श्री गुरुजी ने संघ-कार्य के लिए शरीर का कण-कण

चन्दन के समान घिसकर समर्पित किया। प्रवास, बैठकें, भाषण, शिविर, उत्सव तथा अन्य सार्वजनिक कार्यक्रम अखंड रूप से चलते रहे। परिणामतः दौड़-धूप, जागरण, शारीरिक तथा मानसिक कष्टों के गरल को शंकर बन उदरस्थ करते रहे, किन्तु कृश देहयष्टि इतना भार कैसे सह सकती? परिणामतः १९६४-६५ में उनकी पीठ पर छोटी-सी गाँठ निकल आई थी, किन्तु वह पूना के सुप्रसिद्ध होम्योपैथ डॉ. नामजोशी की औषधि से ठीक हो गई। पुनः अगस्त १९६९ में निकलने वाली गाँठ की परवाह न करते हुए श्री गुरुजी अखंड प्रवास करते रहे और शारीरिक-मानसिक कष्ट झेलते रहे, तो १८ मई, १९७० को बम्बई में डॉ. श्री खंडे और डॉ. फड़के ने 'कैंसर लगता है', यह आशंका प्रकट कर दी। जब उन्हें शल्यक्रिया द्वारा तुरन्त उपचार करवाने का परामर्श दिया गया तो श्री गुरुजी का उत्तर था, 'प्रवास समाप्त होते ही लौट जाऊँगा, फिर ऑपरेशन करें।'

२८ जून, १९७० को प्रवास समाप्त कर श्री गुरुजी डॉ. आबा थत्ते जी के साथ बम्बई पहुँचे। २९ जून को जाँच हुई और ३० जून को उन्हें टाटा अस्पताल में भर्ती किया गया। एक जुलाई को शल्यक्रिया हुई। गाँठ काटते ही १० मिनट में कैंसर होने का निष्कर्ष निकल आया। सभी गाँठें निकाली गईं। जख्म भरने के बाद छाती और पीठ पर डीप एक्स-रे दिया गया। २६ दिन पश्चात् अस्पताल से मुक्ति मिली।

अक्तूबर, १९७० के बाद श्री गुरुजी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। केवल बाएँ हाथ पर सूजन थी, जो अन्त तक बनी रही। डॉक्टरों के अनुसार वह सूजन शल्यक्रिया की सफलता का चिह्न था।

२०-२१ अक्तूबर को बम्बई के टाटा अस्पताल में श्री गुरुजी का पुनः परीक्षण हुआ। १० दिन तक पुनः डीप एक्स रे दिया गया। नागपुर विश्राम के काल में ११ नवम्बर के लगभग श्री गुरुजी को गले में बहुत कष्ट होने लगा। परिणामतः निगलने और बोलने में कष्ट होने लगा। डॉक्टरों ने विश्राम का ही परामर्श दिया।

श्री गुरुजी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहा था। शरीर का कण-कण गल रहा था। फिर भी जीवन का क्षण-क्षण ध्येय सिद्धि के लिए ही खर्च हो, यह श्री गुरुजी की इच्छा थी। अखंड कार्यमग्नता ही उनकी सच्ची विश्रान्ति थी।

२९ दिसम्बर, १९७२ से पुनः प्रवास आरम्भ कर १२ मार्च, १९७३ को समाप्त कर दिया। ढाई मास में सम्पूर्ण भारत के दर्शन। यद्यपि शरीर साथ देने से हिचकता रहा, किन्तु मन उन्हें खींच कर प्रवास पर ले ही गया।

प्रवास से थकान चढ़ी। थकान ने शरीर का संतुलन डगमगा दिया। डॉक्टरों के परामर्श पर १६ मार्च, १९७३ को नया एक्सरे खिंचवाया गया। डॉ. थत्ते उसे लेकर बम्बई गए। एक्सरे का परीक्षण कर डॉ. देसाई ने शंका व्यक्त की 'कैंसर शायद फेफड़ों में प्रवेश कर गया है।' उन्होंने कुछ इंजेक्शन सुझाए। इंजेक्शन दिये गए।

इंजेक्शन से रोग को शरीर के अन्य भागों में फैलने से रोका गया, किन्तु गुरुजी की स्थिति दिन-प्रतिदिन गिरती चली गई।

२२ मार्च, १९७३ को संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा की बैठक बुलाई गई। गिरते स्वास्थ्य की चिन्ता न कर वे बैठकों में भाग लेते रहे। समापन अवसर पर जब १०

मिनट बोलने की प्रार्थना की गई तो वे ४० मिनट तक बोले। कार्यकर्ताओं के समक्ष यह उनका अन्तिम भाषण था।

बिगड़ते स्वास्थ्य के दुष्प्रभाव के कारण अब श्री गुरुजी दो मिनट भी खड़े नहीं रह सकते थे।

आयुर्वेदिक औषधियों ने कुछ प्रभाव दिखाया। श्री गुरुजी का स्वास्थ्य सुधरने लगा। श्वास का कष्ट उन्हें अब भी था, किन्तु पहले से कम।

अपने शीघ्र शरीरान्त से श्री गुरुजी भिन्न थे। अतः उन्होंने दो अप्रैल, १९७३ को तीन पत्र लिखकर, लिफाफों में बन्द कर केन्द्रीय-कार्यालय-प्रमुख श्री पांडुरंग क्षीरसागर जी को यह कर सौंप दिये कि ये पत्र मेरे शरीर शान्त होने के बाद ही खोले जाएँ। दूसरी ओर, अपने आध्यात्मिक गुरु सारगाछी आश्रम के स्वामी अखंडानन्द जी के कुछ पवित्र अवशेष जैसे खड़ाऊँ आदि वस्तुएँ श्री गुरुजी के पास थीं। वे उपासना में नित्यप्रति उनका श्रद्धापूर्वक पूजन किया करते थे। आगे इन पवित्र अवशेषों को सम्भालने में अपनी असमर्थता देख श्री गुरुजी ने उन्हें अपने चचेरे भाई श्री वासुदेवराव गोलवलकर के यहाँ पूना भिजवा दिया। इस प्रकार श्री गुरुजी दो अप्रैल को ही इहलोक की लीला समाप्त कर परलोक-गमन के लिए संनद्ध हो चुके थे।

किन्तु मृत्यु भयभीत थी। योगी को रोगी तो बना दिया, किन्तु रोगी की मुक्ति करते हुए काल भी घबरा रहा था। इधर, तृतीय वर्ष का शिक्षण शिविर आ गया। उधर, २७ मई से ही श्री गुरुजी को हाँफने का अधिक कष्ट होने लगा। फिर भी, ३१ मई तक प्रत्येक स्वयंसेवक से परिचय कर लेने के लिए वे बैठकें लेते रहे।

३१ मई को शिक्षण-शिविर की समाप्ति होते ही श्री गुरुजी ने मृत्यु को समीप आने की अनुमति दे दी।

३ जून को उनका स्वास्थ्य गिर चुका था। ४ जून को कष्ट बढ़ने पर ऑक्सीजन दी गई। ४ जून की रात्रि को वे कुर्सी पर ही आँख मूँदे निद्रित हुए। सम्भवतः वे रात्रिभर किसी गम्भीर चिन्तन में निमग्न रहे हों।

५ जून मिलने-जुलने वालों के साथ हास-परिहास में बीता। सायं ७ बजे प्रार्थना भी की और ७-३० बजे श्री गुरुजी ने संध्या करने के लिए हाथ-मुँह धोये।

५-६ बार आचमन किया और जब वे उठे तो शरीर की शक्ति जवाब दे चुकी थी। उन्हें कुर्सी तक पहुँचाया गया। उनकी समाधिस्थ अवस्था प्रारम्भ हो गई। ९ बजकर ५ मिनट पर अन्तिम साँस लेकर ध्यानस्थ ग्रीवा शान्ति के साथ थोड़ी झुक गई।

उत्तरायण के पावन समय में परम पूजनीय श्री गुरुजी ने महायात्रा के लिए प्रस्थान किया।

(२१) परिवर्तन के अग्रदूत बालासाहब देवरस

श्री मधुकर दत्तात्रय उपाख्य बालासाहब देवरस विशाल हिन्दू विश्व के प्रबुद्ध संगठक और क्रांतिकारी सुधारक थे। इसीलिए उनके मार्गदर्शन में हिन्दू चेतना का विश्व-व्यापी प्रस्फुटन हुआ। वे 'मास्टर आर्गनाइजर' (महासंगठक) थे, इसलिए उन्होंने समर्पित संघ प्रचारकों की टोली खड़ी कर दी। सामाजिक समता और समरसता के जीवंत रूप थे, इसलिए वे जातिवाद, रूढ़िवाद और अस्पृश्यता की कर्मनाशा को मोड़ने में किसी सीमा तक सफल भी हुए। उनमें आदर्शवादिता और व्यावहारिकता का अद्भुत समन्वय था, इसलिए उनकी सोच और सलाह का मूल्य था, प्रभाव था। वे परिवर्तन के अग्रदूत थे, इसलिए संघ-कार्य पद्धति में समय-सापेक्ष परिवर्तन को उन्होंने महत्त्व दिया। वे कुशल समाज-शिल्पी थे, इसलिए विभिन्न क्षेत्रों में संघ कार्य उनके मार्ग-दर्शन में पुष्पित, पल्लवित और प्रभावी हुआ। संस्कृत, दर्शनशास्त्र तथा विधिशास्त्र के वेत्ता थे, इसलिए उनके भाषणों में संस्कृत-सुभाषितों का उद्धरण रहता था, फलतः कथन में गंभीरता तथा प्रामाणिकता रहती थी। पद लोलुपता का मोह उन्हें छू तक न सका, इसलिए लीक से हटकर उन्होंने जीवनकाल में ही 'सरसंघचालक' पद श्रद्धेय रज्जू भैया को सौंप दिया। अंतःकरण से निरभिमानी थे इसलिए 'केवल स्वयंसेवक रहकर' संघ कार्य करूंगा, ये शब्द उनके मुखारविंद से फूट पड़े थे। बालासाहब प्रथम सौभाग्यशाली सरसंघचालक थे जिन्होंने अपने जीवन-काल में संघ-परिवार के श्री अटल बिहारी वाजपेयी को प्रधानमंत्री पद की शपथ लेते देखा था।

‘उनका प्रखर राष्ट्रवाद, उनकी दूरदृष्टि, उनका समर्पित जीवन, अंतिम क्षण तक जूझने की उनकी संकल्प शक्ति, हमेशा राष्ट्र-सेवा के मार्ग पर निरन्तर बढ़ने की स्फूर्ति देती रहेगी।’

—अटल बिहारी वाजपेयी

‘बालासाहब देवरस के निधन से वस्तुतः हम सबका डॉ. हेडगेवार के युग से जीवंत सूत्र टूट गया है। यद्यपि कुछ महानुभाव सौभाग्य से अभी भी हमारे बीच हैं जिन्हें परमपूज्य डॉक्टर जी के दर्शन करने या उनके साथ काम करने का अवसर मिला, किन्तु जिस निरन्तरता, निकटस्थता और गहनता के साथ डॉक्टर जी से बालासाहब का संबंध था, वैसा अब हमारे बीच नहीं रहा।’

—रज्जू भैया

‘कभी-कभी आदर्श के बारे में दृढ़ रहने वाला व्यक्ति अव्यावहारिक हो जाता है और कभी-कभी व्यावहारिकता के नाम पर आदर्शशून्यता की स्थिति आ जाती है। इन दोनों का बराबर सुन्दर समन्वय करने की क्षमता ही राजनीति में सर्वाधिक उपयोगी हो सकती है। इसी दृष्टि से बालासाहब की सलाह सदैव अमूल्य रही।’

—लालकृष्ण अडवाणी

‘उन्होंने हिन्दुत्व की भू सांस्कृतिक अवधारणा को आधुनिक संदर्भों में परिभाषित किया तथा व्यापक हिन्दू-चेतना का प्रसार किया। युवा पीढ़ी में समाज के लिए सर्वस्व

त्याग की भावना निर्माण करने के लिए कुशल शिल्पी के रूप में सदा स्मरण किए जाते रहेंगे।’

—डॉ. मुरलीमनोहर जोशी

‘वे सच्चे अजातशत्रु थे। उनके निधन पर प्रधानमंत्री देवगौडा, पूर्व प्रधानमंत्री नरसिंहराव, चंद्रशेखर, नारायणदत्त तिवारी, मुलायम सिंह सहित वैचारिक भिन्नता रखने वाले अनेक लोगों ने शोक प्रकट किया है।’

—हो. वे. शेषाद्रि

वे प्रारम्भ से तेजस्वी स्वयंसेवक थे। उनके व्यक्तित्व में मितभाषिता थी, पर हर बात का महत्त्व जानते थे।

—प्रज्ञा भारती श्री भा. वर्णेकर

‘कागद मसि छुऔ नहीं, गढ्यो सब संसार।’

(पाञ्चजन्य शीर्षक १४.७.१९९६)

‘मैं तो अपना सौभाग्य समझता हूँ कि उनकी सेवा का अवसर मिला। मैंने यही समझा कि मैं डॉ. हेडगेवार की सेवा कर रहा हूँ।’

—श्रीकांत जोशी,

बालासाहब के निजी सचिव

‘सबको साथ लेकर चलने की अद्भुत क्षमता और अनगढ़-अपरिष्कृत व्यक्तियों को भी समाज-समर्पण के पारस से छुआ कर नेतृत्व के गुणों से युक्त कर देना, उन जैसे परमहंस के बस का ही था।’

—तरुण विजय (सम्पादक : पाञ्चजन्य)

श्री बालासाहब देवरस का जन्म दिनांक ११ दिसम्बर १९१५ को नागपुर में हुआ था। दत्तात्रय उपाख्य भैया जी देवरस उनके पिताश्री थे। वे महसूल विभाग में सरकारी कर्मचारी थे। नागपुर इतवारी में उनका निवास-स्थान था। दत्तात्रय के पाँच पुत्र तथा चार पुत्रियाँ थीं। संतान की दृष्टि से बाला साहब चौथे क्रम पर थे। पाँचवें थे सुप्रसिद्ध संघ-प्रचारक श्री भाऊराव देवरस।

देवरस घराना मूलतः आंध्र प्रदेश का था जो ‘देवराजू’ कहलाता था। नागपुर आने पर वह ‘देवरस’ हो गया। बाला साहब को घर में लोग ‘बाल’ कहते थे। उसी कारण आगे चलकर वे ‘बाला साहब’ नाम से प्रसिद्ध हुए।

बाला साहब ने सन् १९३१ में मैट्रिक पास की। सन् १९३५ में संस्कृत और दर्शनशास्त्र विषय लेकर बी.ए. किया। दो वर्ष पश्चात् सन् १९३७ में एल-एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण कर विधि-स्नातक बन गए।

आद्य सरसंघचालक परम पूज्य डॉ. हेडगेवार के कहने पर आपने दो वर्ष ‘अनाथ विद्यार्थी वसती-गृह’ में अध्यापन कार्य किया। खेलों की दृष्टि से सभी खेलों में उनकी रुचि थी, किन्तु कबड्डी के वे अधिक शौकीन थे।

बालासाहब जब बालक ही थे, तभी उनकी भौहें सफेद होनी प्रारम्भ हो गई थीं। एक दिन उनके पिता उन्हें अपने गुरु के पास ले गए। गुरु ने बालक को भभूत दी और घोषणा की, ‘यह बालक बड़ा आदमी बनेगा।’ पिताश्री ने समझा ‘बड़ा सरकारी अफसर’ बनेगा। उन्हें यह कल्पना भी न थी कि बड़ा आदमी अर्थात् विराट् हिन्दू जगत् का कर्णधार और विश्व के विशाल संघटन ‘राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ’ का तृतीय सरसंघचालक बनेगा।

बालासाहब सन् १९२७ में स्वयंसेवक बने। संघ-प्रवेश के संबंध में बालासाहब का कहना था, ‘मैं कब और कैसे संघ-शाखा में जाने लगा, इसका मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं

हैं। लेकिन मोहिते बाड़े के प्रांगण में संघ की शाखा शुरू होने के कुछ ही महीनों के बाद, मैं वहाँ जाने लगा। वहाँ चलने वाले खेल-कूद, व्यायाम आदि कार्यक्रमों तथा अनुशासन के कारण मैं संघ की शाखा का नियमित स्वयंसेवक बना, उस समय मैं ११ वर्ष का ही था। डॉक्टर साहब ने होनहार युवकों का जो 'कुशपथक' बनाया हुआ था, मैं उसका कार्यकर्ता था।'

निष्ठावान् स्वयंसेवक तथा कुशाग्रबुद्धि होने के नाते वे क्रमशः गटनायक, गणशिक्षक, मुख्य-शिक्षक आदि महत्त्वपूर्ण कार्य सम्भालते गए। सन् १९३७ में पुणे के 'संघ शिक्षा वर्ग' के मुख्य शिक्षक बनकर गए। पूणे से लौटने पर उन्हें नागपुर का कार्यवाह नियुक्त किया गया। बालासाहब के पिताजी की तो इच्छा थी कि बालासाहब आई.सी.एस. की परीक्षा देकर सरकारी अधिकारों बनें। यह बात डॉक्टरजी को भी मालूम थी। अतः बालासाहब के एम. ए., एल-एल.बी. तक पढ़ाई पूरी करने पर डॉक्टरजी ने बालासाहब को एक बार एकांत में सुझाया कि क्यों न वे अपने पिताजी की इच्छानुसार शासन में बड़े अधिकारी बनें? आखिर ऐसे देशभक्त कर्तृत्ववान अधिकारियों की भी तो देश के लिए आवश्यकता है ही।

इस पर बालासाहब ने डॉक्टरजी को तुरंत जवाब दिया 'क्यों आप मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं? मुझे आप केवल संघ-कार्य में हो रहने दीजिए।' उनका यह सीधा-सपाट जवाब सुनकर डॉक्टरजी ने उन्हें सन् १९३९ में कलकत्ता में प्रचारक के नाते भेज दिया। डॉ. हेडगेवार के निधन के समय उन्हें नागपुर वापिस बुला लिया गया।

एक बार स्व० दादासाहेब (शिवराम शंकर) आपटे ने बालासाहब से पूछा था कि क्या कभी उनके मन में विवाह करने और गृहस्थ जीवन बिताने का विचार आया? बालासाहब ने तुरंत कहा कि 'जब से मैंने संघ की शाखा में आना प्रारम्भ किया है तब से कभी भी मेरे मन को विवाह, गृहस्थी आदि के विचार ने छुआ तक नहीं।'।

डॉ. साहब के देहान्त के पश्चात् देशभर में प्रचारकों को भेजने के लिए दो वर्षों में ही बालासाहब ने एक टोली खड़ी कर दी। १९४७ में नागपुर के 'पारडी' नामक स्थान पर दस हजार स्वयंसेवकों का एक शिविर आयोजित किया गया था, उसकी पूरी व्यवस्था बालासाहब ने की थी। बौद्धिक-वर्ग में बालासाहब का परिचय करवाते हुए गुरुजी ने कहा था, 'जिनके कारण मैं सरसंघचालक रूप में जाना जाता हूँ, वे ये बालासाहब ही हैं।'।

सन् १९४३ के एक शिक्षण-वर्ग में बालासाहब का परिचय करवाते हुए श्री गुरुजी ने कहा था, 'आप लोगों में अनेक स्वयंसेवक ऐसे होंगे जिन्होंने डॉक्टर जी को देखा नहीं होगा। उन्होंने बालासाहब की ओर देखना चाहिए। डॉक्टर साहब कैसे थे, यह उनको देखकर पता चल जाएगा।'।

संघ के भावी प्रगति-कार्यक्रम की सोच में भिन्नता के कारण बालासाहब का श्री गुरुजी से वैचारिक मतभेद भी हो गया। मतभेद इतना बढ़ा कि सन् १९५३ से १९६० तक वे संघ के दैनिक कार्य से दूर रहे। हाँ, संघ-वर्ग, कार्यक्रम तथा उत्सवों में वे आते रहे। संघ के प्रति निष्ठा और बालासाहब के अभाव में संघ-कार्य की क्षति ने गुरुजी और बालासाहब में संधि करवा दी। व्यावहारिक चिन्तन और दक्ष मस्तिष्क के धनी बालासाहब का दीर्घ

अनुभवजन्य संगठन-कौशल संघ की प्रगति का पाथेय बना।

सन् १९६२ में बालासाहब को सहस्रकार्यवाह नियुक्त किया गया। सन् १९६५ में तत्कालीन सरकार्यवाह भैया जी दाणी का निधन हो जाने पर आपकी नियुक्ति सरकार्यवाह के रूप में हुई।

सरसंघचालक

६ जून १९७३ को परमपूजनीय श्री गुरुजी के देहावसान पर बालासाहब सरसंघचालक बने। उनकी नियुक्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए श्री मा. गो. वैद्य लिखते हैं—“ श्री गुरुजी ने अपने देहान्त के पूर्व ही अपने उत्तराधिकारी का चयन किया हुआ था। उसके पहले उन्होंने अपने सहयोगियों से परामर्श किया था। उनकी हस्तलिपि में लिखा वह पत्र महाराष्ट्र के तत्कालीन संघचालक श्री बाबूराव भिड़े ने खोला था। श्री गुरुजी की पार्थिव देह जिस कक्ष में रखी थी, वहीं वह पत्र पढ़कर सुनाया था। इस रीति से बालासाहब ‘सरसंघचालक’ बने।”

—पाञ्चजन्य २७.३.१९९४

‘साधना का रथ लिए संकल्प, आया ध्येय बनकर,
ध्येय की आराधना में, शुद्ध जीवन का सगर्पण,
यह हुआ सर्वस्व अर्पण।’

—रामशंकर अग्निहोत्री

बालासाहब के संघचालकत्व काल की संघ प्रगति का अत्यन्त संक्षेप में चित्रण करते हुए डॉ. वि. रा. करन्दीकर लिखते हैं—

‘व्यक्ति का आंतरिक सामर्थ्य प्रकाशमान होने के लिए संकट का काल एक वरदान सिद्ध होता है। सरसंघचालक बनने के दो ही वर्ष पश्चात् आये आपत्काल ने बालासाहब को वह अवसर प्रदान किया और उनकी उज्ज्वल प्रतिभा समाज के सामने स्पष्टरूप लेकर आई। उस बल पर नये-नये क्षेत्रों में पदार्पण करने की चुनौती उन्होंने स्वीकार की। विस्मयकारक कहा जाए तो विविध क्षेत्रों में कार्य का प्रारंभ उनके कुशल मार्गदर्शन में हुआ। गुरुजी के मार्गदर्शन में खड़ी हुई छह-सात संस्थाओं में इसके पश्चात् वृद्धि होती गई। संघ प्रत्यक्ष कुछ नहीं करेगा, वह केवल संघटन करेगा, अन्य सारा कुछ स्वयंसेवक करेंगे, इसका पूरा प्रमाण ही इसके द्वारा मिल गया। वनवासी कल्याण आश्रम, विद्याभारती, सेवाभारती, कलाभारती, संस्कार भारती, ग्राहक पंचायत, भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाएं, भारतीय किसान संघ, सामाजिक समरसता मंच, इतिहास संकलन समिति ऐसी कितनी ही संस्थाएं खड़ी हो गईं। आज धीरे-धीरे उनको अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हो रहा है।’

‘इस प्रकार संगठन और नये क्षेत्रों का निर्माण करने में बालासाहब का १९९०-९१ तक का जीवन बीत गया। उसके पश्चात् शरीर ने साथ देना बंद कर दिया। तब तक आयु भी पचहत्तर पार कर गई थी। यात्रा और बैठकों में सहभागी होना खराब स्वास्थ्य के कारण कठिन होता जा रहा था। इन अंतिम आठ वर्षों में श्रीकांत जोशी बालासाहब की सारी देखभाल किया करते थे। मधुमेह (डायबटीज) अनेक वर्षों से था ही, उसी में प्रोस्टेंट (पौरुष ग्रंथि) की शल्यक्रिया करनी पड़ी और पक्षाघात का हमला भी हुआ। ऐसी सारी व्याधियों का मुकाबला करते हुए भी बालासाहब मन में शांत थे, बुद्धि तो अंत तक कार्यक्षम

थी। सन् १९९२ में उनके छोटे भाई भाऊराव इस जगत् से बिदा हो गये, उसका बहुत बड़ा आघात बालासाहब के मन पर हुआ। फिर भी, संघकार्य की खोजखबर वे उत्साहपूर्वक लेते, समाचारपत्र पढ़ते और देश में हो रही घटनाओं पर उनकी सतत नजर रहती। ध्वनिमुद्रित किये हुए भजन और भगवद्गीता का श्रवण करते। यह भाग आध्यात्मिकता का निदर्शक है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। उन्हें कष्ट होते हैं यह देखते हुए भी चिकित्सकों की यही सलाह थी कि लोगों को मिलने के लिए आने दें, वही उनका जीवन है। बालासाहब बोल नहीं पाते थे। मिलने के लिए आये व्यक्ति की बातें वे सुनते, और उनकी प्रतिक्रिया उनके मुख पर के भावसे व्यक्त हो जाती। दाहिना हाथ उठाकर प्रणाम स्वीकार करते, परन्तु आगे के दिनों में वह भी कम होता गया।'

—तीन सरसंघचालक, पृष्ठ ५७४-५७५।

श्रीकांत जोशी ने उनकी बीमारी की वेदना का चित्रण इन शब्दों में किया है—

१९९२-९३ में वे बहुत ही बीमार थे। पक्षाघात के कारण उनका चलना-फिरना बंद हो गया था, तब अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण मन में बड़े दुःखी थे। जब मन बहुत अस्वस्थ हो जाता था, रात में नींद नहीं आती थी तब हम लोग स्वातंत्र्यवीर सावरकर के दो सुप्रसिद्ध गीत टेपरिकार्डर पर लगाकर उन्हें सुनाते थे। 'जयोस्तुते भगवती स्वतंत्रते देवी' यह गीत आरंभ होते ही उनका मन भर आता था, आँखें डबडबाने लगती थीं और वे स्वयं उस गीत को गाने लगते थे। उनका दूसरा प्रियगीत था, 'ने मजसि ने परम मातृभूमिला, सागरा प्राण तलमलला।' इन दोनों गीतों में सावरकर ने मातृभूमि के प्रति अपनी प्रखर भक्ति प्रकट की है।

पद मुक्ति

'अपने दायित्वपूर्ण पद से मैं न्याय नहीं कर पा रहा हूँ', यह बात बालासाहब को कचोट रही थी। अन्ततः ११ मार्च १९९४ को उन्होंने माननीय रज्जू भैया को पुष्पहार पहना कर तथा श्रीफल देकर उन्हें सरसंघचालक पद पर अभिषिक्त कर दिया। इस ऐतिहासिक अवसर का सजीव चित्रण करते हुए प्रत्यक्षदर्शी प्रसिद्ध पत्रकार श्री देवेन्द्रस्वरूप अग्रवाल लिखते हैं—

'शुक्रवार, ११ मार्च १९९४ को प्रातः १० बजे जब मैं देश के कोने-कोने से आए लगभग एक सहस्र प्रतिनिधियों के साथ नागपुर शहर के रेशम बाग स्थित विशाल सभागार में प्रविष्ट हुआ तब मुझे यह कल्पना भी नहीं थी कि कुछ ही क्षणों बाद मैं एक ऐतिहासिक परिवर्तन के अभूतपूर्व दृश्य का साक्षी बनने जा रहा हूँ। ठीक ११ बजे सरसंघचालक श्री बालासाहब देवरस लम्बी बीमारी से जर्जर शरीर को अपनी वृद्ध अवस्था के अभिभावक-सहयोगी श्रीकान्त जी जोशी के सहारे किसी प्रकार सम्भलते हुए सभागार में उपस्थित हुए और तीन-चार मिनट के उद्बोधन में ही उन्होंने सरसंघचालक-पद के दायित्व से स्वयं को मुक्त कर एक साधारण स्वयंसेवक के नाते अन्तिम श्वास तक संघकार्य में लगे रहने का अपना निर्णय घोषित कर दिया। उनकी वाणी में लम्बी बीमारी के कारण लड़खड़ाहट व अस्पष्टता भले ही रही हो, पर किसी प्रकार का उद्वेग या विवशता का भाव कदापि नहीं

था। जब उन्होंने कहा कि 'मैं अब सरसंघचालक नहीं हूँ और एक साधारण स्वयंसेवक के नाते कार्य करूँगा' तो स्वामी विवेकानन्द के अन्तिम दिनों के किसी पत्र की वे पंक्तियाँ याद आ गई कि 'शिक्षादाता आचार्य विवेकानन्द चला गया, अब शेष है केवल नरेन्द्र, वही नरेन्द्र जो कभी वृक्ष के नीचे रामकृष्ण के चरणों में बैठा करता था।'

(पाञ्चजन्य : २७.३.१९९४)

सहस्रचन्द्र दर्शन उत्सव

जीवन के ८० वर्ष पूर्ण कर ८१ वर्ष में बालासाहब के पदार्पण को मराठी ढंग से 'सहस्रचन्द्र दर्शन' उत्सव रूप में रेशम बाग स्थित संघ कार्यालय में २६ नवम्बर १९९५ को मनाया गया। महाराष्ट्र में मान्यता है कि व्यक्ति एक वर्ष में १२ बार पूर्णिमा के चन्द्र का दर्शन करता है। इस प्रकार ८१वें वर्ष तक वह एक हजार चन्द्र दर्शन कर ले तो बहुत सौभाग्यशाली समझा जाता है। इस शुभ अवसर पर धार्मिक विधि-विधान होते हैं एवं ८१वें वर्ष में आए व्यक्ति के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र व सभी मित्रादिगण शुभकामनाएं देते हैं और आशीर्वाद लेते हैं।

इस कार्यक्रम में भाग लेने वालों में प्रमुख थे तत्कालीन सरसंघचालक श्री रज्जू भैया, हरिद्वार के स्वामी सत्यमित्रानंद जी गिरि, श्री अटल बिहारी वाजपेयी, डॉ. मुरलीमनोहर जोशी, श्री कुप्.सी. सुदर्शन, श्री नानाजी देशमुख, श्री लक्ष्मण राव भिड़े, श्री दत्तोपंत ठेंगडी, श्री अशोक सिंहल और राष्ट्र-सेविका समिति की प्रमुख संचालिका श्रीमती ऊषा ताई चाटी। इनके अतिरिक्त पूर्व केन्द्रीय मंत्री और कांग्रेस के वरिष्ठ नेता श्री वसंत साठे भी बालासाहब को शुभकामनाएं देने पहुँचे थे।

प्रातः का कार्यक्रम बालासाहब के परिवार-जनों द्वारा धार्मिक विधि-विधान से सम्पन्न हुआ तो सायंकाल का कार्यक्रम संघ की ओर से आयोजित था। सायंकाल के कार्यक्रम में संघ की तीन पीढ़ियों ने श्री बालासाहब का सत्कार किया। संघ के ज्येष्ठ स्वयंसेवकों की ओर से अधिवक्ता परशुरामपंत बड़िये ने तथा शिशु स्वयंसेवकों की ओर से सुधांशु रंदा पवार ने और समस्त स्वयंसेवकों की ओर से सरसंघचालक रज्जू भैया ने बालासाहब का अभिनंदन किया। श्री रज्जू भैया ने श्री बालासाहब को चंदन की माला पहनाई, शाल तथा श्रीफल भेंट किया।

इस अवसर पर संघ के घोष-पथक ने प्रज्ञाभारती के डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा रचित 'मधुकर' धुन बजाई। इस धुन के स्वर थे—'जय-जय हे मधुकर, हिन्दू राष्ट्र हित कार्यनिरन्तर।' इस गीत को गाकर भी सुनाया गया। इसके अतिरिक्त बालासाहब का प्रिय बंगला गीत 'धन धान्य पुष्प भरे' और स्वातंत्र्य वीर सावरकर की रचना 'जयोस्तु ते...' तथा भारत-वंदना की धुनें भी बजाई गईं। दिवस के महत्त्व को रेखांकित करते हुए श्री मुकुन्द कुल्लीवण रचित गीत 'दिवस मोन्यांचा आज, अमृते पाहिला' श्री श्याम देशपाण्डे ने गाकर सबको भावविभोर कर दिया। इसका अर्थ है—आज के स्वर्णिम दिन अमृत का दर्शन हुआ।

इस अवसर पर सरसंघचालक श्री रज्जू भैया ने कहा, 'बालासाहब जी भीष्म पितामह की तरह भारतवर्ष के भाग्यरूपी उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम अपने प्रयत्नों से

उषा:काल का दर्शन उन्हें करा सकें तो हम सबका जीवन सार्थक और धन्य होगा।'

बालासाहब ने अपने संदेश में कहा, इस अवसर पर मेरा आप सबको यही एकमेव निवेदन है कि हम सब अपने हिन्दुत्व के सिद्धान्तों पर अडिग रहकर अपने समाज में व्याप्त सभी प्रकार के ऊँच-नीच, गरीब-धनवान्, पंथ, भाषा, प्रान्त इत्यादि भेदों से ऊपर उठकर एकरस, जागरूक, कर्मशील, संगठित, अनुशासित, हिन्दू समाज बनाने के लिए और तेजी से प्रयास करें। राजमुकुट धारण करने वालों के हाथों में राजशस्त्र धारण करने की शक्ति के साथ ही नैतिक सिद्धान्तों के अनुशासन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। ऐसी शक्ति संघ के ध्येयनिष्ठ, अनुशासित समाज में ही होती है। अतः हमें संघ की नित्य शाखाएं और बढ़ानी चाहिए। इसी प्रकार से शक्ति का निर्माण करके हमें डॉक्टर जी के सपनों को शीघ्रातिशीघ्र साकार करना है।'

मृत्यु की ओर

डॉ. हर्षवर्द्धन माडोंकर बालासाहब के पौत्र (उनके भतीजे के सुपुत्र) हैं, उनकी पत्नी मंजूषा एम.डी. मेडीसन हैं। जीवन के अंतिम दिनों में बालासाहब का इलाज डॉ. हर्षवर्धन कर रहे थे। डॉ. हर्षवर्धन लिखते हैं कि एक जून १९९६ को सायं बम्बई से पूना पहुँचा तो अस्पताल में जाकर देखा—

बाला साहब की साँस तेज चल रही थी। निमोनिया भी था। मैं, डॉ. मंजूषा, डॉ. मुले, डॉ. कुलकर्णी सभी सोच में पड़े थे। जब वेंटिलेटर लगाना जरूरी तो था, लेकिन दीनदयाल अस्पताल में उसका प्रबंध न था। कृत्रिम श्वास देने के बारे में सबकी राय भिन्न थी। अंततः मैंने ही निर्णय लिया वेंटिलेटर लगाने का। डॉ. कुलकर्णी और मंजूषा भी सहमत हुए। हमने उन्हें रूबी अस्पताल में स्थानांतरित किया। संयोग की बात डॉ. परवेजग्रंट वहीं थे। रूबी अस्पताल उन्हीं का है।

बालमामा के देहान्त के साथ आया यह दूसरा संघर्ष मैंने जसलोक अस्पताल में देखा। उनकी आंतरिक शक्ति का परिचय तब हुआ जब वेंटिलेटर लगाते ही साँस नियमित हुई। सब ठीक हुआ। एक घंटे बाद हृदय गति अचानक रुक गई। तुरंत शॉक दिया। दिल की धड़कन सामान्य हो गई। फिर मौत से आँख मिचौनी शुरू हुई। रूबी हाल में सारी सुविधाएँ उपलब्ध थीं। फिर भी, आशा नहीं थी। डॉ. प्राची साठे, डॉ. अविनाश कुलकर्णी निरंतर उपचार कर रहे थे।

अचानक परिवर्तन हुआ। स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। निमोनिया ठीक हो गया। गुर्दा, दिल ठीक से चलने लगे। यहाँ तक कि हमने वेंटिलेटर भी हटा लिया। चार दिन वह वैसे ही रहे। मैं मुंबई आता-जाता रहता था। लेकिन नियति के मन में कुछ और ही था। १५ जून को उनकी तबीयत फिर बिगड़ गई। रक्तचाप ७० तक नीचे आया। खबर मिलते ही मैं पुणे जा पहुँचा। समय पर पहुँचने की उम्मीद ही न थी। लेकिन आश्चर्य! मेरे पहुँचने के पहले ब्लड प्रेशर ११० तक हो गया था।

हमारी आशाएं पल्लवित हुईं। बालमामा पुनः संकट से बाहर निकले। लेकिन इस बार मौत से आँख-मिचौनी के खेल में वह हार गए। शायद मृत्यु को चकमा देते-देते थक गए

थे और सोमवार १७ जून, १९९६ हिन्दू तिथि के अनुसार आषाढ़ शुक्ल १, २०५३ पुरुषोत्तम मास की प्रतिपदा की रात ८ बजकर १० मिनट पर उन्होंने आँखें मूँद लीं।

(पाञ्चजन्य १४ जुलाई १९९६)

‘मिला तेज से तेज, तेज के वे सच्चे अधिकारी थे।’

पुणे से रेशिमबाग तक

‘पुणे से नागपुर के लिए किसी विमान सेवा की सीधी उड़ान न होने के कारण ईस्ट-वेस्ट वायुसेवा की मुम्बई-नागपुर उड़ान पुणे होते हुए लाई गई। पुणे में बालासाहब की पार्थिव देह विमान में ले जाने से पूर्व मोती बाग संघ-कार्यालय में एकात्मता स्तोत्र का पाठ हुआ। सवा ग्यारह बजे स्व. बालासाहब की पार्थिव देह पुणे विमान तल पर लाई गई, जहाँ एक काष्ठ के बड़े संदूक में उसे रखकर विमान में चढ़ाया गया। १२ बजे के लगभग मौसम अचानक खराब हो गया, जिस कारण विमान पुणे से देरी से चला। ठीक दो बजकर पाँच मिनट पर विमान नागपुर के सोनेगाँव विमानतल पर पहुँचा। पुणे से बालासाहब की पार्थिव देह के साथ उनके सचिव श्रीकांत जोशी, भारतीय मजदूर संघ के नेता श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी, उपमुख्यमंत्री गोपीनाथ मुंडे, विद्यार्थी परिषद् के पूर्व अध्यक्ष बाल आपटे, भिकूजी इदाते व महाराष्ट्र भाजपा नेता विनोद तावडे, भाजपा कोषाध्यक्ष वेदप्रकाश गोयल, मुम्बई भाजपा अध्यक्ष किरीट सोमय्या भी आए थे। नागपुर विमान तल पर नागपुर के विधायक और राज्य के मंत्री श्री नितीन गडकरी नागपुर से भाजपा सांसद श्री बनवारीलाल पुरोहित तथा महापौर कुंदा विजयकर ने पार्थिव देह की अगवानी की और श्रद्धांजलि अर्पित की।

विमान तल से पार्थिव देह सबसे पहले महाल स्थित संघ कार्यालय में ले जाई गई। यहाँ स्व. बालासाहब ने अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया था। विमान तल से महाल तक भी रास्ते में हजारों लोग एकत्र हो गए थे। इस कारण जिस वाहन में पार्थिव देह लाई गई उसे बहुत धीरे-धीरे चलाकर लाना पड़ा।

महाल से फिर रेशिम बाग स्थित संघ कार्यालय में ३.१५ बजे पार्थिव देह पहुँच पाई।

(पाञ्चजन्य : ३० जून १९९६)

संघ-कार्यालय की पहली मंजिल पर बौद्धिक-कक्ष है। उसी कक्ष में मंच पर बालासाहब का पार्थिक शरीर जन-दर्शन तथा श्रद्धांजलि अर्पण के लिए रख दिया गया।

अन्तिम यात्रा

सायंकाल ७ बजकर २ मिनट पर रेशिमबाग से उनकी शव-यात्रा शुरू हुई। सुसज्जित वाहन पर सर्वश्री चंद्रकांत देवरस, बालासाहब के निजी सचिव श्रीकांत जोशी, पौत्र डॉ. हर्षवर्धन मारडीकर और चचेरे भाई अजीत देवरस पार्थिव देह के साथ बैठे थे। मार्ग के दोनों ओर अपार भीड़ थी। अतः चार किलोमीटर की यह यात्रा ९ बजकर १० मिनट पर गंगबाई घाट पहुँची।

अंत्येष्टि का वर्णन करते हुए पाञ्चजन्य सम्पादक श्री तरुण विजय लिखते हैं ‘चंदन की चिता सजने लगी। नश्वर देह जिस विमान (अर्थी) पर लाई गई उसे एक ओर ले जाकर तोड़ दिया गया। देह चिता पर आई। इस संसार की नश्वरता का अंतिम प्रमाण यहीं श्मशान में ही देखने को मिलता है। इसीलिए कहा है— ‘ऐसी करनी कर चलो, हम हँसे जग रोए!’

एक-एक कर अधिकारी आने लगे—श्रद्धा प्रणाम...अंतिम प्रणाम अर्पित किया। चरण स्पर्श किया, पुष्प मालाएँ चढ़ाईं। रज्जू भैया, शेषाद्रि जी, ठेंगडी जी, नानाजी देशमुख, मोरोपंत पिंगले, प्रमिला ताई मेढे, बाल आपटे। श्रीकांत जोशी जब आए तो अचानक भावुक हो उठे...उन्हें कैसे बिदा दें। आडवाणी जी, अटल जी, मनोहर जोशी, गोपीनाथ मुंडे, सुरेश मेहता, प्रवीण भाई मनीयार, अमृत भाई कडीवाला, नरेन्द्र मोदी, भैरोंसिंह शेखावत, कैलाश जोशी, विपिन भाई शाह, आचार्य गिरिराज किशोर, बापूराव वर्हाड पांडे, डॉ. सुजित धर, प्रज्ञा भारती वर्णेकर, प्रमोद महाजन श्रद्धांजलि अर्पित करने वालों में प्रमुख थे।

सिर्फ गहरी साँसें, भारी बदन और चिता की लकड़ियाँ रखने की आहट।

पंडितों ने मंत्रोच्चारण शुरू किया। चंद्रकांत देवरस ने चिता को अग्नि दी। वातावरण में एक अजीब-सा कम्पन हुआ। चारों ओर छाये बर्फानीपन को चिता से उठ रही लपटें ही भंग कर रही थीं। अग्नि पुरुष, जिससे पाई थी सम्पूर्ण हिन्दू समाज ने ऊर्जा और अग्नि-धर्मिता, आज अग्नि से एकरूप हो चला। (भारत का मन, पृष्ठ ५३)

कहाँ साधना, कहाँ तपस्या का अब रहा विधान?

जो तुम-सा तप-तप चमके निज तप से सूर्य समान !

तुम भारत की संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास अनन्य!

श्रद्धांजलि हो गयी तुम्हारी, स्मृति को छू धन्य! —सोहनलाल द्विवेदी

महासंगठक (मास्टर आर्गनाइजर)

संघ-विस्तार के लिए चाहिए, ऐसे कार्यकर्ता जो घर से दूर रहकर, परिवार का ममत्व छोड़कर भरी जवानी में वानप्रस्थी बन सकें। प्रारम्भ में ऐसे प्रचारक निर्माण करने का सम्पूर्ण श्रेय है बालासाहब देवरस को। उन्होंने नागपुर नगर से प्रचारकों की एक बड़ी टोली तैयार करके पूरे देश में भेजी। परिणामतः सम्पूर्ण भारत में संघ कार्य तेजी से बढ़ा। इतना ही नहीं, संघ-कार्य के प्रारम्भिक २०-२५ वर्ष तक विभिन्न प्रांतों के ग्रीष्मकालीन संघ-शिक्षा वर्गों में नागपुर से ३-४ प्रमुख शिक्षक भेजते थे।

दूसरी ओर, प्रचारकों के परिवार की चिंता करना उनके कष्ट-कठिनाई, आपत्ति-विपत्ति में सहयोग देना, ये उनका स्वभाव बन गया था। जो प्रचारक कुछ समय बाद गृहस्थी में वापिस आते थे तो उनको नौकरी, व्यवसाय आदि में व्यवस्थित होने की ओर विशेष ध्यान देते थे।

सामाजिक समरसता के जीवंत रूप

बालासाहब छूआछूत, जातिभेद, खानपान में विभिन्न प्रकार के बंधनों की कुरीतियों और रूढ़ियों के घोर विरोधी थे। उनका कहना था, 'यदि अस्पृश्यता पाप नहीं, तो कुछ भी पाप नहीं। जाति-भेद तथा पुरानी कालबाह्य रूढ़ियों को छोड़ देना ही उचित है।'।

बालासाहब की स्वयं की बताई एक स्मृति यह सिद्ध करती है कि सामाजिक समता तथा समरसता का पाठ देवरस परिवार में ५० वर्ष पूर्व ही शुरू हो चुका था।

सुदीर्घकाल तक बालासाहब के विश्वस्त सहयोगी रहे श्री बाबूराव चौथाईवाले लिखते हैं—

‘बालासाहब नागपुर के कार्यवाह बनने के बाद स्वयंसेवकों का उनके घर जाना-आना

बढ़ता गया। पिताजी श्री भैयाजी और माताजी पुरानी कर्मठ प्रवृत्ति के थे। वे स्वयंसेवकों पर भी समान रूप से स्नेह का भाव रखते थे। बालासाहब ने माताजी को पहले ही बता दिया था कि आने वाले स्वयंसेवक किसी भी जाति के हों, मेरे साथ भोजन करेंगे और भोजन के पश्चात् वे अपनी थालियाँ नहीं उठाएंगे। मेरी थाली के साथ ही तुम्हें या घर के अन्य लोगों को उनकी थालियाँ उठानी चाहिए। यह मान्य हो तो ही मैं अपने मित्रों को भोजन पर बुलाऊँगा। बालासाहब का यह कहना उनकी माताजी ने प्रसन्नता से तथा निःसंकोच स्वीकार कर लिया था। 'भलाई घर से शुरू होती है, (Cherity Begins at Home) इस लोकोक्ति को बालासाहब का उक्त कथन चरितार्थ करता है।

अध्ययनशील

संस्कृति और इतिहास की जानकारी ; विश्व में घटी और घट रही घटनाओं का ज्ञान; राजनीतिज्ञ, सामाजिक तथा धार्मिक चिंतकों के विचारों का ज्ञान अनिवार्य है, ऐसा समझ कर बालासाहब अध्ययनशील बने रहे। महापुरुषों के सुभाषित उन्हें कंठस्थ थे, जिनका उपयोग अपने अनौपचारिक वार्त्तालाप, बौद्धिक वर्ग तथा सार्वजनिक भाषणों में करते थे। नियमित रूप से ध्यानपूर्वक समाचार-पत्र पढ़ना उनकी प्रकृति थी।

पत्र लिखने की अनिच्छा

माननीय बाबूराव चौथाईवाले ने इस विषय में अपना एक संस्मरण लिखा है—
'बालासाहब को स्वयं के हाथ से पत्र लिखने की इच्छा नहीं होती थी। उनके २०-२१ वर्षों के सरसंघचालकत्व के कालखण्ड में उनके अपने हाथ से लिखे हुए पत्रों की संख्या १० के ऊपर नहीं होगी। मैंने उन्हें एक बार कहा था, 'पत्र लिखने की इतनी अनिच्छा होते हुए प्रत्येक परीक्षा में आप प्रथम श्रेणी में कैसे उत्तीर्ण होते थे?' इस पर उन्होंने कहा कि, 'पत्र-लेखन और परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर लिखना, ये दो अलग विषय हैं। उनमें बहुत फर्क है।' अपने हाथ से पत्र लिखने का अभ्यास न रहने के संदर्भ में तत्कालीन कार्यालय प्रमुख स्व. पांडुरंग पंत क्षीरसागर ने एक किस्सा बताया था। श्री बालासाहब सरकार्यवाह थे। अखिल भारतीय बैठक के पत्र पांडुरंग पंत तैयार करते थे और सरकार्यवाह हस्ताक्षर करते थे। ऐसे ही एक पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए बालासाहब को एक-अच्छी सी झरनी (फाउंटेन पेन) भेंट में दी गई थी। हस्ताक्षर करने के लिए बालासाहब ने झरनी खोली तब उसमें स्याही सूख चुकी थी। इसलिए उन्होंने पांडुरंग पंत से झरनी माँगी। पंत ने हँसते-हँसते कहा, 'प्रतिदिन कुछ लिखने पर स्याही सूखेगी नहीं। और ऐसा प्रसंग नहीं आएगा।' उस पर क्या लिखूँ?' यह प्रश्न पूछने पर पंत ने कहा, 'रामनाम लिखा करिए।' बालासाहब कहने लगे, 'बाबू ने मुझे संध्यावंदन करने को कहा, अब तुम राम-राम लिखने को कह रहे हो।' वहाँ बैठे हुए हम सभी लोग ठहाका मारकर हँस पड़े।

—'मैंने देखे प. पू. श्री बालासाहब देवरस' पुस्तक से।

लक्षणीय परिवर्तन

ईश्वर का अस्तित्व मानते हुए भी बालासाहब संध्यावंदन, स्तोत्रों का पाठ, आध्यात्मिक ग्रंथों का पठन, नित्य-नैमित्तिक कर्म आदि के संबंध में उदासीन थे। उनके

जीवन में इन सबका कोई स्थान नहीं था। इसीलिए उन्हें बुद्धिवादी माना जाता था। इस बात को स्वयं स्वीकारते हुए बालासाहब ने एक बार माननीय बाबूराव चौथाईवाले से कहा, 'मुझे संघ का कम्युनिस्ट कहते हैं।'।

'इसके प्रति अन्य अधिकारीगण का अत्यधिक विश्वास देखकर सरसंघचालक बनने के बाद उन्होंने 'स्नान के पश्चात् अगरबत्ती जलाकर गीता का एक अध्याय पढ़ना प्रारम्भ किया।'।

—बाबूराव चौथाईवाले (पाञ्चजन्य : ३०.७.९६)

परिवर्तन के अग्रदूत

श्री विजयकुमार लिखते हैं, 'बिल्कुल प्रारम्भ से ही संघ तथा डॉक्टर जी से जुड़े रहने के कारण श्री बालासाहब का संघ की कार्यपद्धति तथा कार्यक्रमों के क्रमिक विकास में बहुत योगदान रहा है। संघ का गणवेश, शाखाओं तथा संघ शिक्षा वर्गों के शारीरिक/बौद्धिक कार्यक्रम तथा उनमें समय-समय पर हुए आवश्यक परिवर्तनों के वे प्रत्यक्ष साक्षी हैं। गणगीत तथा समूहगान की पद्धति बालासाहब ने ही शुरू की। १९३७ में नगर कार्यवाह का दायित्व संभालने के बाद उन्होंने बहुत सरल एवं भावपूर्ण गीतों का चयन किया तथा सब स्वयंसेवकों को क्रमशः उन्हें याद कराया।

स्वयंसेवकों द्वारा उन गीतों के सामूहिक गायन से एक अद्भुत वातावरण बन गया। 'खड़ा हिमालय बता रहा है, डरो न आँधी पानी से' इस गीत को सुनकर तो दर्शक एवं श्रोता भी रोमांचित हो उठे।

इसी प्रकार शिविरों तथा प्रबुद्ध नागरिकों के कार्यक्रम में स्वयंसेवक एवं जनता से सीधा संवाद स्थापित करने के लिए श्री बालासाहब ने प्रश्नोत्तर कार्यक्रम शुरू किए। अब यह पद्धति भी क्रमशः नीचे तक पहुँच रही है। (पाञ्चजन्य : ३०.७.१९९६)

बालासाहब के प्रयास से 'प्रातःस्मरण' में अनेक देशभक्त नेताओं : बौद्ध, जैन, सिक्ख मत-प्रवर्तकों के नाम जोड़े गए। इस प्रकार भारत भक्ति स्तोत्र 'एकात्मता स्तोत्र' बन गया।

इस प्रकार कालानुरूप योग्य परिवर्तन करना और संघ की भूमिका अधिक व्यापक बनाने का प्रयास बालासाहब का सदैव रहा।

समाचार-पत्र योजना के सूत्रधार

समाचार-पत्रों का विश्व में महत्त्व और संघ के लिए इनकी अनिवार्यता को देखते हुए बालासाहब के प्रयास से जहाँ नागपुर से 'तरुण भारत' शुरू हुआ, वहाँ दिल्ली से भारतवर्ष (हिन्दी दैनिक) तथा 'ऑर्गनाइजर' (अंग्रेजी साप्ताहिक), लखनऊ से 'पाञ्चजन्य' (हिन्दी-साप्ताहिक) शुरू हुए। इतना ही नहीं, 'हिन्दुस्थान समाचार' नाम से न्यूज-एजेंसी का संचालन भी हुआ।

उनके ही काल में भारत में अनेक दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ ही नहीं हुई, यशस्वी रूप से संघ-विचार-प्रचार कर रही हैं।

आपत्काल की अग्नि-परीक्षा

श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने २६ जून १९७५ को देश में आपत्काल घोषित किया। ३० जून को बालासाहब बंदी बना लिए गए। उन्हें पुणे के यरवदा जेल में रखा गया। ४ जुलाई को

संघ पर प्रतिबंध लगा दिया गया। कार्यकर्ता भूमिगत हो गए। बालासाहब ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अधिनायकवादी इन्दिरा गाँधी का मान-मर्दन किया।

बाला साहब के परामर्श से सुदृढ़ योजना का सूत्रपात हुआ। संघ कार्यकेन्द्र मुम्बई हो गया। देश को चार-भागों में बाँट कर चार वरिष्ठ प्रचारकों को संघ-दायित्व सौंपा गया। बालासाहब के शब्दों में, 'उन्होंने एक सरसंघचालक को गिरफ्तार किया है, बाहर चार सरसंघचालक काम कर रहे हैं।' ये थे—

दक्षिण भारत में	:	माननीय यादवराव जोशी
पश्चिम भारत में	:	माननीय मोरोपंत पिंगले
उत्तर भारत में	:	माननीय रज्जू भैया
पूर्व भारत में	:	माननीय भाऊराव देवरस

इनके अतिरिक्त तीन अन्य अधिकारी नियुक्त हुए—

लोक सम्पर्क प्रमुख : माननीय मोरोपंत पिंगले तथा नानाजी देशमुख। नानाजी के बंदी बनाए जाने पर माननीय रवीन्द्र वर्मा की नियुक्ति हुई और उनके भी बंदी बनाए जाने पर यह कार्य माननीय दत्तोपंत ठेंगड़ी को सौंपा गया।

आंदोलन का दायित्व : माननीय माधवराव मुले

विरोधी नेताओं से सम्पर्क दायित्व : माननीय रामभाऊ गोडबोले

दूसरी ओर, विदेशों में प्रचार के लिए 'इंडियन फॉर डेमोक्रेसी (इंग्लैंड) तथा 'फोरम ऑफ इंडिया सोसाइटी इंटरनेशनल' (अमेरिका) में बनीं।

फलतः आपत्काल विरोध का कार्य सुचारू रूप से चला। १४.११.१९७५ को सत्याग्रह आरम्भ हुआ। एक लाख लोगों को कारावास हुआ, जिसमें अस्सी हजार सत्याग्रही संघ परिवार के थे।

संघ से प्रतिबंध उठाने के लिए बालासाहब ने प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी को दो-तीन पत्र भी लिखे। १८ जनवरी १९७७ को लोकसभा चुनाव की घोषणा के साथ नेतागण छोड़े गए। यह बालासाहब के नेतृत्व की महान् विजय थी।

आपत्काल के दौरान संघ के कार्य के संबंध में लिखते हुए 'दि इंडियन रिव्यू' पत्रिका के संपादक एम. सी. सुब्रह्मण्यम् ने लिखा, "आपत्काल के विरोध में जिन्होंने संघर्ष किया, उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उठकर दिखाई देता है, इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है। सत्याग्रह की योजना बनाना, भारत के पूरे भाग में सम्पर्क बनाये रखना, बिना किसी वाच्यता के आंदोलन के लिए धन एकत्रित करना, आंदोलन के विषय में पत्रक सर्वत्र व्यवस्थित रीति से पहुँचाना और दलभेद अथवा धर्मभेद को स्थान दिये बिना कारावास भोग रहे सत्याग्रहियों के परिवारों की आर्थिक सहायता करना, इस संबंध में उसने स्वामी विवेकानन्द के उद्गार सत्य कर दिखाये। स्वामीजी ने कहा था, 'देश में सामाजिक और राजनीतिक कार्य करने के लिए सर्वसंगपरित्यागी ऐसे संन्यासियों की आवश्यकता होती है।' आपत्काल के दौरान संघ के कार्यकर्ताओं के साथ कार्य करनेवाले विभिन्न दलों के सहकारी, इतना ही नहीं, तो उनसे शत्रुता रखनेवाले नेताओं ने भी संघ के लोगों के प्रति गौरव और आदर के उद्गार निकाले हैं।"

(डॉ. वि. रा. करन्दीकर : तीन सरसंघचालक: पृष्ठ ५६४)



आत्म-परिचय

मेरा परिचय ?

इस ७५ वर्षीय जीवन की रामकहानी !

लिखने बैठता हूँ और 'सिर को झुकाता हूँ तो आइना नजर आता है।' जीवन घटनाक्रम चलचित्र की भाँति स्पष्ट दिखाई देता है। सोचता हूँ, क्या छोड़ूँ, क्या लिखूँ। क्या भूलूँ, क्या याद करूँ।

हरियाणा का सोनीपत सृष्टि में मेरा अवतरण-स्थल बना। सोनीपत के महान् संत महात्मा जयकृंवर का आशीर्वाद फलीभूत हुआ। २५ अगस्त, १९२८ को मेरा जन्म हुआ।

पितामह थे मास्टर हरद्वारीलाल जी। सिब्बामल प्राइमरी स्कूल के प्राचार्य। पिता थे पूज्य ताराचंद जी। नगरपालिका, दिल्ली के एक वरिष्ठ अधिकारी, जिनकी धर्म-परायणता के कारण 'पालिका समाज' उन्हें 'पंडितजी' के नाम से जानता था, पहचानता था। वन्दनीय माता किशनदेई एक साध्वी और समर्पित गृहिणी थीं।

सन् १९३९ में परिवर्तन-चक्र घूमा। हम चाँदनी चौक का कूँचा नटवाँ छोड़कर स्वनिर्मित मकान प्रेमनगर (सब्जी मंडी, दिल्ली) में आए। रामजस स्कूल छूटा और बिड़ला स्कूल विद्या का मंदिर बना। सन् १९३९ में ही मैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का सदस्य बना। फलतः हृदय में देशभक्ति तथा हिन्दू होने का गौरव जाग्रत् हुआ। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लेने के कारण स्कूल से निकाल दिया गया। विद्यालय की प्रबन्ध-समिति ने मेरे कार्य को अपराध नहीं माना और २०-२१ दिन बाद बड़े सम्मान से स्कूल में पुनः प्रवेश मिल गया। अध्यापकों की नजर में मैं '१९४२ का हीरो' कहलाया। प्रभु की इच्छा नहीं थी कि मैं आगे पढ़ूँ। २२ सितम्बर, १९४३ को पिताश्री का गोलोकवास हो गया। 'चलती चक्की देख कर दिया कबीरा रोय'। कबीर रोये या नहीं, मुझे पता नहीं, पर मेरा परिवार रो पड़ा। मध्यवर्गीय परिवार की आय का स्रोत सूख गया था। येन-केन-प्रकारेण छह मास का अध्ययन पूर्ण कर दसवीं की परीक्षा दी। प्रथम श्रेणी में स्थान मिला।

अब पढ़ने की नहीं, कमाने की चिंता थी। एक दिन भी खाली रहना अभिशाप न बने इसलिए 'फीजोलोजी-प्रेक्टीकल' का पेपर शेष रहते हुए भी १८ मार्च, १९४४ को दिल्ली नगरपालिका में क्लर्क बन गया। नौकरी करते-करते हिन्दी साहित्य-सम्मेलन से मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर 'विशारद' की उपाधि से अलंकृत हुआ। दो बार पंजाब-विश्वविद्यालय की 'प्रभाकर' परीक्षा दी, पर १०० अंकों के छन्द-अलंकारों ने मेरे पुरुषार्थ को पानी पिला दिया। हाँ, सम्मेलन से

(१९६)

साहित्यरत्न प्रथम खंड अवश्य उत्तीर्ण कर लिया।

जीवन ने पुनः एक मोड़ लिया। दिल्ली के प्रसिद्ध पेठेवाले पल्ला-निवासी लाला सीताराम जी की ज्येष्ठ सुपुत्री सुश्री कौशल्यादेवी से २२ जून, १९४६ को विवाह हुआ। गृहस्थ-जीवन का आरम्भ हुआ। कौशल्या जी का मेरे जीवन में प्रवेश मेरे लिए शुभंकर सिद्ध हुआ। मेरी समृद्धि उनके पातिव्रत्य के पुण्य का प्रताप है।

जीवन ने एक अन्य मोड़ लिया। छह मास पश्चात् ही नगरपालिका की स्थायी नौकरी छोड़कर व्यवसाय की पाठशाला में प्रवेश किया। इसका द्वार खोला मेरे बहनोई स्वर्गीय लाला बैसाखीराम जी ने। उनकी दुकान 'न्यू स्टेशनरी हाउस, सब्जी मंडी, दिल्ली' मेरी प्रशिक्षणशाला बनी। एक वर्ष के प्रशिक्षण के पश्चात् ही मैंने अपना व्यवसाय शुरू कर दिया। 'बुक्स, स्टेशनरी तथा जनरल मर्चेन्ट' की दुकान से कुछ वर्षों बाद 'जनरल मर्चेन्ट' शब्द हटा, 'स्टेशनरी' भी लुप्त हुई। शेष रहा गई 'बुक्स'। बुक्स में भी बने प्रकाशक। 'प्रकाशन' ने जीवन-पथ आलोकित किया। चुपड़ी और दो-दो। माँ-भारती की सेवा की और अपने लेखन के प्रकाशन में सुविधा भी हुई। गुरुजनों का सान्निध्य भी मिला और बिन माँगे ज्ञान की दृष्टि भी।

लेखन शुरू किया 'तीन कहानियाँ' से। आज लिखना मेरा व्यसन बन चुका है। लेखन में चारों ओर मचला। संस्मरण की तीन पुस्तकों से शोध-प्रबन्धों का विषय बना। कहानी संग्रह 'मेरा रंग दे बसंती चोला' को कहानी शोध-प्रबन्ध में स्थान मिला। निबंधों द्वारा पाठकों में अध्ययन-मनन-चिंतन की छाप छोड़ी। '३६१ हिन्दी निबंध' (निबन्ध-सौरभ) लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। 'व्यावहारिक हिन्दी व्याकरण कोश' (तीन खंड) तथा 'वाक्य-वाक्यांश के लिए एक शब्द का कोश' लिख कर, सम्पादित कर व्याकरण-ध्वाजा फहराई। 'सुबोधक' के माध्यम से छात्र-छात्राओं की सेवा का अवसर मिला।

'मानस मंथन', 'वैदेही विवाह' तथा 'श्रीरामचरितमानस-भाष्य' (खंड १) लिखकर 'रामचरितमानस' की व्याख्या में एक नई सोच उत्पन्न की। 'हिन्दू धर्म-परिचय' लिखकर विशाल हिन्दू समाज की मान्यताओं, सिद्धांतों तथा जीवन-मूल्यों के सागर को गागर में भरने का प्रयास किया है।

'पं. दीनदयाल उपाध्याय : महाप्रस्थान' तथा 'लालबहादुर शास्त्री : महाभियान' लिखकर दोनों महापुरुषों की अन्तिम जीवन-यात्रा का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया। 'रंग-रंग हिन्दू मेरा परिचय' लिखकर हिन्दू जीवन-मूल्यों के संस्थापक तथा रक्षकों को श्रद्धांजलि अर्पित की।

लेखन के लिए मैं चिरऋणी हूँ स्वर्गीय श्री गणेश शर्मा शास्त्री का। उन्होंने कलम पकड़ कर लिखना सिखाया। लेख में संशोधन कर अध्ययन-चिंतन के लिए प्रेरित किया। आज तक जो पुष्प माँ-भारती की सेवा में अर्पित किए हैं, वे सभी गुरुवर गणेश जी को समर्पित हैं। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये।'।

जीवन के उत्थान में कुछ मित्रों का सच्चा सहयोग मिला। प्रसाद जी के शब्दों में कहूँ तो 'हृदय खोलकर मिलने वाले, बड़े भाग्य से मिलते हैं।' उनमें हैं, सर्वश्री गणेश शर्मा शास्त्री, बालकृष्ण कैला, मास्टर भरतसिंह, डॉ. यश गुलाटी, डॉ. रामलाल वर्मा, ओम्प्रकाश कौशिक, योगन्द्रपाल अग्रवाल, डॉ. लालचंद मंगल और वासुदेव शर्मा शास्त्री। इस जीवन में इन साथियों को विस्मरण कर पाना सम्भव नहीं।

मास्टर लक्ष्मीनारायण (शक्तिनगर, दिल्ली) ने जब महाराजा अग्रसेन की पावन भूमि खरीदकर उसे तीर्थ बनाने के लिए 'अग्रसेन इंजीनियरिंग एंड टेक्नीकल कॉलिज' की स्थापना की तो प्रथम पाँच सदस्यों-दानदाताओं में मुझे स्थान देकर कृतार्थ किया। इतना ही नहीं, लगभग बीस वर्ष तक मैं इस संस्था का कोषाध्यक्ष भी रहा हूँ।

दिल्ली के हिन्दी अध्यापकों में आत्मगौरव वर्धन निमित्त 'हिन्दी शिक्षक सम्मान' की। परिपाटी आरम्भ की साथ ही पुस्तकाकार रूप में उनकी सचित्र जीवनी छापकर उनके यश को स्थायित्व देने का प्रयास किया।

पिताश्री द्वारा बनवाई गई मेरी जन्मकुंडली में निष्कर्षतः कुछ बातें लिखी हैं। उसमें से एक बात यह भी लिखी है कि 'संतान-सुख नहीं मिलेगा।' परिणामतः पुत्रों के विद्रोह के कारण दो बार घर छोड़ना पड़ा—(१) २८ जनवरी १९९२ को ६४ वर्षीय आयु में केवल पाँच कपड़े लेकर (२) २८ अगस्त २००० को जीवन के ७३वें वर्ष-प्रवेश पर थोड़ा-सा सामान लेकर। बच्चों का विद्रोह मेरे भाग्य की नियति है, और 'न लुम्पति ललाटस्थामीश्वरोऽप्यक्षरावलिम्।' जब ललाट में लिखी गई लिपि को ईश्वर भी नहीं मिटा सकता तो फिर जो भाग्य में नहीं हैं। उसकी चिंता क्यों?

पहली बार १९९२ में जब घर छोड़ा था सहयोग देनेवाला कोई न था, किन्तु इस बार (सन् २००० में) भवन-त्याग के पश्चात् अकेला नहीं रहा। सुपुत्र अरुण गुप्त का परिवार था, और है।

२८ अगस्त २००० को दूसरी बार घर छोड़ने पर मन पुनः शांत हुआ। जिजीविषा तीव्र हुई। 'जीवेम शरदः शतम्' की कामना बलवती हुई। समय की मलहम ने पीड़ी के घावों को भर दिया। 'निबन्ध-सौरभ' का लेखन जो संतान 'टोरचर' से उत्पन्न मानसिक पीड़ा तथा ५ जून २००० को सर्वाइकल बोन फ्रैक्चर होने से शारीरिक कष्ट के कारण रुका पड़ा था, पूर्ण हुआ। वह वृहत्तर ग्रंथ का लेखन-प्रकाशन मेरे मन की स्वस्थता का कारण बना।

सुख-सहचर दुःख विदूषक, परिहासपूर्ण कर अभिनय।

सबकी विस्मृति के पट में, छिप बैठा था अब निर्भय॥

(प्रसाद)

विदूषक दुःख ने विदूषकी दिखाई। २८ फरवरी १९९० को परम सखा श्री गणेश शर्मा शास्त्री के देहावसान ने जीवन में रिक्तता पहले ही उत्पन्न कर दी तो ३० मई १९९३ को दूसरी परम

सखा प्रिय पत्नी कौशल्या जी भी छोड़कर चली गई। ५ अप्रैल १९९६ को श्री ओमप्रकाश कौशिक तथा ६ जून १९९७ को डॉ. रामलाल वर्मा ने भी साथ छोड़ दिया।

वार्द्धक्य के प्रभाव से शारीरिक शक्ति क्षीण होने के कारण तन को अनेक रोगों ने ग्रसना शुरू कर दिया है। उपचार द्वारा स्वास्थ्य-लाभ की भी एक सीमा है। शेष तो मनोबल से शारीरिक रोगों को परास्त करने की स्थिति है। फिर भी प्रसाद जी के मनु की तरह अनुभव करता हूँ— *‘संगीत मनोहर उठता, मुरली बजती जीवन की।’* मेरी आत्मा उस परमात्मा का आभार स्वीकार करते हुए महादेवी के शब्दों में कहती है—

‘उस असीम का सुन्दर मंदिर, मेरा लघुतम जीवन रे।’

—तनसुखराम गुप्त

हिन्दू धर्म परिचय

—तनसुखराम गुप्त

परमपूज्य श्री रज्जू भैया का आशीर्वाद—

‘मा. तनसुखराम गुप्त जी को अच्छी पुस्तक
लिखने के लिए बधाइयाँ।’

पाञ्चजन्य (साप्ताहिक) के विचार में—

हिन्दुत्व के गहन अध्येता श्री तनसुखराम गुप्त ने ‘हिन्दू धर्म परिचय’ पुस्तक के माध्यम से उन सभी बातों को सरल, सुबोध ढंग से समझाया है जो हिन्दू धर्म व जीवन-पद्धति से जुड़ी हैं। १९५ पृष्ठों की पुस्तक ‘गागर में सागर’ को चरितार्थ करती है।

‘हिन्दू धर्म परिचय’ हिन्दू धर्म और हिन्दुत्व के संदर्भ में प्रचलित भ्रांत धारणाओं, मान्यताओं और विचारों का खण्डन कर धर्म का सत्य स्वरूप प्रस्तुत करती है। हिन्दू-संस्कृति की विशेषताओं को उजागर करते हुए हमें हमारे जीवन-मूल्यों से संस्कारित करने का प्रयास भी इस पुस्तक में किया गया है। आधुनिकता की होड़ में आज स्वयं हिन्दू अपने वेदों, पुराणों, दर्शन, उपनिषदों की बात तो दूर अपने पर्वों को भी भूलते जा रहे हैं। हिन्दू संस्कृति में पर्वों का कितना महत्त्व है और किस प्रकार ये पर्व एकरस जीवन में रस घोल देते हैं, लेखक ने इसका वर्णन करते हुए १५ प्रमुख भारतीय पर्वों की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

मूल्य : ७५/- मात्र

B-1610

